श्रीश्रीराधागोविन्ददेवौ विजयेताम्

श्रुतिस्तुतिव्याख्या

कामगायत्री-व्याख्या, श्रीराधारससुधानिधि समन्विता

श्रील प्रबोधानन्दसरस्वतिपादविरचिता

श्रीहरिदास शास्त्री

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रुतिस्तुतिव्याख्या

श्रीप्रबोधानन्दसरस्वतिविरचिता

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य्य,
काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क
वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा
सम्पादिता ।

प्रकाशक :—
श्रीहरिदास शास्त्री
चैतन्यसंस्कृति सेवासंस्था
श्रीहरिदास निवास, कालीदह,
पो०—वृन्दावन, जिला—मथुरा (उ० प्र०)
पिन—२८११२१

प्रकाशनतिथि—१।६।८४

द्वितीय-संस्करण—१०००

प्रकाशन सहायता—२०.००

मुद्रक :—

श्रीहरिदास शास्त्री

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,

श्रीहरिदास निवास, कालीदह, पो० वृन्दावन ।

जिला-मथुरा (उत्तर प्रदेश)

पिन—२८११२१

श्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्
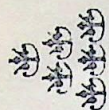
श्रुतिस्तुति-व्याख्या
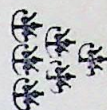
(कामगायत्री-व्याख्या
श्रीराधारससुधानिधि समन्विता)

श्रीलप्रबोधानन्द सरस्वतिपाद विरचिता

साच

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन

न्याय-वैशेषिकशास्त्रि, न्यायाचार्य, काव्य, व्याकरण, सांख्य, मीमांसा वेदान्त, तर्क, तर्क, तर्क, वैष्णवदर्शनतीर्थ, विद्यारत्नाद्युपाध्यलंकृतेन

श्रीहरिदासशास्त्रिणा सम्पादिता ।

सद्ग्रन्थ प्रकाशक :—

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस

श्रीहरिदास निवास, कालीदह

वृन्दावन (मथुरा)

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

विज्ञप्ति:

परमकरुण श्रीश्रीगौरसुन्दर की असीम अनुकम्पा से **श्रुति स्तुति व्याख्या** नामक अनुपम ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, इसमें श्रीभागवतस्थ १०।८७ अध्याय मात्र सन्निविष्ट है। अन्वय श्रीसनातन गोस्वामी कृत संक्षेप व्याख्या, अनुवाद, श्रुति समन्वय प्रभृति विषय सुविशद रूप से प्रदर्शित हुये हैं।

श्रीपाद परिव्राजक चूड़ामणि, वेदान्त, तर्क सांख्य, वैशेषिक, पातञ्जल मीमांसा, निगम, महापुराण, सेतिहास, पञ्चरात्र, अलङ्कार, काव्य एवं नाटकादि के रहस्यमय सिद्धान्त को अनर्गल वक्तृता के द्वारा असंख्य काशीवासी संन्यासी शिष्यों के अन्त:करण में उद्भासित किये थे, श्रीश्रीराधाभाव कान्ति सम्बलित स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की कृपादृष्टि से ही श्रीगौर राधाकृष्ण एवं वृन्दावन के यथार्थ सिद्धान्त समूह जिनके हृदय में स्फुरित हुये थे, वह परम महानुभाव **श्रीश्री प्रबोधानन्द सरस्वती** पाद ही प्रस्तुत श्रुति स्तुति व्याख्या ग्रन्थ के रचयिता हैं, इस श्रुति रूपा गोपी एवं शुद्ध भावमयी गोपियों का बोधन प्रकार, श्रीराधारससुधानिधि ग्रन्थ की भाँति इसमें श्रीराधा का समुत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है, उपक्रम में—**श्रीराधाकान्त मधुर प्रेमोद्भूत्यै श्रुतिस्तुतिम्** व्याख्याति बहुयत्नेन प्रबोधस्तज्जुषां मुदे" उपसंहार में—

श्रीकृष्णरसरहस्यं परमं ये बुभुत्सते।
ते मत्कृतां श्रुतिस्तुतिव्याख्यां विलोकन्ताम्॥

परिचय—कलियुग पावन महावतार श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के श्रीचरणाश्रित षष्टि सहस्र यतीन्द्रवृन्द के गुरु एवं अध्यापक रूप में श्रीश्रीसरस्वती चरण भारत भूमि में अवतीर्ण हुए थे, आप मुक्ति क्षेत्र काशीधाम में ही निवास करते थे, "काशीवासीनपि न गणये" इत्यादि

श्रीचैतन्य चन्द्रामृत के (६६) श्लोक में एवं उक्त ग्रन्थ की टीका में उनका काशीवास सिद्ध होता है। आप मायावादी संन्यासी थे, इसका विवरण, श्रीवृन्दावन महिमामृत के अनेक स्थल में एवं श्रीराधारससुधानिधि के अन्तिम २७२ श्लोक **स जयति** गौर पयोधि र्मायावादार्कताप सन्तप्तम्। हृन्नभउदशीतलयद्यो राधारससुधानिधिना से प्रकट होता है। श्रीमन् महाप्रभु के नवद्वीप में अवस्थान के समय आप काशी में वेद--वेदान्तादि शास्त्र की अध्यापना करते थे, **श्रीचैतन्य भागवत्** मध्य खण्ड २० अध्याय में वर्णित है—

संन्यासी प्रकाशानन्द वसये काशीते 'एवं' पड़ाये वेदान्त मोर विग्रह ना माने। तृतीय अध्याय में **काशीते पड़ाय बेटा परकाशानन्द।** एवं **व्याख्यानये वेद मोर विग्रह ना माने॥**

इत्यादि **श्रीचैतन्य चरितामृत** के आदि ७ में परिच्छेद में श्रीगौराङ्गदेव के साथ मिलन वर्णना है—"प्रकाशानन्दनामे सर्व संन्यासी प्रधान" मध्य के २५ परिच्छेद में श्रीमन् महाप्रभु के साथ मिलन एवं कृष्ण कथा की विस्तृत वर्णना है, किन्तु आदि के दशम में श्रीचैतन्य शाखा वर्णन में मध्य के प्रथम एवं ९ में श्रीरङ्गक्षेत्र में चातुर्मास्य के समय श्रीमन् महाप्रभु के अवस्थान समय इनकी चर्च्चा नहीं है, मध्य १७ परिच्छेद में भी आपका काशीवास, मायावाद से वेदान्त चर्च्चा की कथा वर्णित है।

प्रकाशानन्द श्रीपाद सभाते वसिया।
वेदान्त पड़ान बहु शिष्यगण लञा।
प्रभु कहे मायावादी कृष्ण अपराधी॥

श्रीचैतन्य भागवत एवं श्रीचैतन्य चरितामृत में सर्वत्र प्रकाशानन्द नाम का ही उल्लेख है, किन्तु प्रबोधानन्द नाम का निर्देश नहीं है।

श्रीकृष्णदास (लालदास) रचित भक्तमाल की तृतीय माला में वर्णित है कि व्रज की तुङ्गविद्या ही प्रबोधानन्द सरस्वती हैं एवं **श्रीचैतन्य चन्द्रामृतम् श्रीराधारससुधानिधि, श्रीवृन्दावन महिमामृतम्, श्रीसङ्गीत माधवम्,**

श्रीरास प्रबन्धः श्रीश्रुति स्तुति व्याख्या, श्रीगीत गोविन्द व्याख्या श्रीगोपाल तापनी व्याख्या, कामगायत्री व्याख्या आदि ग्रन्थ प्रणेता हैं। द्वाविंश माला में वर्णित है—आप मायावादी काशीवासी संन्यासी, नीलाचल में श्रीमन् महाप्रभु के समीप में शिक्षार्थ दो श्लोक भेजे थे, काशी में आपके साथ प्रभु का विचार हुआ था, प्रभु ने आपको वैष्णवीकरण के अनन्तर प्रबोधानन्द नाम प्रदान किया।

प्रकाशानन्द सरस्वती नाम ताँरछिल। प्रभुह प्रबोधानन्द बलिया राखिल॥

अतः षड्विंश माला में वर्णित है, आपने श्रीचैतन्य चन्द्रामृतादि ग्रन्थ की रचना की है, इससे ही प्रकाशानन्द का महाप्रभु प्रदत्त नाम प्रबोधानन्द जाना जाता है।

श्रीगौरगणोद्देश में वर्णित है—

तुङ्गविद्या व्रजे यासीत् सर्वशास्त्र विशारदा।
सा प्रबोधानन्द यति गौरोद्गानसरस्वती॥

इस ग्रन्थ में प्रकाशानन्द का नामोल्लेख नहीं है।

श्रीराधाकृष्ण गणोद्देश ग्रन्थ में उक्त है—

पञ्चमी तुङ्गविद्या स्याज्ज्यायसी पञ्चभिर्दिनैः।
चन्द्र चन्दन भूयिष्ठा कुंकुम द्युति शालिनी।
पाण्डु मण्डल वस्त्रेयं दक्षिणप्रखरोदिता॥

उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में दक्षिणा प्रखरा नायिका माननिर्बन्धासह नायक भेद्या एवं लघु प्रखरा वर्णित है।

श्रील मुरारी गुप्त कृत कड़चा ग्रन्थ में, श्रीचैतन्य चरित महाकाव्य में त्रिमल्लभट्ट के गृह में श्रीमन् महाप्रभु की चातुर्मास्य के समय अवस्थिति की कथा वर्णित है, किन्तु प्रबोधानन्द का विषय उल्लेख नहीं है, अद्वैत प्रकाश (७७ पृः) में काशी में प्रबोधानन्द के साथ मिलन वृत्तान्त वर्णित है—प्रबोधानन्द गोसाञि वन्दिव यतने ये करिला महाप्रभुर गुणेर वर्णने। अन्य प्रकाशानन्द अथवा प्रबोधानन्द का उल्लेख नहीं है, वैष्णवाभिधान में भी, 'रूपो जीवः श्रीप्रबोधानन्दः' उल्लेख है, श्रील नरहरिदास कृत सपार्षद गौराङ्ग वन्दना में उक्त है।

ओहे श्रीप्रबोधानन्द निवेदि तोमारे ।
गौर गुणेते बारेक माताह आमारे ।।

अन्य प्रकाशानन्द अथवा प्रबोधानन्द का उल्लेख नहीं है। इससे निरूपित होता है कि–काशीवासी प्रकाशानन्द एवं प्रबोधानन्द एक ही व्यक्ति हैं। किन्तु भक्ति रत्नाकर के ६ पृष्ठ में वर्णित है कि—

त्रिमल्ल वेङ्कट आर श्रीप्रबोधानन्द, ए तिन भ्रातार प्राणधन गौरचन्द्र ।
लक्ष्मीनारायण उपासक ए पूर्वेते, राधाकृष्ण रसे मत्त प्रभुर कृपाते ।।

९ पृष्ठ में—त्रिमल्ल वेङ्कट श्रीप्रबोधानन्द तिने विचारये प्रभु बिना रहिव कैमने। श्रीराधाकृष्ण गोस्वामि कृत साधन दीपिका २१४ पृष्ठ में लिखित है—

श्रीमत् प्रबोधानन्दस्य भ्रातुष्पुत्रं कृपालयम् ।
श्रीमद् गोपालभट्टं तं नौमि श्रीव्रजवासिनम् ।।

श्रीहरिभक्ति विलास में प्रबोधानन्दस्य शिष्यो भगवत् प्रियस्य लिखित है—यह श्रीप्रबोधानन्द श्रीरङ्गक्षेत्र निवासी रामानुजीय सम्प्रदायस्थ थे, श्रीमन् महाप्रभु के चातुर्मास्य के समय वहाँ पर अवस्थान के समय श्रीप्रबोधानन्द भी वहाँ पर विद्यमान थे, १५३२-३३ शकाब्दा में महाप्रभु के साथ श्रीरङ्गक्षेत्र में आपका साक्षात्कार हुआ था। आप ही श्रीगोपालभट्ट गोस्वामिजी के पितृव्य एवं गुरु हैं, यथा श्रीहरिभक्तिविलास में—"भक्त विलासां श्चिनुते प्रबोधानन्दस्य शिष्य भगवत् प्रियस्य।" प्रेम विलास के (१५२ पृष्ठ में) महाप्रभु चातुर्मास्य निर्वाह करने के पश्चात् श्रीगोपाल को वृन्दावन भेजने के लिए श्रीप्रबोधानन्द को आज्ञा प्रदान किये थे। उक्त है, इस ग्रन्थत्रय निर्देश से ज्ञात होता है कि यह प्रबोधानन्द—प्रकाशानन्द से भिन्न व्यक्ति हैं, अन्यथा तीन वर्ष पहले जो रङ्गक्षेत्र मे श्रीवैष्णव थे, एवं श्रीमन् महाप्रभु के विरह से अधीर हो गये थे, ठीक तीन वत्सर के बाद ही आप काशी से श्रीमन् महाप्रभु को तीव्र कटाक्ष करेंगे और पत्र भी भेजेंगे, यह सब बात सम्पूर्ण अयौक्तिक होती हैं, श्रीचैतन्य भागवत में वर्णित काशीवासी मायावादी संन्यासी के प्रति नवद्वीप में गृहस्थाश्रम में श्रीचैतन्य-देव ने आक्षेप किया कुछ दिन के बाद ही उनको श्रीरङ्गक्षेत्र में गृहस्थाश्रम

में पाया—यह सब ही बड़ी अद्भुत कथा होगी। अतः श्रीरङ्गक्षेत्रवासी एवं काशीवासी प्रबोधानन्द अवश्य ही व्यक्ति द्वय हैं, अन्यथा सिद्धान्त में असमाधेय समस्या उठखड़ी होगी। काशीवासी प्रकाशानन्द ही प्रस्तुत आलोचना का विषय है, आप ही श्रीचैतन्य चन्द्रामृत, श्रीराधारससुधानिधि, श्रीवृन्दावन महिमामृत, श्रीसङ्गीत माधव, आश्चर्य रास प्रबन्ध, श्रीश्रुति स्तुति व्याख्या, गीत गोविन्द व्याख्या, काम गायत्री व्याख्या, गोपाल तापनी व्याख्या. ग्रन्थ समूह के रचयिता हैं।

❀ तदीय ग्रन्थावली ❀

श्रीचैतन्य चन्द्रामृत—श्रीमन् महाप्रभु के अवतार महिमा सम्बन्ध में शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार परिपूरित प्रौढ़िवादमय कोष काव्य है, इसमें द्वादश विभाग है, क्रमशः श्रीगौरसुन्दर की स्तुति-प्रणाम जगत् के प्रति आशीर्वाद, श्रीगौर भक्त महिमा, श्रीगौर अभक्त की निन्दा, दैन्य रूप निज निन्दा, स्वनिष्ठा, लोक शिक्षा, श्रीगौरोत्कर्ष, अवतार महिमा, रूपोल्लास नृत्यादि एवं शोचक प्रकार है, इस ग्रन्थ में तदीय एकान्त गौर भक्ति एवं गौर निष्ठा की कथा स्वयं ही स्थल-स्थल में प्रकाश किये हैं।

अप्यगण्य महापुण्यमनन्य शरणं हरेः।
अनुपासितचैतन्यमधन्यं मन्यते मतिः॥
एवं-कोऽयं देवः कनककदलीगर्भगौराङ्गयष्टि।
श्चेतोऽकस्मान्मम निजपदेगाढ़युक्तञ्चकार॥

इस प्रकार आपने इस ग्रन्थ के स्वोपास्य निष्ठा प्रकरण में एवं अन्यत्र अनेक स्थल में निज एकान्त निष्ठा का प्रकाश किया है, किसी के मत में श्रीप्रबोधानन्द की भाँति एकान्त गौर भक्त के लिए श्रीभगवान् के ऊपर आविर्भाव श्रीकृष्ण स्वरूप में उपास्यत्व कल्पना असम्भव एवं तद्धाम 'परपद नवद्वीप' व्यतीत अन्य धाम में श्रद्धा स्थापन भी सम्भव नहीं है, कारण निष्ठा की हानि होती है, यह उक्ति साधारणतः युक्ति विरुद्ध न होने पर भी मनोयोग प्रदान करने पर सहजतः प्रतीति होगी की श्रीगौरतत्त्व एवं श्रीराधागोविन्द तत्त्व एकान्त एक ही तत्त्व है। श्रीनाथ एवं जानकीनाथ में

जो अभेदतत्त्व है, यह तदपेक्षा भी सूक्ष्मतम अभेदत्व का विषय है, श्रीनाथ-जानकीनाथ में तत्त्वत: अभेदत्व इसकी भाँति सुस्पष्ट नहीं है, भेद वैशिष्ट्य भी अनेक प्रकारों से सूचित हो सकता है, किन्तु तद्द्वयञ्चैक्यमाप्तं राधाभावद्युति सुवलितं नौमि कृष्ण स्वरूपम्'' इस तात्त्विक विनिर्णय द्वारा भेद में भी अभेदत्व संसूचित हुआ है, वह इतना सूक्ष्म रहस्यपूर्ण अद्वय भाव सूचक, संपरिष्वक्त रूप में स ह एतावानास, यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ वाह्यं किञ्चन न वेद न चान्तरम् (वृहदारण्यक में) प्रतिभात है कि तत् सामयिक एवं तत् परवर्त्ती प्रधान निष्ठावान् महाजनगण इन दोनों आविर्भाव की अत्यन्त चमत्कारित्वमय एकत्व मानकर ध्यान, मनन, निदिध्यासन पूर्वक एकैकत्व रूप में ही उपासना किये हैं—श्रीग्रन्थकार ने भी स्वयं ही इस भाव से ही उपासना की है—एकीभूतं वपुरवतु वो राधया माधवस्य १३'' श्रीचैतन्य चन्द्रोदय नाटक में श्रील कवि कर्णपूर गोस्वामि महोदय ने भी पुन:-पुन: इस कथा का उल्लेख किया है, प्रथमाङ्क में—राधाकृष्णाख्यलीलामय खगमियुनं भिन्न भावेन हीनम् ।

द्वितीयाङ्क में-अस्माद् विभोर्वहिरुपेत्यमहोऽतिनील ।
मन्तर्ममाविशदहो क्षणत स्तिरोऽभूत् ॥
तेनाति दुःखितमना वहिरात्तदृष्टिः ।
पश्यामि तत् पुनरिहैव निमग्नमासीत् ॥

तृतीयाङ्क में-हरिरयमथ लीलया स्वशक्त्या द्विदलायुगात्म कलायवन्न भिन्न इत्यादि श्लोक समूह के तात्पर्य द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि सुप्राचीन काल से ही श्रीगौरकृष्ण आविर्भाव द्वय ही एकैकत्व रूप में आदृत एवं उपासित होते आ रहे हैं ।

अपरन्तु—मानवीय चित्त वृत्ति की एक प्रधान विशिष्टता यह है कि उसमें प्रथमत: जब कोई एक भाव प्रकटित होकर चित्त वृत्ति को तन्निष्ठ कर देता है, तब वह अपर कहीं पर अवस्थान कर नहीं सकता है, इस प्रकार किसी भी देवता के विषय में मानसिक निष्ठावृत्ति का सञ्चार होता है, तब वह देवता ही चूड़ान्त भजनीय वस्तु रूप में गृहीत होता है। मानवीय चित्त वृत्ति का यह भाव अति प्राचीन काल से ही परिलक्षित होता

है. ऋग्वेद की वेद स्तुति में वैदिक ऋषिगण, विष्णु वायु, वरुण, इन्द्र, अग्नि प्रभृति प्रत्येक देवता को अपरापर देवता की स्तव माला से विभूषित किये हैं. श्रीप्रबोधानन्द चरण भी जब श्रीगौराङ्गदेव की कृपा से अपने को आप्लुत किये थे, तब उनका चित्त श्रीगौराङ्ग की भक्तिरस मधुरिमा से ऐसा प्रबल रूप से अभिभूत एवं सम्मोहित हो गया कि तब श्रीगौराङ्ग सुन्दर के अपर प्राचीन आविर्भाव के प्रति उनकी चित्त वृत्ति की उस प्रकार आसक्ति ही नहीं रही। यहाँ तक कि अनन्त सौन्दर्य माधुर्य लीलाविहारी श्रीश्रीराधा-मदनगोपाल विग्रह के प्रति भी तादृश भजनासक्ति नहीं रही, विशेषतः स्वयं त्रिभुवनानन्द-श्रीश्रीगौर चन्द्रमा परम भजनीय रूप में उनके नेत्र गोचर में प्रतिनियत साक्षात् दर्शन के विषय रूप में एवं अदर्शन में प्रगाढ़ ध्यान मननादि के विषय रूप में प्रतिष्ठित होकर रह गये। तब उनके हृदय में गौर एवं कृष्ण यह उभय आविर्भाव हेतु तत्त्व विचार को स्पृहा का स्थान भी नहीं रहा, आप श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के नाम, गुण, रूप लीला प्रभृति में एकनिष्ठ भाव से ही निमग्न होगये, श्रीचैतन्य चन्द्रामृत ग्रन्थ विरचन भी इस शुभ समय का ही एकमात्र अमृतमय फल है।

विशेष कथा यह है कि—इस प्रबलतम गौर निष्ठा के मध्य में भी समय-समय पर भी उनके चित्त में राधापदाम्भोज सुधाम्बुराशि (८८) अकस्मात् विद्युत की भाँति झलक जाता. अतः समय-समय पर हृदय में श्रीराधापदनख मणि ज्योति उदय कराने के लिए आपने प्रार्थना की है, आपने यह भी सम्यक् रूप से **उपलब्धि की है कि-प्रेम महिमा, नाम माधुरी श्रीवृन्दावन माधुरी में प्रवेशाधिकार एवं परमरस चमत्कार मधुर्यसीमा श्रीराधातत्त्व प्रभृति, श्रीश्रीगौर कृपा से लभ्य है।** (१३०) श्रीराधिकाकृष्ण तत्त्व एवं श्रीगौर तत्त्व में एकान्त अभेदत्व रहने पर भी नाम वैशिष्ट्य (५३) लीला वैशिष्ट्य (७७-७८) परिकर वैशिष्ट्य (११९) स्वरूप वैशिष्ट्य (१३) एवं धाम वैशिष्ट्य (१) प्रभृति को सुधी महाजन गण विभिन्न भाव एवं अनेक छन्दों से लिपिबद्ध किये हैं, और एक परम रहस्य यह है कि श्रीसरस्वती पाद ने सर्वत्र एकान्त निष्ठा का ही प्रचार किया है। श्रीचन्द्रामृत में श्रीगौराङ्ग निष्ठा, श्रीराधा-रससुधानिधि में श्रीराधादास्य निष्ठा एवं वृन्दावन शतक में वृन्दावनवास

निष्ठा का गान अधिकतर सुस्पष्ट करके "स्थूणा निखनन न्याय से" पुनः-पुनः आपने किया है, इस प्रकार जब इनका चित्त श्रीवृन्दावन एवं श्रीवृन्दावन बिहारी के सौन्दर्य माधुर्य में निमग्न हो गया एवं श्रीवृन्दावन की यावतीय वस्तु ही वृक्ष वल्लरी, पशु पक्षी, प्रति धूलीकण उनके चित्त क्षेत्र में श्रीवृन्दावन विलासि परम मनोहर युगल के महा सौन्दर्य माधुर्य सूचक रूप से प्रतिभात हुआ तब ही श्रीवृन्दावन महिमामृत एवं श्रीराधारससुधानिधि प्रभृति ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।

(१) **श्रीश्रीवृन्दावन महिमामृत**—परम पूज्यपाद लोकातीत महामहिममय श्रीवृन्दावन सौन्दर्य माधुर्य के महाकवि श्रीमन् सरस्वतीपाद ने इस विपुल ग्रन्थ को एकशत खण्ड में पूर्ण किया है, सम्प्रति उसके सप्तदश शतक मात्र उपलब्ध है, प्रस्तुत ग्रन्थ भाषामाधुर्य, भावप्राचुर्य, वर्णना सौन्दर्य वस्तु वैभव कल्पना गौरव द्वारा पाठकगण के मनोमद एवं तृप्तिप्रद होकर जगद्वासी नर-नारी के लिए निरतिशय साधक हुआ है, इसमें वृन्दावन वर्णना अति चमकप्रद, अति सुन्दर, अति मधुर है। वृन्दावन—सर्वाधीशितुः जीवनवनं (१।१३) महानन्दैककन्द (१।२९) नहि कवीश्वर काव्य कोटि सम्भाव्यमान गुणगण-च्छटैका (१।३५) अपार रसखनि (२।३५) रवीन्दुहुताश विद्युत् कोटि प्रभा विस्तारकारी (१।३७) सहज वीत-समस्तदोषा (१।३९) सकल पावन-पावन (१।४१) विद्योतद्बीजराजात्मक (२।९१) श्रीराधा सुरतनाथ विशुद्ध भाव सत्रं (१-७१) चिदचिदखिलज्योतिराच्छादिकान्तिस्वच्छानन्तच्छवि रस सुधासीधु निस्यन्दी (३।३५) सर्वानन्दस्मृतिकर महाप्रेम सौख्यैरगाध (३।५) आजन्मञ्जुनिकुञ्ज पुञ्ज (३।६) कोटिमातृ परमस्निग्ध स्वभावा (४।८) विमलमनोभूबीज-चिज्ज्योतिरेकाब्ध्युदितसुरसदीप्तदीप (७।१) एवं नन्दित-कृष्णचन्द्र-निस्तन्द्रकन्दर्प विलासवृन्द (१४।१४) इत्यादि, वृन्दावन के वृक्ष (२।४-५) द्रुम, तरु, व्रतति इत्यादि नाम की सार्थकता (२।१२) व्रतति (३।२४) वृक्ष (३।२५-२८, ५-३५-३८, १०।७७-८३) पुष्पवृक्ष (३।००, १०३, ४।१०२-३) इत्यादि। वृन्दावनवासी चिदानन्दमय (१।६४, २।८, १७।४३, ४।८०, ८-८७, १०-७४, १२-११) वृन्दावनवासी अखिल गुरु २:५३)

वृन्दावनवासी के चरणरेणु ब्रह्मा रुद्रादि को पवित्र करते हैं। (५-२६) वृन्दावनवासी के निकट अपराध से तत्त्व की अस्फूर्त्ति (३।५१, १०।१२, १७।४५, ८३।८४) वृन्दावन में दृष्ट दोषराशि अवास्तव है, (१।११) वृन्दावन वासी के प्रति भक्ति (४।६२, १६।४६, ४६।५२) वृन्दावनवास हेतु सकल अधर्म ही धर्म है (१।५२, ४।६४, १७।४६) वृन्दावनवास कर अधर्माचरण (२।१५) वृन्दावनवासी की सेवा (१।७२-७४) वृन्दावनवास में असमर्थ होने पर कर्त्तव्य क्या है ? (१।७२, ७५, २।५०, ६।२६) वृन्दावन में आमृत्यु वास प्रतिज्ञा का फल (६।३५, ७।१०, २१, १७।२५) श्रीवृन्दावनाश्रित होकर श्रीराधाकृष्ण का भजन (५।४६, ५०) ऋण ग्रस्त होने पर अथवा अगति वृद्ध पिता-माता होने पर भी वृन्दावन गमन (१।६२, २७२) वृन्दावन में अनुराग (४।४३, १७-१०५, ११७-११८) वृन्दावन नाम की सार्थकता (१७।६५) व्रजवासीजन के भी अदृश्य अद्‌भूत स्वरूप का वृन्दावन (१७।६०) वृन्दावन गुणगान श्रीहरि को ऋणी बनाता है (४।५८, १।७७) वृन्दावन सम्मान का फल (१४।१७।१८) जिस किसी भाव से भी वृन्दावनवास का फल (१७।५७) वृन्दावन में किस रीति से वास करे (८।८२, ८३, १०, ३७, ३६, ४१, ५४, ४६ १२।६, ७१, ७६, ३७) वास निष्ठा (११।२८-४२, ६०, ६१, १४।२०) निष्ठा का अभाव से राधा करुणा का अभाव (१६।२, १४।४८, ६०, १७।६६) श्रीराधाकृष्ण के बहुविध प्रकाश (२।३५) आत्मतत्त्व (३।६०, ४।६२, ७।२८, ३१, १३।३३, १४।४७, १७, १०४) सखीगण की सेवा (२।४१-४३, ६०, ६।७४, ७७, ८।१८६) श्रीराधाकृष्ण (७।८१-८६, ६।६८, १०।२६, ३२, ११।४६, १२। ६६, १६-३०) विरहासहिष्णु राधाकृष्ण (२।६५, ३-६४, ६।६, ६।३५) राधा-विरहासहिष्णु (२।१३) कामैकरस मग्न (१०।१७) प्रणय कीलित कृष्ण (१०।३८) श्याम पुंस्कोकिल (१२।३३) कीर (१२-३४) तरु (१२।३५) मधुप (१२।५३) कलहंस (१३-१६) वधुवर (१४-७६) अनन्त भाव से अनन्त विग्रह से विहार (१४-४४, ४५) यमुना (३।६३-७४, १०४) राधाश्याम कुण्ड (५।११-१४) व्यस्त रूपा एवं समस्त रूपा श्रीराधा (११-१८) श्रीराधा वर्णना (४।४-१७, ५।८, ७।६०, १०२, ८।१-१६, ८।६७-८०, १०।८, ११।१६-३१ राधानाम एवं मन्त्र (१५।१७-७६ निज गुरुमूर्त्ति (८।२२-४२, १०।८६-६५)

स्त्रीरूपा हरिमाया (५।६४, ६९, ८।४५, ४७, ६६, ९।९५, १३।४३, ५५, ५६, ८९) देवमाया स्त्री (८।४९) स्त्री राक्षसी (८।५०, १०।५४) दुःख-सुख, कीर्त्ति अपकीर्त्ति इत्यादि (११३०-४८) व्रज, वृन्दावन, राधाकुण्ड का क्रमोत्कर्ष (५।८)।

निष्कर्ष-(१) यह शतक सार्वजनीन ग्रन्थ है, दल सम्प्रदाय सङ्कीर्णवाद इन्द्रिय लोलुपवाद की सीमा रूप दोष शून्य है। श्रीसरस्वती पाद के निर्दिष्ट पथ पर चलकर दैन्य विषय वैराग्य के साथ श्रीहरि नाम ग्रहण रूप चिन्तन इत्यादि करते रहने पर निष्कपट व्यक्ति की चित्तशुद्धि होती है, अनन्तर श्रीवृन्दावन, श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं स्वकीय सिद्धदेह तत्त्व का स्फुरण होगा, केवल इस रीति से ही रागानुगीय भजन पथ परिष्कृत होगा।

इससे ग्राम्य रति क्रीड़ा का वर्णन नहीं है, ममत्व, प्रीति आसक्ति सेवा, तन्मयता, विषय वैराग्य प्रभृति उत्तमा भक्ति का स्वरूप वर्णित है, अतएव साहित्य रीति से रस सम्पादन के लिए लीला विलास एवं सम्प्रयोग लीला आवेश से वर्णित है, गोविन्द लीलामृत, कृष्ण भावनामृत निकुञ्ज रहस्य स्तव की भाँति लीला विशेष में आवेश देखने में आता है।

(३) श्रीसरस्वती पाद ने संयोग वियोगात्मक सरणि का निर्वाह यथायथ करने पर भी ह्रदवत् लीला का वर्णन अत्यधिक किया है, वस्तुतः स्रोतवत् एवं ह्रदवत् लीला ही आस्वाद्य हैं, उभय ही उपास्य हैं, येनेष्टं तेन गम्यतां रुचिभेद से दोनों ही श्रेष्ठ हैं।

(४) स्थल-स्थल में 'दम्पति' प्रभृति शब्द स्वकीया भाव का निर्देशक है, इस प्रकार आपाततः धारणा होने पर भी यह शब्द परकीया भाव का व्यतिक्रम की सूचना नहीं करता है। श्रीमन् महाप्रभु के मत में व्रजभक्ति में ममत्व आसक्ति अहेतुक तृष्णा का प्राधान्य होने के कारण लौकिक धर्म सम्बन्ध काम भोगार्थ पुत्र उत्पादनार्थ जाया पति सम्बन्ध की सम्भावना नहीं है, जन्मतः ही दोनों की आसक्ति है, विवाह के द्वारा नहीं। इसका समाधान विषय में जिज्ञासा होने पर उज्ज्वल नीलमणि की टीका में श्रील विश्वनाथ की उक्ति द्रष्टव्य है। नायक भेद प्रकरण में लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं

एवं नायिका भेद प्रकरण में पोषित भर्त्तृका नायिका लक्षण की टीका एवं अत्रैव परमोत्कर्ष, इसमें श्रीजीव गोस्वामी की टीका द्रष्टव्य है।

(५) अजात तादृश रुचि के साधक रागानुगा भजनानुसरण वैधी सम्बलित भाव से ही करे, पौरुषविकार युक्त इन्द्रिय एवं विरुद्ध भावाक्रान्त चित्त से श्रीराधाकृष्ण की मधुर लीला का स्मरण श्रवण न करे, यह अत्यन्त दुरूह एवं रहस्यपूर्ण है। यह मत श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीजीव गोस्वामी का है, व्रजभक्ति परम दुर्ल्लभ होने के कारण अधिकारी भी विरल है, पक्षान्तर में जातरुचि साधक किस रीति से रागानुगीय भजनानुष्ठान करेगा उसका ही उन्नत उज्ज्वल आदर्श का प्रदर्शन ज्वलन्त अक्षर में जीवन्त भाव से श्रीसरस्वती पाद ने किया है। आपके अक्षर-अक्षर में वैद्युतिक शक्ति निहित है, आप अग्नि मन्त्र में दीक्षित थे।

श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती चरण स्वीय असाधारण प्रतिभा शक्ति के साथ भारत भूमि में अवतीर्ण हुए थे, जब आप निर्गुण ब्रह्मोपासक थे, उस समय वेदान्तशास्त्र चर्चा में इस प्रकार आपका पाण्डित्य प्रतिभा प्रभाव परिलक्षित हुआ था, जिससे अनेकानेक संन्यासी काशी धाम में तदीय चरणों में आत्म समर्पण कर शिष्य हुए थे. उस समय उनके समान तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न परम ज्ञानी संन्यासी कोई भी नहीं था। जब आप श्रीगौराङ्ग महाप्रभु की कृपाभिषिक्त होकर उत्तमा भक्ति राज्य में प्रविष्ट हुए, तब गौर प्रेम रसार्णव की उत्तालतरङ्ग में आपने स्वयं को डुबा दिया और इस प्रकार निष्ठावान् भक्त हो गये कि श्रीचैतन्य चरण को छोड़कर अन्य कोई उपास्य है इसकी अनुभूति ही आपकी नहीं रही। जब आप श्रीगौराङ्ग सुन्दर की कृपा से निर्मल भक्ति रूप व्रजरस में प्रविष्ट हुए तो आपके जीवन में एक अद्भुत परिवर्त्तन दृष्ट होने लगा, जिन्होंने एक दिन निर्विशेष शुष्क ब्रह्मज्ञान मरुभूमि में अपने को अति कठोर पाषाण की भाँति नीरस किया था अनेक शिष्य को भी उस मार्ग में चलने के लिए प्रवृत्त भी किया था, वह शुष्क निर्विशेष ब्रह्मज्ञानीवादी मुक्ति कामी संन्यासी श्रीवृन्दावन में प्रविष्ट होकर श्रीश्रीगौराङ्ग सुन्दर की कृपा से उनके व्रजरस माधुरीमय आविर्भाव में निज

चित्त को डुबाकर एक अत्यद्भुत सौन्दर्य माधुर्य पूर्ण निर्दोष महाकाव्यरसमय परमधाम का साक्षात्कार प्राप्त किया, तब उस व्रजरसमय धाम के अनन्त सौन्दर्य माधुर्य का प्रभाव उनके हृदय में परिव्याप्त हो गया। श्रीवृन्दावन, श्रीराधाकृष्ण स्वतः ही निर्दोष अलौकिक काव्य हैं, इसकी वास्तविक अनुभूति हृदय में सहसा जग गई और उनकी भक्तिमयी काव्य प्रतिभा श्रीवृन्दावन के शोभा सौन्दर्य का आस्वादन में विभोर हो गई। अनन्त विस्तारित सागर तरङ्ग की भाँति तत् कृत 'वृन्दावन महिमामृत' वर्णन स्फूर्त्ति अफुरन्तवत् प्रतिभात होने लगी। श्रीवृन्दावन के बाहर स्थित सौन्दर्य माधुर्य अन्तर में प्रविष्ट होने पर मानव चित्त को प्रेम भक्ति भाव के कितना उच्चतर स्थान में उन्नति कर सकता है, इस ग्रन्थ में वह अतिसुन्दर एवं विस्तृत भाव से वर्णित हुआ है और साहित्यालङ्कार कामतन्त्र गन्धर्व विद्या सफल हो उठी हैं।

एक विषय का सुविस्तृत वर्णन उपस्थित होने पर उसमें पुनरुक्ति दोष सङ्घटन अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु भक्तिभाव विभावित चित्त होकर काव्य पारदर्शी पाठकगण जब इसको पढ़ेंगे तब अनुभव होगा कि—आपाततः द्विरुक्ति प्रतीत होने पर भी वह वास्तविक द्विरुक्ति नहीं है, उसमें सार्थकता एवं वैशिष्ट्य भी है, स्थूणानिखनन न्याय से किसी वस्तु को हृदय में दृढ़ता से संस्थापित करने के लिए इस प्रकार वाक्य भङ्गी से ही लिखना होता है। श्रीवृन्दावन रस माधुर्य लोलुप पाठकगण जितना अधिक इस ग्रन्थ की आवृत्ति करेंगे, उतना ही इसकी छन्दोबद्ध, वाक्य विन्यास, सर्वोपरि भक्ति रसाश्रित अन्तर्दृष्टि प्रगाढ़ वर्णना में एक महाचमत्कारित्व को देखकर अचिन्त्य तर्कैश्वर्य सम्बलित नित्य सौन्दर्य माधुर्यमय श्रीधाम के अप्राकृत रसास्वादन से निःसन्दिग्ध रूप से कृतार्थ हो जायेंगे।

विशेष प्रणिधान योग्य कथा यह है कि—इस ग्रन्थ के स्थान-स्थान पर दुराचारत्व दुष्कार्यत्व एवं जघन्य पापानुष्ठान प्रभृति के प्रति औदासीन्य प्रकट करके श्रीवृन्दावन की महिमा कीर्त्तित हुई है, इससे किसी भी व्यक्ति किसी भी समय ऐसी धारणा न करे, दूसरे को उपदेश दान न करे कि—वृन्दावन में अवस्थान के समय कुप्रवृत्ति एवं दुःस्वभाव वशतः पापानुष्ठान में

प्रवृत्त होने पर वह मार्जनीय होगा, एवं दुष्कर्म चिन्ता तथा निषिद्ध कर्मानुष्ठान से भी भगवद् भक्ति होगी। वस्तुत: इस प्रकार कुधारणा का प्रश्रय मन में देना भी एक महापाप है, वृन्दावन में वास करके भी यदि उसका चित्त अपर वस्तु की ओर धावित होता है एवं उसकी श्रीवृन्दावन वास की फलाशा भी बन्ध्या ही हो जाती है। श्रीग्रन्थकार स्वयं ही निज प्रौढ़िवाद के विरुद्ध में निज सुसिद्धान्त संस्थापन हेतु लिखते हैं—

परधन परदार द्वेष मात्सर्य लोभा-
नृत परुष पराभिद्रोह मिथ्याभिलापान्।
त्यजति य इह भक्तो राधिका प्राणनाथे,
न खलु भवति बन्ध्या तस्य वृन्दावनाशा ॥ (१७।४८)

अर्थात् परधन, परदार, द्वेष, मात्सर्य, लोभ, असत्य, कठोर व्यवहार, परद्रोह, मिथ्या सङ्कल्प प्रभृति परित्याग पूर्वक जो व्यक्ति श्रीवृन्दावन में निवास कर श्रीराधारमण के भक्त हो सकता है, वृन्दावनवास का फलस्वरूप श्रीराधादास्य लाभ की आशा कभी भी उसकी निष्फल नहीं होती है।

उपसंहार में अवश्य प्रयोजनीय वक्तव्य है कि-श्रीवृन्दावन महिमामृत की धारा—अष्टकालीन लीलास्मरण की स्रोतवत् धारा नहीं है, यह धारा विशेष रूप से—अनुराग की धारा है, जो धारा श्रीकृष्णकर्णामृत उत्कलिका बल्लरी, विलाप कुसुमाञ्जलि प्रभृति में प्रकटित है, माधुर्य कादम्बिनी प्रणेता के मत में आसक्ति भूमिका प्राप्त होने के बाद से साधक विधिवद्ध भाव से चल नहीं सकता, श्रीपाद श्रीजीव गोस्वामी ने लिखा है—

रुचि:, बुद्धि-पूर्विका, आसक्तिस्तु स्वारसिकी।

आसक्ति के पश्चात् भजन, स्वभाव में परिणत हो जाता है, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती पाद ने कपिलोपाख्यान की टीका में लिखा है कि—रागानुगीय साधक प्रथम से ही स्वत: प्रणोदित होकर भजन करता है, सुखपूर्वक आनन्द के साथ स्वभाव की प्रेरणा से ही प्रिय का भजन करता

है, किन्तु रोगी अथवा बालक को लड्डुक देकर औषधि ग्रहण में प्रवृत्त कराने का दृष्टान्त रागानुगीय साधक के सम्बन्ध में प्रयोज्य नहीं है, यथार्थ रागानुगीय साधक जगत् में अति विरल है, "रुचे विरलत्वात्" भक्ति सन्दर्भ। अतः श्रीपाद प्रबोधानन्द का निर्दिष्ट भजन विशेष भाव से अनुराग का भजन है। इसलिए ही इस भाव के आनुगत्य से भजन दृष्टान्त अति विरल है। गौड़ीय सम्प्रदाय में श्रीरूप गोस्वामी के आनुगत्य से ही भजन विधेय है, इस प्रकार श्रीरूप मञ्जरी के आनुगत्य से ही भजन प्रसिद्ध है। उज्ज्वल में लिखित है कि—श्रीललितादि वामाप्रखरा एवं तुङ्ग विद्यादि दक्षिणा प्रखरा है, श्रीसरस्वती पाद 'दक्षिणा' होने के कारण मान, वाम्य प्रभृति का पक्षपाती नहीं है। मिलन, अनुराग प्रभृति के विशेष पक्षपाती आप हैं। इसलिए शतकों का आवेश ह्रदवत् नित्य विहार के और नित्य निकुञ्ज मिलन के ओर है, श्रीगोविन्द लीलामृत की भाँति स्रोतवत् अष्टकालीन लीला के ओर नहीं है। सरल रूप से कहना पड़े तो—

श्रीसरस्वती पाद की भावधारा, भजन पद्धति में तीव्र अनुराग, तीव्र भजन, तीव्र वैराग्य, निरन्तर स्मरण, निरन्तर स्फूर्ति, निरन्तर आवेश एवं आत्महारा व्याकुलता प्रभृति की स्पष्ट ही उपलब्धि होती है, रसामृतोक्त सासङ्ग भजन—आसक्ति युक्त भजन जीवन सर्वस्व भजन न होने पर—तीव्र भक्तियोग न होने से—मृदु मन्थर भजन से किसी भी काल में फल लाभ की आशा नहीं की जाती है, वस्तुतः शतक समूह की रस तन्मयता, आनन्द विह्वलता एवं अनुरागोन्मादना सर्वथा आस्वाद्य एवं उपभोग्य है।

३। श्रीश्रीराधारससुधानिधिः—इस स्तोत्र काव्य ग्रन्थ में श्रीवृन्दावन महिमामृनवत् श्रीपाद ने श्रीराधा पादपद्म भजन निष्ठा, श्रीराधा उपासना का उत्कर्ष प्रभृति विषयों का अङ्कन अति सुनिपुण भाव से किया है, प्रथमत श्रीउज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ के उदाहरण रूप से ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है, एवं गन्धोन्मादितमाधवा भानुनन्दिनी के प्रथम गुण के

उदाहरण से ग्रन्थ आरम्भ होकर ग्रन्थान्त पर्यन्त लक्षण समूह के उदाहरण इसमें यथावत् सन्निविष्ट है, महाभाव स्वरूपिणी श्रीराधा का उत्कर्ष प्रदर्शन करना ही ग्रन्थ का तात्पर्य है।

इस ग्रन्थ की राधा—

प्रेमोल्लासैक सीमा परम रसचमत्कार वैचित्र्यसीमा।
सौन्दर्य्यैक सीमा किमपि नव वयोरूप लावण्य सीमा॥
लीलामाधुर्य्य सीमा निजजनपरमौदार्य्यवात्सल्यसीमा।
सा राधया सौख्य सीमा जयति रतिकला केलि माधुर्य्यसीमा॥१२१॥
एवं शुद्धप्रेमविलास वैभवनिधिः कैशोरशोभानिधि।
वैदग्धीमधुराङ्गभङ्गिमनिधि र्लावण्यसम्पन्निधिः॥
श्रीराधा जयतान्महारसनिधिः कन्दर्पलीलानिधिः।
सौन्दयैक सुधानिधिर्मधुपतेः स्वर्वस्वभूतो निधिः॥

इस प्रकार श्रीराधा के अङ्ग में कोटि विद्युत की छवि, मुख में विपुल आनन्द की छवि, ओष्ठ में नवविद्रुम की छवि, करों में सत् पल्लव की छवि स्तन मण्डल में स्वर्ण कमल कोरक की छवि (९९) श्रीराधा, लावण्यसार रससार, कृष्णचन्द्र के सुखक सार, कारुण्य सार मधुरच्छवि रूपसार, वैदग्ध्य सार, रतिकेलि विलास सार एवं अखिल सारात्सार हैं (२६) उनके भ्रू नर्त्तन में चातुरी, सुचारुनेत्राञ्चल में लीलाखेलन चातुरी, श्याम की भाँति चातुरी संकेत कुञ्ज में अतिसार चातुरी, नव नवायमान क्रीड़ा कला चातुरी एवं सखीगण सह परिहासोत्सव चातुरी सर्वोपरि विराजमान है (६४)।

इस ग्रन्थ में श्रीपाद ने कभी तो राधा को अभिसारिका रूप में (२०, २१, ३२, १५२) कभी तो प्रेमवैचित्त्य अवस्था में (४७,१२८) कभी उत्कण्ठिता रूप में (३८) कभी तो खण्डिता रूप में (२३१) वर्णन किया है, १७० श्लोक मे मान का भी इङ्गित आपने किया है, २१५ श्लोक में श्रीराधा के प्रेमवैचित्त्य भाव को देखकर स्वयं ही मूर्च्छित होकर पश्चात् अनुशोचना करेंगे कहने पर उनकी विच्छेद भीरुता एवं सेवात्रुटि का ही प्रकाश हुआ है, युगलकिशोर के विच्छेदाभास से भी वाह्य आभ्यन्तर में ज्वाला होती है, (१७४) श्रीराधा

माधव की शैशव क्रीड़ा के समय विवाहोत्सव सम्पादन करने की प्रार्थना आप करते हैं, सुधानिधि के कृष्ण धीर ललित हैं, श्रीराधा में ही अनन्य निष्ठ हैं, (२३६) वृन्दावन महिमामृत शतक (१५।७४-७६) वत् इस ग्रन्थ में श्रीराधा नाम का प्रभाव (९५-९६) एवं राधा दास्य लाभ का उपाय वर्णित है, रागोन्मत्ता श्रीराधा की (१५६-१६०) सेवा प्रार्थना। श्रीराधाकैङ्कर्य्य में निष्ठा (७८, १४३) एवं श्रीराधा उपासना का उत्कर्ष (१४४) का वर्णन आपने किया है, शतक (१७।१०६) की भाँति १० म श्लोक में कुट्टमित अलङ्कार का वर्णन किया है, सङ्गीत माधव (२।७) में भी इस भाव की वर्णना है, यह भाव आपका अति प्रिय है।

३—**श्रीसङ्गीत माधवम्-प्रथम सर्ग में** श्रीराधामाधव दर्शनेच्छु सखी द्वारा वृन्दावन की स्तुति, दास्य लुब्धा मृगनयना का सखीगण द्वारा गीतकृष्ण स्तुति श्रवण से गोविन्द चरण की स्मृति तत्पश्चात् श्रीकृष्ण सङ्गीत में प्रवृत्ति एवं स्फूर्त्ति की प्रार्थना **द्वितीय सर्ग में** निजेश्वरी सखी को सम्मुख में देखकर प्रणामानन्तर युगल किशोर विषयक प्रश्न एवं सखियों के गान से युगल की वृन्दावन विहार वर्णना एवं प्रियतम युगल विलास देखना हो तो श्रीराधा पदारविन्द स्मरण का उपदेश, तत्पश्चात् श्रीराधा ध्यान एवं स्फूर्त्ति प्रार्थना **तृतीय सर्ग में** राधा सखीगण द्वारा मिलन माधुरी प्रदर्शन दर्शन से प्रेम सागर में निमग्न चित्त होकर गद्‌गद् वाक्य से श्रीराधा के समीप में दास्य प्रार्थना द्वारा आलिङ्गित होकर सखी की श्रीगोविन्द स्तुति एवं श्रीगोविन्द के निकट श्रीराधा दास्य प्रार्थना, श्रीकृष्ण से कृपादृष्टि एवं सेवाधिकार प्राप्ति **चतुर्थ सर्ग में**-श्रीराधागोविन्द की क्रीड़ा को देखकर, क्रीड़ा चातुर्य दर्शनोत्सव में सखी का निमज्जित होना, व्याकुल चित्त श्रीराधा श्रीकृष्ण के साथ भावी सङ्गमोत्सव की वर्णना, सखीगण के साथ प्रियान्वेषणरत कुसुम चयन छल से मदन जीवन वन में श्रीराधा का प्रवेश, श्रीकृष्ण द्वारा श्रीराधा का रूपमाधुर्य दर्शन एवं मूर्च्छा। प्रियतम के निकट श्रीराधा का गमन कर सञ्चालन से चैतन्य सम्पादन तत्पश्चात् अन्तर्धान, श्रीकृष्ण को मूर्च्छित देखकर श्रीदाम द्वारा सान्त्वना प्रदान पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारा श्रीराधा का

रूप वर्णन, पुनः श्रीदाम द्वारा आश्वास प्रदान। **पञ्चम सर्ग में** श्रीगोवर्द्धन गिरि से श्रीदाम के साथ श्रीकृष्ण का श्रीराधा दर्शन एवं विरल में उनके सखी के निकट श्रीराधा सङ्ग प्रार्थना सखी बोली—राधा पतिव्रता शिरोमणि है, पर पुरुष का सङ्ग वह नहीं करती है, पश्चात् ललिता आकर राधा के निकट श्रीकृष्ण की प्रार्थना निवेदन करके कृष्ण के साथ मिलन प्रार्थना। **षष्ठम सर्ग में**—श्रीराधा के रूप दर्शन से अधीर श्याम को आनन्दित करने के लिए गमनरत श्रीराधा के निकट में आत्म निवेदन, श्याम को लक्ष्य करके सखी के प्रति उपदेश—जैसे व्रजपति कुमार भानुनन्दिनी को स्पर्श न कर सके। राधा की उपेक्षा से ललिता द्वारा परामर्श प्रदान। **सप्तम सर्ग में**—श्रीराधा गृह गमन करने पर विषण्ण चित्त से श्रीकृष्ण का वृन्दावन में प्रवेश एवं दारुण विरह ज्वाला का प्रकाश, वृन्दावनीय वस्तु नियम में श्रीराधा के अङ्ग साम्य को देखकर उत्कण्ठित चित्त होकर श्रीकृष्ण का वृन्दावन में भ्रमण, तदनन्तर मत्त कोकिल कलरव को सुनकर कृष्ण की विमुग्धता, कदम्ब तरुतल में विलाप कर राधा विरह ज्ञापन। **अष्टम सर्ग में**—छल पूर्वक अनेक वेश धारण कर श्रीराधा सङ्ग सुखास्वादन।

(१) यमुना जल में डुबकी लगाकर परिरम्भण, (२) नील वसनधारी श्रीकृष्ण द्वारा गृह प्रदीप को निर्वापित करके श्रीराधा मुख चुम्बन एवं परिरम्भण, (३) नव निकुञ्ज में सखीगण के साथ क्रीड़ा परायणा राधा को आलिङ्गन, नवयुवति वेश से सज्जित श्रीकृष्ण श्रीराधा के निकट उपस्थित होने पर श्रीराधा द्वारा प्रिय सखी बनने की प्रार्थना, राधा सम्भुक्ता है, या नहीं ? कृष्ण की जिज्ञासा परीक्षण के लिए निविड़ परिरम्भण प्रार्थना, पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारा आलिङ्गिता राधा का महा सुखास्वादन। (५) कदम्ब वृक्ष के नीचे निज उत्तरीय को बिछाकर उसके एक कोणे में मुरली को रखकर श्रीकृष्ण कुसुम चयन करने में रत हो गये एवं नीचे कुसुमों को वृक्षों से गिराने लगे, सखीगण के साथ परामर्श कर श्रीराधा ने मुरली को चुराली, वृक्ष से उतरकर श्रीकृष्ण द्वारा वंशी अन्वेपण, श्रीकृष्ण द्वारा पूछताछ के लिए राधा का अवरोध एवं श्रीराधा के वक्षोज युगल को कदम्ब द्वय मान

कर कञ्चुलिका उन्मोचन एवं कुचमर्दन। (६) पीछे से श्रीराधा के नेत्र युगल को हाथ से आच्छादित कर लेने पर श्रीराधा एवं ललिता द्वारा छोड़ो-छोड़ो! कहना एवं निज कर पल्लव के द्वारा प्रियतम को पकड़ना। (७) निद्रिता राधा के समीप में जाकर जघन तथा वक्षोज के वसन को उन्मोचन कर नेत्र द्वय को वसन द्वारा आच्छादित करके आलिङ्गन एवं नखाङ्कदान (८) ललिता के वेश में आकर श्रीकृष्ण द्वारा श्रीराधा के वक्षोज युगल में पत्रावली की रचना पश्चात् पुरुष वेश धारण कर तीक्ष्ण नखाङ्क प्रदान। (९ म सर्ग में) रस निमग्न श्रीराधा निज सखी के समीप में गत सम्भोग वर्णन १०म सर्ग में मोहन वेणुनाद श्रवण से श्रीराधा की उत्कण्ठा, मुरली मनोहर के निकट में ले जाने के लिए सखी के निकट प्रार्थना, सखी बोली-- मैं बहुत बार कह चुकी हूँ। हरि अभिमानी है, जो भी हो, मैं पहले देख आती हूँ। पीछे तुम्हें ले जाऊँगी, यह कहकर अनाहृत श्याम के समीप में श्रीराधा का अनुराग ज्ञापन, पश्चात् श्रीकृष्ण के सकेत प्राप्तकर लौटकर श्रीराधा समीप में आकर कृष्ण वृत्तान्त वर्णन। ११ श सर्ग में—राधा के आगमन में विलम्ब होने पर श्रीकृष्ण का विषाद निज गृह समीपस्थ कदम्बखण्डी में आगमन श्याम को संकेत कुञ्ज में न देखकर श्रीराधा की व्याकुलता भूषण त्याग सखी द्वारा सान्त्वना प्रदान, अनन्तर कदम्बखण्डी में अवस्थित श्रीकृष्ण समीप में गमन, निज उत्कण्ठा निवेदन, माधव का सहसा कुञ्ज में गमन एवं श्रीराधा सह विलास। १२ श सर्ग में श्रीराधा की विनीत प्रार्थना से मधुर मुरली निनाद द्वारा गोपियों को रासलीला में प्रवेश एवं उसके द्वारा रासलीला वर्णन। १३ श सर्ग में श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण का निविड़ कानन में प्रवेश, किसी एक प्रिय सखी के पश्चात् गमन एवं अनुरूप लीला दर्शन, कीर के मुख से श्रीराधा चरित्र श्रवण कर श्रीकृष्ण का नयन निमीलित कर आनन्द मग्न होना एवं श्रीराधा का पलायन। श्रीराधा का अदर्शन से श्याम का विलाप, प्राण त्याग के लिए सङ्कल्प, यह सुनकर श्रीराधा का आविर्भाव एवं मिलन। १४ सर्ग में—विरह विधुरा व्रजबालाओं का राधामाधव गुणानुवाद के साथ उन दोनों का अन्वेषण, दर्शन लाभ निज-निज सेवा द्वारा परितुष्ट प्रियतम युगल को निभृत निकुञ्ज

में पुष्प शय्या के ओर ले जाना, अनन्तर सुरत विलास का प्रारम्भ, किसी सखी के द्वारा विलास वर्णन। १५ श सर्ग में—निजोल्लास वर्णन। १६ श सर्ग में श्रीमन्महाप्रभु के आशीर्वाद ज्ञापन, खललोकगण इस ग्रन्थ को देखकर दोष आविष्कार करने पर भी सज्जनगण प्रशंसा ही करेंगे रसिकगण इस ग्रन्थ का कण्ठस्थ करें, यही प्रार्थना है।

सारार्थ—श्रीश्रीजयदेव कविराज कृत मधुर कोमल कान्त पदावली के अनुकरण से सङ्गीत माधव ग्रन्थ रचित होने पर भी इसमें गौड़ीय वैष्णवों के साधनोपयोगी अनेक सम्भार विराजमान हैं, एवं स्थल विशेष की वर्णना, अति सुललित एवं अधिकतर चमत्कप्रद है, अन्यान्य ग्रन्थ की भाँति इसमें भी मान वर्णन की बहुलता नहीं है। (३।१३) राधामान गरल परिखण्डन शब्द से वेणु को भूषित किया गया है, किन्तु सप्तम सर्ग श्रीकृष्ण विरह की वर्णना है, श्रीकृष्ण राधा विरह दहन ज्वल विकल (७।२) एवं वृन्दावनीय तरुलतादि में श्रीराधा के अङ्ग साम्य को देखकर बहुवार प्रतारित मति (२।३।४) हैं। विरहकातर हरि को बहुविध विलाप कराकर (७।७) कवि ने श्रीकृष्ण के नयन पदवी में सर्वत्र राधामय जगत् का प्रदर्शन किया है।

पुरो राधा पश्चादपि च मम राधा तत इतः।
स्फुरन्त्येषा सम्यग् वसति मम राधान्तरागता॥
अधश्चोर्द्ध राधा दिशि विदिशि राधा किमपरं।
समस्तं मे राधामयमिदमहो भाति भुवनम्॥७–८॥

अहो! प्रेमोन्मद मदन लीलारस निधि राधा के बिना कृष्णचन्द्र भी म्लान हो गये हैं (२) इस ग्रन्थ में राधा अधिकतर विरह विधुराही है, श्रीराधा श्याम के विरह में 'सद्यः प्रकोष्ठच्युत कङ्कणा हो गई है' देखकर सखी कदम्बखण्डी में जाकर श्रीहरि को राधा की विरह विधुर अवस्था सुनाती है, विरहिणी राधा कुञ्ज के बाहर पलक भर में सोबार आती जाती रहती है, चित्त उदास है, हा नाथ! कहकर सघन विलाप करती है, नेत्र जल से तरुलता को सींचती रहती है, क्षण-क्षण भर में गिरती दौड़ती मूर्च्छित

हो जाती है, इत्यादि प्रेमोत्कण्ठा की वर्णना अतीव रसाल एवं करुण है (९।१४) श्रीराधा विरह कातर होने पर—

रुदन्ति मृगपक्षिणो न विकशन्ति वल्लिद्रुमाः।
लसद् विमल चन्द्रमा मलिनभाव मालम्बते।
वहन्ति न समीरणाः सहज शीतलामोदिनः ॥११६॥

उसी समय कवि ने माधव के साथ मिलन कराकर विह्वल राधा को सान्त्वना दी है, श्रीराधा दासी की स्वरूप वर्णना में श्रीपाद ने कहा है—

सर्वं प्रेमारसामृतैः सुघटिता नूनंव्रजस्त्रीघटा।
सा तच्छ्री चरण स्फुरन्नखमणि ज्योतिः कलांशांशका ॥ (१४।८)

श्रीवृन्दावन महिमामृत (९।५५) एवं श्रीराधारससुधानिधि (१३२) श्लोक में इस प्रकार वर्णना की है (४) रासलीला (१२।४) वर्णना अति स्वाभाविक हुई है, कालिन्दी के सुविपुल शोभन पुलिन में मृदु सुगन्धि समीरण प्रवाहित प्रदेश में अन्योन्यावबद्धहस्त होकर वलयाकृति रासमण्डल में गोपबाला कदम्ब के साथ वह राधारति रभसपर मुग्ध-कृष्ण एक होकर भी ऐसी चतुरता से एक-एक गोपी के साथ गलवैंया देकर खड़े हो गये कि सबके मन में प्रतीत होने लगा—कृष्ण मेरे ही पास हैं। (१२।६) कवि ने सङ्गीत में रास प्रसङ्ग की वर्णना करते हुए (१२।२) श्लोक में राधा सौरत उन्मद रसज्ञ हरि की गोपीगण के साथ विचित्र रति की छवि अङ्कित किया है। त्रयोदश सर्ग में श्रीराधा के अन्तर्धान में श्रीकृष्ण का विरह विलाप वर्णना अति मधुर हुई है।

(५) आश्चर्य रास प्रबन्धः—श्रीमद् भागवत की रासलीला अवलम्बन से रचित होने पर भी इसमें अतीव वैलक्षण्य एवं अद्भुतत्व विद्यमान है, इसलिए इसका नाम आश्चर्य रास प्रबन्ध है, श्रीग्रन्थकार ने प्रथमतः (३-१४) में श्रीवृन्दावन की वर्णना की है,यह वर्णना वृन्दावन शतक के अनुरूप है,(२५-३३) में श्रीकृष्ण के रास विलासोपयोगी रूप की वर्णना है, (३४) में कदम्ब तरु तल में त्रिभङ्ग भङ्गिम ठाम में श्रीराधा नाम से मोहन वंशी को बजाने से गोपीगण विपर्य्यस्तु वेश-भूषादि के साथ लम्पट शेखर के अभिमुख में दौड़ने

लगीं (३५-४८) में श्याम के अनुराग से श्रीराधा की विविध भाव विकृति, (५०-५७) मुरली निनाद को सुनकर अभिसारोद्यता होने पर सखी द्वारा निषेध। (५८) श्रीराधा के अदर्शन से श्रीकृष्ण की विरह वेदना (६०-६१) गोपीगण की रस लालसा को देखकर (६२-६६) श्रीकृष्ण द्वारा निज विरह विधुरता ख्यापन (७०-७१) श्रीराधा के साथ मिलन हेतु गोपियों के परामर्शानुसार दूतीप्रेरण (७२) दूती के मुख से श्रीकृष्ण की राधा तन्मयता, राधानिष्ठा, गोपीजन लाम्पट्य इत्यादि वर्णना (७६-६२) स्वप्न में श्रीकृष्ण का श्रीराधा दर्शन एवं रसमय वाक्यालाप, (६३-६६) राधानाम जापी कृष्ण की राधा सङ्ग प्राप्ति हेतु वेणुध्वनि (६७-६६) राधा व्यतीत गोपीगण के आगमन से कृष्ण का विलाप एवं गोपीगण की उपेक्षा (१००-१०३) श्रीकृष्ण के विलाप से वृन्दावनीय स्थावर जङ्गम के रोदनादि (१०७-१०६) ललिता द्वारा श्रीराधा के अभिसार में बाधा प्रदान (१११-१६०) दूती के मुख से श्रीराधा की निरोधवार्त्ता को सुनकर गोपीवेश में श्रीकृष्ण का श्रीराधा के समीप में गमन। (१२२-१२४) उनसे श्रीराधा की प्रशंसा एवं श्रीहरि का निर्दोषत्व कथन (१२५-१३७) श्रीराधा से मिलन के लिए श्रीहरि की तीव्रतर उत्कण्ठा प्रतिपादन, (१३८-१४८) श्रीकृष्ण के रूप साहश्य को देखकर उनके प्रति श्रीराधिका की परम प्रीति एवं आलिङ्गन दान, (१५१-१५५) परिरम्भण से श्रीश्यामसुन्दर का परिचय लाभ, श्रीराधा का कुञ्ज गृह में प्रवेश अङ्गसङ्ग दान (१५६-१५६) युगलकिशोर का पुनर्बार रासोपयोगी वेशभूषा धारण (१६२-१७२) निखिल कलाविद् सखीगण के साथ वृन्दावन में प्रवेश (१६८-१७२) सखीगणों की सेवादि (१७३-१८२) श्रीकृष्ण द्वारा बहु मूर्त्ति धारण कर निजकाय व्यूह रूपा सखीगणों के साथ रसोपभोग हेतु श्रीराधा का प्रस्ताव (१८३-१६०) तत्पश्चात् सखीगण के साथ श्रीकृष्ण का विविध रसास्वादन (१६१-२०२) सखीगणों के अभिमान प्रशमन हेतु श्रीराधा के साथ श्रीकृष्णान्तर्धान (२७३-२०४) गोपीगणों के द्वारा कृष्णान्वेषण, तरुलताओं के निकट श्रीकृष्ण के सन्दर्भ में जिज्ञासा (२०५-२११) श्रीहरिपदाङ्क (२१३-२१४) एवं श्रीराधापदाङ्क को देखकर (२१५) दोनों का विलासानुमान (२१६-२२४) श्रीराधा के चित्त में सखीगण के लिए खेद एवं चलने में

असम्मति (२२५-२२६) श्रीकृष्ण का पलायन (२२७) श्रीराधा की मूर्च्छा, सखीगणों का समाधान (२२८-२३०) श्रीकृष्णाविर्भाव (२३२) गोपियों का भाव वैकल्य (२३३-२३६) व्रजाङ्गनाओं के साथ मिलित होकर रासोत्सव (२३७ २६८) राधाकृष्ण का युगपद एवं क्रमशः नृत्य, गोपी गोष्ठी का सङ्गीत, वाद्य इत्यादि रसमय एवं काममय उत्सव (२६९-२७६) जलकेलि (२७७-२७८) वसन भूषादिका परिधान (२७९) इस प्रकार।

न लोक वेद व्यवहार मात्रं न गेह देह द्रविणात्मजादि।
यत्राविदं स्ता न पथोऽपथोवा स कोऽपि जीयादिह कृष्णभावः॥

गोपीगण जिस भाव से समाक्रान्तचित्त होकर लोक व्यवहार, वेद मर्य्यादा प्रभृति को भूल गई हैं, जो भाव गृह, देह-धन पुत्रादि को भी विस्मृत कराया है, जिससे गोपीगण सुपथ विपथ कुछ भी जान नहीं पाई, वह अनिर्वाच्य कृष्णभाव ही इस जगत् में अमरत्व को प्राप्त करे।

परमरससमुद्रोज्जृम्भणस्यातिकाष्ठा।
परमपुरुषलीला रूपशोभातिकाष्ठा॥
परमविलसदाद्यप्रेमसौभाग्यभूमा।
जयति परमपुमर्थोत्कर्षसीमा स रासः॥

वह रास—परम रस सागर की प्रकाशशील चरमावधि, परम पुरुष की लीला, रूप शोभा की चरमावधि, परम विलासमय आद्य (शृङ्गार) प्रेम एवं सौभाग्यातिशयव्यंजक एवं परम पुरुषार्थ शिरोमणि की सीमा रूप में जय युक्त हो।

श्रीसरस्वती चरण ने निज स्फूर्ति के अनुसार ही इस रास प्रबन्ध को प्रकट कर (२८२-२८३) में इस ग्रन्थ का फल वर्णन भी किया है—जो यह रास प्रबन्ध का गान कृष्णानुराग के आतिशय्य से करेगा, उसके पदतल में पुरुषार्थ लुण्ठित होगा।

इस ग्रन्थ की रचना कौशल विचित्र है, इसमें सूत्र रूप में १८ श्लोक विभिन्न छन्दों में वर्णित वर्णितव्य विषय है, परवर्त्ती श्लोक समूह उस सूत्र रूपी श्लोक समूह की ही विवृत्ति है, और इसमें केवलपज्झटिका छन्द ही है।

उसका लक्षण है, प्रतिपद यमकित षोड़शमात्रा नवम गुरुत्व विभूषित गात्रा पज्झटिका पुनरत्र विवेक: क्वापि न मध्य गुरुगण एक: ।

अन्यान्य ग्रन्थ में श्रीसरस्वती पाद प्रेमोन्मत्त होकर धारावाहिक रचना में असमर्थ थे, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में ही आपकी धारावाहिक रचना सफल हुई है । उपरोक्त ग्रन्थ समूह की भावधारा भाषामाधुर्य रस एवं रस तन्मयता इत्यादि की पर्यालोचना से सुनिश्चित निर्णय होता है कि यह सब ग्रन्थ ही एक सुनिपुण कवि के हस्त द्वारा ही निर्मित हुए हैं, इसमें किसी का भी अणुमात्र भी सन्देहावकाश नहीं है, 'दक्षिणा' नायिका का स्वभाव को कवि ने उपरोक्त ग्रन्थ राजि में स्फुटतर रूप में अभिव्यक्त किया है ।

ऐसा होने पर भी श्रीसरस्वती पाद की रचना में गौरेश्वर सम्प्रदायी गण एक विभिषिका का अनुभव करते हैं, श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के अनन्य श्रद्धाशील व्यक्ति श्रीप्रबोधानन्द पाद हैं, और श्रीमन् महाप्रभु की कृपा से ही ज्ञान मार्ग को छोड़ व्रजभक्ति मार्ग में प्रविष्ट हुए एवं श्रीराधाकृष्ण श्रीवृन्दावन, श्रीगौराङ्ग का उद्गान आपने किया । आपकी प्रतिमा व्रजभक्ति को प्राप्तकर सफल बन गई, और आनन्दित हो गई, जैसे मेढ़क गन्धीनाली से किसी सज्जन द्वारा अमृतमय अक्षय सरोवर को प्राप्तकर लेने से पूर्णतृप्त आनन्दित होता है ।

श्रीमन् महाप्रभु को आपने भावुकता प्रवाह को छोड़कर ही अनुभव किया, आप ब्रह्मज्ञ थे । विशुद्ध सत्त्व के अधिकारी थे, तमो-रजोगुण आप में विलीन तो थे ही विशुद्ध भक्ति का प्रादुर्भाव होने पर वस्तु का प्रकाश पूर्णसत्य रूप से ही हुआ, आपने देखा एक सच्चिदानन्दमय अद्वय तत्त्व निज सत्चिद् आनन्दस्वरूप शक्ति को ममत्व आनुकूल्यात्मक रूप से आस्वादन कर विभोर होने के लिए स्वरूप शक्ति को भक्ति संज्ञा देकर राधा रूप में प्रकाशित किया एवं भगवान् की भगवत्ता ही भक्त के प्रति भक्तिमान होने से होती है, स्वयं स्वामी बनने से नहीं अत: अद्वय ज्ञानतत्त्व श्रीकृष्णचन्द्र ने राधा का ममत्व उसका माधुर्य एवं उसका ममत्व कितना होता है, इसलिए विषय होकर भी आश्रय जातीय सुखास्वादन के लोलुप हो गये और राधाभाव भक्तभाव एवं कान्ति समस्त तन्मयता से अपने को अन्तर बाहर विमण्डित कर जब

श्रीराधा में माधव के एकी भूतवपु श्रीगौराङ्ग होकर प्रकट हो गये।

संविधान कर्त्ता रूप में सर्वशास्त्रसार सिद्धान्त स्वरूप श्रीमद् भागवत की रचना आपने की, उसके नायक स्वयं आप ही थे। व्रजभक्ति रूपक को खेलने पर भी लोक समझ नहीं पाये। अतः उसको समझाने के लिए श्रीगौराङ्ग रूप में आना पड़ा, आपने अपने अनुयायी को भी भागवतीय व्रजभक्ति दर्शन लिखने के लिए प्रेरणा दी और बारम्बार अपने मन से ही गाया 'यः कौमार हरः' 'रेवा रोधसि वेतसितरुतलेचेतः समुत् कण्ठते' उद्गान को सुनकर रूप गोस्वामीजी ने मनों में 'कालिन्दी पुलिनविपिनाय स्पृहयति' रचना की भागवतीय भक्ति रसदर्शन का प्रारम्भ श्रीप्रभु के अनुमोदन से हुआ और भक्तिरसामृत सिन्धु एवं उज्ज्वल नीलमणि भागवतीय व्रजभक्ति रस का एकमात्र निर्दुष्ट दर्शन ग्रन्थ बन गया, इसमें समस्त भक्ति रस का अनवद्य विश्लेषण के साथ मधुर रस का विशेष विश्लेषण हुआ है, कारण मधुर ही आदि रस एवं असमोर्द्ध रस है।

इस रस का विश्लेषण प्रारम्भ करते समय आपने कहा यह रसराज है, अङ्ग अत्यन्त विस्तृत है और निवृत्ति मार्ग के लिए अनुपयोगी है, अत्यन्त दुरूह है और अति निगूढ़ है।

मानव सत् शिक्षा से शिक्षित होने से ही प्रत्येक जीवन में शान्ति समृद्धि विराजित हो सकती है, वह शिक्षा ही है व्रजभक्ति, इस नाटक को कृष्णजी ने अपनी स्वरूप शक्ति को राधा बनाकर ही खेला और विचित्र रीति से प्रेममयी उत्कट तृष्णा से ही राधा से कृष्ण को वरण कराया, इस लोभ के आगे अहङ्कार स्वजन आर्यपथ का महत्व कुछ भी नहीं रहा, इस प्रकार मानव यदि इससे प्रेरणा प्राप्तकर देह गेह द्रविण स्वजन बन्धु आदि के महत्व को छोड़कर कृष्ण और कृष्ण सम्बन्धी विश्ववासियों के लिए अपने को राधा की भाँति न्यौछावर कर देता है, तो विश्ववासी एवं वह मानव कृतार्थ हो जाता है, यह भक्ति है, यह निष्काम कर्म है, यह निवृत्ति मार्ग है।

इसका नाम रस पद्धति से परकीया भाव है। परकीया यहाँ पर लाक्षणिक पारिभाषिक शब्द है। स्वकीया वह है, जिसमें रुक्मिणी की

भाँति लोक धर्म की अपेक्षा से विवाह के द्वारा सम्बन्ध होता है, इससे भिन्न आन्तर धर्म प्रेममयी उत्कट तृष्णा में अपने को डुबाकर सम्बन्ध करना तथा प्रिय के लिए ही जीवित रहना है, यह परकीया भाव है, यह भक्ति श्रीमन् महाप्रभु सम्मत भागवती भक्ति है।

मनुष्य की जन्मभूमि काम ही है, इसको छोड़कर वह कुछ भी नहीं जानता, स्त्री-पुरुष शब्द, काम भाव को तीव्रतर रूप से उद्‌बुद्ध कर देता है, इसलिए परीक्षित महाराज ने पूछ ही दिया था धर्म रक्षक, वक्ता, आत्माराम, आप्तकाम यदुपति ने जघन्य कार्य—पर दाराभिमर्षण' क्यों किया ? परकीया भाव का कथन भागवत में समस्त मुनियों की सभा में हुआ। वक्ता श्रीशुकदेवजी थे उत्तर में श्रीशुकदेवजी ने सीधी बात नहीं कही, टेढ़े-मेढ़े से आपने उत्तर दिया, पत्नी है, ऐसा नहीं कहा क्योंकि दम्पति, जायापति, पत्नी आदि में लोक धर्म का महत्त्व है और परम धर्म में आन्तर धर्म प्रियता का प्राधान्य है, यह भी अहैतुक निराशिष है, इसलिए एक चना की भाँति द्विदल रूप से व्रजभक्ति के नायक को समझाया गया है।

आपने कहा—यहाँ परकीया है ही कहाँ ? सबके अन्दर वही खेलता रहता है, बाहर खेलने से ही क्या दोष होता ? दूसरा कोई व्यक्ति ऐसा आचरण न करे, नहीं तो विषपान से महादेव नीलकण्ठ हो गये, और दूसरा नाश हो जायेगा, जिसका अपना जनशिक्षा प्रदान को छोड़कर कुछ भी उद्देश्य नहीं है जो निरहङ्कारी है, स्वयं अपने हृदय के साथ खेलता है, उसमें दोष नहीं होता, परन्तु इसके श्रवण से काम वासना विदूरित होगी।

जिसका लोभ भक्त भाव में नहीं हुआ है, वह भक्त का आनुगत्य आत्म-समर्पण द्वारा नहीं करेगा, अतएव माँस दृष्टि स्वाभाविक रहने के कारण निवृत्ति रूप भक्ति मार्ग में प्रविष्ट होकर भी वह इन्द्रिय लोलुप होकर पतित हो जायेगा।

अलौकिक परकीया भाव—विशुद्ध सात्त्विक चित्त वृत्ति से ही गृहीत होता है, कारण यह ज्ञान धारा गोकुल की ज्ञान धारा है, एक पाद विभूति में एवं गोकुल वृन्दावन को छोड़कर अन्यत्र इसका प्रकाश नहीं है, अतएव इसमें

मति प्रविष्ट होती है, तब सत्सङ्ग एवं कृपा वाहना होकर यह ज्ञान धारा साधक हृदय में आती है, अतः सर्वथा भाव दुरूह है, भुक्ति मुक्ति स्पृहा जब तक हृदय में रहती है, तब तक यह भक्ति नहीं आती है। भगवान् मुक्ति प्रदान तत्काल करते हैं, किन्तु भक्ति दान नहीं करते हैं। शरीर में आत्मबुद्धि एवं कपटता रहने से इस भाव का श्रवण न करे, पुनः-पुनः निषेध किया गया है।

मानव का उद्देश्य है काम भोग करना, इसलिए वह शरीरान्तर का परिग्रह करता है, इस अवस्था में राधाकृष्ण शब्द उसका उद्दीपन विभाव हो जाता है, अतः परोक्षवाद द्वारा वर्णित ईश्वरीय प्रेमरस निर्यास का आस्वादन ज्ञान वह मानव कैसे करेगा ? मति प्रविष्ट शुद्ध व्रजभक्ति रस में न होने के कारण अनर्थ उपस्थित होगा। विश्वास, प्रीति, ममत्व, तन्मयता, त्यागविराग, सेवा, लालसा, जिस परकीया भाव में है, उसको लौकिक जघन्य तत्त्व मानने लगेगा, अतः सुविस्तृत पदार्थ को संक्षेप से बोध कराने के लिए श्रीजीव गोस्वामी पाद के समय एक घटना हुई। उस समय श्रीसनातन एवं रूप गोस्वामी पाद का अन्तर्धान हो चुका था, भक्ति का सौरभ व्याप्त हो चुका था, लोक सब भक्तिमार्ग में आ रहे थे, ठीक उस समय गोपालदास नामक एक वैश्य श्रीजीव गोस्वामीजी के आनुगत्य स्वीकार करने के लिए आया, वह संस्कृत नहीं जानता था, परकीयावाद उसके समझने में नहीं आया, विवाह तो समझ जाता था। उसके लिए आपने श्रीहरिनामामृत व्याकरण लिखा, कारण श्रीहरिनाम के साथ पद पदार्थ ज्ञान एवं बुद्धि शुद्ध होने पर ही भागवतानन्दास्वादन सम्भव होगा। और विवाह का सम्पुट देकर व्रजलीला को समझाने के लिए गोपालदास के लिए गोपालचम्पू लिखा। इसमें बाल्य में ११ वर्ष व्रजवास तत्पश्चात् २४ वर्ष मथुरावास रुक्मिणी विवाह के अनन्तर द्वारकावास को दिखाकर बूढ़ा-बूढ़ी का विवाह दिखाया है, अन्तिम में 'यः कौमारहरः' मन्त्र को पढ़ाकर इति कर दिया है।

इस ग्रन्थ रचना के बाद गौड़ेश्वर सम्प्रदायी की मति दो भागों में विभक्त हो गई, विवाह रसिकवृन्द कामभोग का प्रधान दृष्टान्त कृष्ण लीला है, निर्भय रसास्वादन स्थल है, यह मानकर प्रकट में परकीया, अप्रकट में

स्वकीया अनेक प्रकार बाद का प्रचार-प्रसार आचरण भी करने लगे, इसका श्रेय: कृष्णदास ब्रह्मचारी नामक विद्यार्थी को प्राप्त हुआ, उन्होंने श्रीजीव गोस्वामी गत होने के बाद उनका शिष्य बनकर गोस्वामीजी के ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ प्रकट में परकीया, मायिक, अप्रकट में स्वकीया नित्य को लिखा है, जो कि श्रीजीव गोस्वामीजी के सिद्धान्त विरुद्ध है, आप स्वरूप लीला परिकर धाम को एक वाक्य से नित्य मानते हैं, दो नहीं तथा उज्ज्वल नीलमणि आदि की टीका में माधव महोत्सव आदि में परकीया रस को प्रतिपादन किया है, कारण-प्रेममय लीला प्रकट करने के लिए श्रीकृष्ण स्वयं ही धाम परिकर आदि हुए थे, इसमें पर अर्थात् जीव के साथ तो सम्पर्क है ही नहीं।

उपासक चतुर्विध होते हैं—**केवलैश्वर्यानुभवी, माधुर्यमिश्रैश्वर्यानुभवी ऐश्वर्य मिश्रमाधुर्यानुभवी, केवलमाधुर्यानुभवी, प्रथम का स्थान वैकुण्ठ, द्वितीय का स्थान महावैकुण्ठ परव्योम गोलोक, ऐश्वर्य मिश्रमाधुर्यानुभवी का स्थान मथुरा एवं द्वारका केवल माधुर्यानुभवी का स्थान ही वृन्दावन है।** अत: वृन्दावन में रहकर व्रजरस के आनुगत्य से भजन करने पर भी विवाहित स्वरूपानुसन्धानरत होने पर द्वारका प्राप्ति होगी, वृन्दावन में श्रीराधा दास्य नहीं इसलिए श्रीमहाप्रभु के अनुयायिगण मन्त्रमयी उपासना को स्वारसिकी के अनुगत रूप से ही करते हैं, पृथक् रूप से नहीं।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती पाद के ग्रन्थों की व्याख्या, व्याख्याकारों ने प्राकृत रस रूप में करने से ही गौड़ीय साधकों के चित्त इससे दूर हट जाते हैं, किन्तु वास्तविकी स्थिति वह नहीं है, षोड़श शताब्दी के अन्तिम भाग में जब स्वकीया परकीया लेकर विचार हुआ तब निर्णय हुआ एवं तालिका बन गई, कौन-कौन व्यक्ति श्रीमन् महाप्रभु के मतानुयायी हैं, इसमें परकीयावादी रूप में श्रीप्रबोधानन्द चरण का नाम है, आपने निज ग्रन्थ में सर्वत्र ही परकीया रस प्रतिपादन किया है एवं संयोग वियोग का यथावत् निर्वाह कर समृद्धिमान सम्भोग को उज्ज्वल की रीति से श्रीराधारससुधानिधि प्रभृति में स्थापन किया है, स्वारसिकी लीला में भी मन्त्रमयी उपासना आवश्यक है, अत: श्रीप्रबोधानन्द पाद की शुद्ध रागानुगीय यह रीति परमोपादेय है, किन्तु रागा-

नुगा भक्ति एवं उसका अधिकारी तो सर्वथा दुर्लभ है, रागात्मिका का अनुगत ही रागानुगा है। रागात्मिका का स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण इस प्रकार है—इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् तन्मयी या भवेद् भक्तिः सात्ररागात्मिकोदिता। टीका-इष्टे स्वाभीप्सित प्रेमविषये श्रीनन्दनन्दने इति यावत्, स्वारसिकी स्वाभाविकी परमाविष्टता कायिकी वाचिकी मानसी चेष्टा सा रागो भवेत्, तन्मयी तन्मात्र प्रेरिता या भक्तिः सा रागात्मिकोदितेति योजना। इष्टे प्रेममय गाढ़ तृष्णेति-स्वरूप लक्षणम्, इष्टे स्वारसिकी परमा विष्टतेति तटस्थ लक्षणम्।

अभीप्सित प्रेम का विषय श्रीनन्दनन्दन में ही स्वारसिकी स्वाभाविकी नतु निमित्तान्तर के द्वारा परम आविष्टता—कायिकी चेष्टा, वाचिकी चेष्टा, एवं मानसी चेष्टा, उसको ही राग कहा जाता है, उस प्रेममयी तृष्णा रूप राग से प्रेरित होकर जो भक्ति-परिचर्य्या, नन्दकिशोर के उल्लास सम्पादन की उस लालसा को रागात्मिका संज्ञा है।

इसमें प्रेममयी तृष्णा, इष्ट–नन्दनन्दन में यह स्वरूप लक्षण है और इष्ट श्रीनन्दनन्दन में स्वारसिकी स्वाभाविकी परमाविष्टता तटस्थ लक्षण है, अर्थात् रागात्मिका का कार्य है। रागानुगा में इसका पूर्ण गुण आता है, गुरु से लेकर शिष्य में एक प्रकार प्रवाह होता है।

श्रीसरस्वती पाद की रचना में श्रीमन्महाप्रभु के आनुगत्य सर्वथा विद्यमान होने के कारण रागानुगीय भक्तों के लिए यह सब ग्रन्थ परमोपादेय तो हैं ही, विभीषिका की सम्भावना भी नहीं है, किन्तु प्राकृत तृष्णा शून्य व्यक्ति का आचरण श्रवण मनन के लिए भुक्ति मुक्ति तृष्णा शून्य हृदय होना आवश्यक है, अन्यथा प्राकृत तृष्णा पुष्ट होगी और महाविनाश होगा

कामगायत्री व्याख्या तथा राधारससुधानिधि भी इसमें संलग्न है। श्रीपाद के ग्रन्थ निचय का प्रकाशन भी क्रमशः होता रहेगा।

—हरिदासशास्त्री

श्रुति स्तुति के श्लोकस्थ वर्णित विषय समूह

श्लोक संख्या

श्रीपाद श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती कृत व्याख्या में सर्वत्र भक्ति स्वरूपिणी श्रीराधा का महत्व वर्णित है—

❋ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ❋

।। श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ।।

श्रीकामवीजव्याख्यानम्
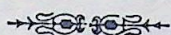
पद्मजं तन्मुखोपेतं शक्रस्योपरि संस्थितम् ।

सेन्दुविन्दुशिखोपेतं प्रथमं सर्वकामदम् ।।क्लीँ।।

अथ वीजस्यार्थो गौतमीयतन्त्रे—

लकारात् पृथिवी वीजं ककाराज्जलसम्भवः ।
ईकाराद् वह्निरुत्पन्नोनादाद् वायुरजायत ।
विन्दुराकाशसम्भूतिरिति भूतात्मको मनुः ।।

इति पञ्चभूतो मूर्त्तिमात् पुरुषः । कादापो लात् पृथिवी, ईतो वह्नि र्नादाद् वायुः, विन्दुराकाश भूत इति । जलरूप पुरुषः कामः ककारः । वायुस्पर्शजीवोनादः आकाश-शब्दः अहङ्कारो विन्दुः, गोपाल तापनी वेदे । रत्नप्रिया रतिकला सुभगा भद्रसौभगा, ककारः । सुमुखी कलहंसी-लकारः । मन्मथमोदा च ईकारः । कलापिनी नादविन्दुः ।

ककारः कथ्यते कामो लकारो मूर्त्तिरुच्यते ।
ईकारः शक्तिरूपा च नादो लिङ्गन मुच्यते ।।

विन्दुश्चुम्बनमुच्यते इति मुनयः । ईकारल्ललितामुख्या लकाराल्ललिता तथा

ककारान्नायको मुख्यो नादालिङ्गनमुक्तवत् ।
विन्दुश्चुम्बनमाकृतः इति आगमस्य ।।

अत्र स्वमतं—ककारान्नायकश्रेष्ठः ईकारान्नायिका वरा ।
लकारो ह्लादरूपा च नादालिङ्गनमुच्यते ।।

विन्दुस्तु चुम्बनन्तथा । कैश्चित्तु एवं व्याख्यायते-गलशिर आस्यञ्च ककारः चक्षुः कर्णबाहु लकारः । वक्षः पृष्ठ कटि जङ्घा नादः जानुपादौ च विन्दुः ।

इति श्रीप्रबोधानन्दसरस्वतीकृतकामवीजव्याख्यानम् । मन्त्रार्थः

ककारः पुरुषः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
ईकारः प्रकृतिराधा नित्यवृन्दावनेश्वरी ॥
लश्चानन्दात्मकं प्रेमसुखञ्च परिकीर्त्तितम् ।
चुम्बनाश्लेषमाधुर्यं विन्दुनादसमीरितम् ॥२॥

गोपीति गोपनाद्राधा जनस्तस्य सखीजनः ।
अनयोर्वल्लभः कृष्णो नायकः कामशेखरः ।
स्वाहा शब्देनात्मसमर्पणम् ॥

श्रीकामगायत्री व्याख्यानम्

कामेन-अभिलाषेण सविषयप्रीति दार्ढ्येन दिव्यति क्रीड़ति, दिवु क्रीड़ायां, तस्मै कामदेवाय विद्महे विद्लृ लाभे विद्ज्ञानेवा । धीमहि ध्यायेम। कामदेवाय कथम्भूताय ? पुष्पवाणाय पुष्पं कमलं तदेव वाणः ? यस्य तस्मै तन्नोऽनङ्गः कन्दर्पः नोऽस्मान् प्रचोदयात् प्रकर्षेण प्रकृष्टरूपेण उदयात् उदयं करोत्वित्यर्थः । च कारः समुच्चये । अत्र क्लीम् इति पदेन मूर्त्तिमान् पुरुषः, कामपदेन गण्डद्वयं, देव पदेनात्र आस्यभाले उच्चेते । अभिलाषेण सर्वविषय प्रीतिदार्ढ्येन चन्द्रमण्डलेन दीव्यति क्रीड़ति । यकारेण अर्द्धचन्द्रः भाले तिलकचन्द्रः सार्द्धचन्द्रचतुष्टयमिति,, अङ्घ्रि शिरोवधिक्रमात् क्रमरूपेण त्रिंशत्यक्षरेण विंशतिश्चन्द्रा उच्यन्ते । कामो गण्डद्वये स्नेहे विलासे छवि-तृष्णयोरिति भास्वदिः । ककारश्चन्द्रिमा चन्द्रे विलासानवसानयोरिति कामपालः । मकारो मधुरे हास्य विकाशे छवितृष्णयोरिति ऋषभः । दे इति दा दाने औणादिकत्वादेकारः दा । मा स्मा घ्रोः स्नायाम् इति 'ए' प्रत्ययः। देश्चन्द्रमण्डलेऽप्यास्ये हविर्दानविलासयोरिति व्याघ्रभूतिः । व इति वनषण संभक्तौ वन धातौ रौणादिकत्वात् पञ्चम्यन्ताद् भावे प्रत्ययः । वकारो लास्य लावण्ये इन्द्रायुधे शशधरे इति भास्वदिः। विकारान्त य कारेणअर्द्धचन्द्रः प्रकीर्त्तितः, लक्षणानुरोधात् यं चन्द्रार्द्धवैभवश्च विलासो दारुणं भयम् इति व्याड़िः । विशब्दादि पञ्चाक्षरेण दक्षिणावर्त्तक्रमेण पञ्चचन्द्रा उच्यन्ते । तद्यथा विद्महे पुष्प इत्यादि । वाणादि पञ्चाक्षरेण वामावर्त्तादि क्रमेण पञ्चभद्रा उच्यन्ते, तद्यथा वाणाय धीमहि इत्यादि तत्र कौस्तुभस्यमरो

रधस्ताद् वामदक्षिणरूपेण दशाक्षरेण दशचन्द्रा उच्यन्ते, तत्र दक्षिणादि क्रमेण हि शब्दादि पञ्चाक्षरेण पञ्चचन्द्रा उच्यन्ते, तद्यथा हि तन्नोऽनङ्ग इति प्रशब्दादि पञ्चाक्षरेण पञ्चचन्द्रा उच्यन्ते। तद्यथा हि तन्नोऽनङ्ग इति। प्रशब्दादि पञ्चाक्षरेण पञ्चचन्द्रा उच्यन्ते, तद्यथा प्रचोदयात् इति। विशब्दो विविधे प्राज्ञे अङ्गने च शशधरे इति विश्वः। डुधाञ् डुभृञ् धारण पोषणयोः इति भा धातो रौणादिको म प्रत्ययान्तो निपातः धा धातोर्म इति निपातश्च इति धः। भ्र कारो विविधे नृत्ये तेजराशौ शशधरे। इति भास्वदिः हे शब्दो हेतुके विज्ञे इन्दौ पूर्णरसालये इति कामतन्त्रे। पु शब्दो रमना ज्योत्स्ना नृत्य चन्द्राङ्कु शाम्बुजे इति देवद्युतिः। ष्प-कारो विकले प्राज्ञे विधुमुक्तोदयेषुच इति रत्नहासः। वा शब्दो विषमाधारे चन्द्र ज्योत्स्नाववृद्धयोः इति वामन पुराणे। ण-कारो विषमाविष्टे नृत्यचन्द्ररसायने इति स्वभूतिः। य कारश्चन्द्रविम्वे च विशालाक्षे रसाकरे इति व्याघ्रभूतिः। धी शब्दो बुद्धौ प्राज्ञे च विधौचन्द्राभिवादयो इति चन्द्रगोमी म-कारो मारुते ब्रघ्ने प्रभाकर निशाकरे इति स्वभूतिः। तन् सादृश्ये विभावे च तकारश्चन्द्र मण्डले इति व्याघ्रभूतिः। नो शब्दो नौ स्त्रियां नावा न कारश्चन्द्र मण्डले इति देवद्युतिः अनङ्गो मदने विश्वेऽनङ्गश्चन्द्रविभावने इति चन्द्रगोमी। प्रशब्दो विविधे नृत्ये प्रकृष्टे चन्द्रमण्डले इति व्याघ्रभूतिः। चकारश्चालने चन्द्रे ज्योतिश्चन्द्र विभावने इति स्वभूतिः। द-कारो विविधे नृत्ये चन्द्रे विम्बाधरेऽपि च इति भास्वदिः। आसने च विधायान्तु यकारश्चन्द्र उच्यते इति चन्द्रगोमी। स्तवस्तोत्र विकाशेषु तकारश्चन्द्र उच्यते इति देवद्युतिः।

इति श्रीप्रबोधानन्दगोस्वामिना विरचितः कामगायत्र्यर्थः

* श्रीचैतन्यचरितामृतप्रणेता की लेखनी में *

सखि हे कृष्ण मुख द्विज राज राज
कृष्ण वपु सिंहासने, वसि राज्य शासने
सङ्ग करि चाँदेर समाज।
दुइ गण्ड सुचिक्कण यिनि मणि दर्पण

सेइ दुइ पूर्ण चन्द्र जानि ॥
ललाटे अष्टमी इन्दु ताहाते चन्दन विन्दु ।
सेइ एक पूर्ण चन्द्र मानि ॥
करनख चाँदेर ठाट, वंशी ऊपर करे नाट ।
तार गीत मुरलीर तान ॥
पदनख चन्द्रगण, तले करे नर्त्तन ।
नूपुरेर ध्वनि यार गान ॥
ए चाँदेर बड़नाट् पसारि चाँदेर हाट ।
विनिमूले विलाय निजामृत ॥
काहो स्मित ज्योत्स्नामृते काहाके अधरामृते ।
सब लोक करे आप्यायित ॥

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

※ श्रीश्रीराधागोविन्ददेवौ जयतः ※

श्रीश्रील प्रबोधानन्द सरस्वती गोस्वामीपाद विरचितः

श्रीश्रीराधारससुधानिधिः

(स्तोत्र काव्यम्)

॥ श्रीराधारमणो जयति ॥

निन्दन्तं पुलकोत्करेण विकसन्नीप प्रसूनच्छविं,
प्रोर्द्धीकृत्यभुजद्वयं हरिहरीत्युच्चैर्वदन्तं मुहुः ।
नृत्यन्तं द्रुतमश्रुनिर्भ्ररचयैः सिञ्चन्तमुर्व्वीतलं,
गायन्तं निजपार्षदैः परिवृतं श्रीगौरचन्द्रं नमः ॥१

यस्या कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ धन्यातिधन्यपवनेनकृतार्थमानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि, तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ॥२
ब्रह्मेश्वरादि सुदुरूहपदारविन्द श्रीमत्पराग परमाद्भुतवैभवायाः ।
सर्व्वार्थसार रसवर्षिकृपार्द्र दृष्टे स्तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवोमहिम्ने ॥३
यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य ।
सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्ति तं राधिका चरणरेणुमनुस्मरामि ॥४
आधाय मूर्धनि यदा पुरुदारगोप्यः काम्यं पदं प्रियगुणैरपि पिच्छमौलेः ।
भावोत्सवेन भजतां रसकामधेनुं तं राधिकाचरणरेणुमहं स्मरामि ॥५
दिव्यप्रमोदरससारनिजाङ्गसङ्गपीयूषवीचिनिचयैरभिषेचयन्ती ।
कन्दर्पकोटिशरमूर्च्छितनन्दसूनुसञ्जीवनी जयति कापि निकुञ्जदेवी ॥६
तन्नः प्रतिक्षणचमत्कृतचारुलीला लावण्यमोहनमहामधुराङ्गभङ्गि ।
राधाननं हि मधुराङ्गकलानिधानमाविर्भविष्यति कदा रससिन्धुसारम् ॥७
यत् किङ्करीषु बहुशः खलुकाकुवाणी नित्यं परस्य पुरुषस्य शिखण्डमौलेः ।
तस्याः कदा रसनिधे वृषभानुजाया स्तत्केलिकुञ्जभवनाङ्गनमार्जनीस्याम् ।८
वृन्दानि सर्व्वमहतामपहाय दूराद् वृन्दाटवीमनुसर प्रणयेन चेतः ।
सत्तारणीकृत सुभावसुधारसौघ राधाभिधानमिह दिव्यनिधानमस्ति ॥९
केनापि नागरवरेण पदेनिपत्य संप्रार्थितैक परिरम्भरसोत्सवायाः ।
सभ्रू विभङ्गमतिरङ्गनिधेः कदा ते श्रीराधिके नहि नहीति गिरः शृणोमि ।१०
यत् पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया विस्फुर्जितं किमपि गोपवधूष्वदर्शि ।
पूर्णानुराग रससागरसारमूर्त्तिः सा राधिकामयि कदापि कृपां करोतु ॥११
उज्जृम्भमाणरसवारिनिधेस्तरङ्गै रङ्गैरिव प्रणयलोल विलोचनायाः ।
तस्याः कदानुभवितामयि पुण्यदृष्टि वृन्दाटवी नवनिकुञ्जगृहाधिदेव्याः ॥१२
वृन्दावनेश्वरि तवैव पदारविन्दं प्रेमामृतैक मकरन्दरसौघपूर्णम् ।
हृद्यर्पितं मधुपतेः स्मरतापमुग्रं निर्वापयत् परमशीतलमाश्रयामि ॥१३
राधाकरावचितपल्लववल्लरीके राधापदाङ्क विलसन्मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके राधाविहारविपिने रमतां मनो मे ॥१४
कृष्णामृतं चल विगाढ़ मितीरिताहं तावत् सहस्वरजनी सखि यावदेति ।
इत्थं विहस्य वृषभानुसुताह लप्स्ये मानं कदा रसदकेलिकदम्बजातम् ॥१५

पादांगुलीनिहितदृष्टिमपत्रपिष्णुं दूरादुदीक्ष्य रसिकेन्द्रमुखेन्दुबिम्बम्।
वीक्षे चलत् पदगतिं चरिताभिरामां झङ्कारनूपुरवतीं बत कर्हि राधाम्॥१६॥
उज्जागरं रसिकनागरसङ्गरङ्गैः कुञ्जोदरे कृतवती नु मुदा रजन्याम्।
सुस्नापिता हि मधुनैव सुभोजिता त्वं राधे कदा स्वपिषि मत्करलालिताङ्घ्रिः
वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु र्वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः॥
दृष्ट्वैव चम्पकलतेव चमत्कृताङ्गी वेणुध्वनिं क्व च निशम्य च विह्वलाङ्गी।
सा श्याम सुन्दरगुणैरनुगीयमानैः प्रीता परिष्वजतु मां वृषभानुपुत्री॥१६॥
श्रीराधिके सुरतरङ्गिनितम्बभागे काञ्चीकलापकलहंसकलानुलापैः।
मञ्जीरशिञ्जितमधुव्रत गुञ्जिताङ्घ्रिपङ्केरुहैः शिशिरय स्वरसच्छटाभिः॥२०॥
श्रीराधिके सुरतरङ्गिणि दिव्यकेलि कल्लोलमालिनिलसद्वदनारविन्दे।
श्यामामृताम्बुनिधिसङ्गमतीव्रवेगि, न्यावर्त्तनाभिरुचिरे मम सन्निधेहि॥२१॥
सत्प्रेमसिन्धुमकरन्दरसौघधारा सारानजस्रमभितः स्रवदाश्रितेषु।
श्रीराधिके तव कदा चरणारविन्दं गोविन्दजीवनधनं शिरसा वहामि॥२२॥
सङ्केतकुञ्जमनुकुञ्जरमन्दगामिन्यादाय दिव्यमृदुचन्दनगन्धमाल्यम्।
त्वां कामकेलिरभसेन कदा चलन्तीं राधेऽनुयामि पदवीमुपदर्शयन्ती॥२३॥
गत्वा कलिन्दतनया विजनावतार मुद्वर्त्तयन्त्यमृतमङ्गमनङ्गजीवम्।
श्रीराधिके तव कदा नवनागरेन्द्रं पश्यामि मग्ननयनस्थितमुच्चनीपे॥२४॥
सत्प्रेमराशिसरसोविकसत्सरोजं स्वानन्दसीधुरससिन्धुविवर्द्धनेन्दुम्।
तच्छ्रीमुखं कुटिलकुन्तलभृङ्गजुष्टं श्रीराधिके तवकदानु विलोकयिष्ये॥२५
लावण्यसाररससारसुखैकसारे कारुण्यसारमधुरच्छविरूपसारे।
वैदग्ध्यसाररतिकेलिविलाससारे राधाभिधे मम मनोऽखिलसारसारे॥२६॥
चिन्तामणिः प्रणमतां व्रजनागरीणां चूडामणिः कुलमणिर्वृषभानुनाम्नः।
सा श्यामकरशान्तिमणिर्निकुञ्जभूषामणिर्हृदय सम्पुटसन्मणिर्नः॥२७॥
मञ्जुस्वभावमधिकल्पलतानिकुञ्जं व्यञ्जन्तमद्भुतकृपारसपुञ्जमेव।
प्रेमामृताम्बुधिमगाधवाधमेतं राधाभिधं द्रुतमुपाश्रय साधुचेतः॥२८॥
श्रीराधिकां निजविटेन सहालपन्ती शोणाधरप्रसृमरच्छविमञ्जरीकाम्।
सिन्दूरसम्बलितमौक्तिकपङ्क्तिशोभां यो भावयेद्दशन कुन्दवतीं स धन्यः॥२६

पीतारुणच्छविमनन्ततड़िल्लताभां प्रौढ़ानुरागमदविह्वलचारुमूर्त्तिम् ।
प्रेमास्पदां व्रजमहीपति तन्महिष्यो र्गोविन्दवन्मनसि तां निदधामि राधाम् ।३०
निर्माय चारुमुकुटं नवचन्द्रकेण गुञ्जाभिरारचितहारमुपाहरन्ती ।
वृन्दाटवी नवनिकुञ्जगृहाधिदेव्या: श्रीराधिके तव कदा भवितास्मि दासी ।
सङ्केतकुञ्जमनुपल्लवमास्तरीतुं तत्तत् प्रसादमभित: खलु सम्वरीतुम् ।
त्वां श्यामचन्द्रमभिसारयितुं धृताशे श्रीराधिके मयि विधेहि कृपाकटाक्षम् ।३२
दूरादपास्य स्वजनान् सुखमर्थकोटिं सर्व्वेषु साधनवरेषु चिरं निराश: ।
वर्षन्तमेव सहजाद्भुतसौख्यधारां श्रीराधिकाचरणरेणुमहं स्मरामि ।३३
वृन्दाटवीप्रकटमन्मथकोटिमूर्त्तेः कस्यापि गोकुलकिशोरनिशाकरस्य ।
सर्वस्वसम्पुटमिव स्तनशातकुम्भकुम्भद्वयं स्मरमनो वृषभानुपुत्र्या: ।३४
सान्द्रानुरागरससारसर: सरोज किंवा द्विधा मुकुलितं मुखचन्द्रभापा ।
तन्नूतनस्तनयुगं वृषभानुजाया: स्वानन्दसीधुमकरन्दघनं स्मरामि ।३५
क्रीड़ासर: कनकपङ्कज कुट्मलाय स्वानन्दपूर्ण रसकल्पतरो फलाय ।
तस्मै नमो भुवनमोहनमोहनाय श्रीराधिके तव नवस्तनमण्डलाय ।३६
पत्रावलीं रचयितुं कुचयो: कपोले बद्धुं विचित्रकबरीं नवमल्लिकाभि: ।
अङ्गं च भूषयितुमाभरणैर्धृताशे, श्रीराधिके मयि विधेहि कृपावलोकम् ।३७
श्यामेति सुन्दर वरेति मनोहरेति, कन्दर्पकोटिललितेति सुनागरेति ।
सोत्कण्ठमह्नि गृणती मुहुराकुलाक्षी सा राधिका मयि कदानु भवेत् प्रसन्ना ।
वेणु: करान्निपतित: स्खलितं शिखण्डं भ्रष्टं च पीतवसनं व्रजराजसुनो: ।
यस्याः कटाक्षशरघातविमुर्च्छितस्य तां राधिकां परिचरामि कदा रसेन ।३९
तस्या अतार रस सारविलास मूर्त्ते रानन्दकन्दपरमाद्भुतसौम्यलक्ष्या: ।
ब्रह्मादिदुर्गमगतेर्वृषभानुजाया: कैङ्कर्य्यमेव मम जन्मनि जन्मनि स्यात् ।४०
पूर्णानुरागरसमूर्त्तितड़िल्लताभं ज्योति: परं भगवतो रतिमद्रहस्यम् ।
यत् प्रादुरस्ति कृपया वृषभानु गेहे स्यात् किङ्करी भवितुमेव ममाभिलाष: ।४१
प्रेमोल्लसद्रतिविलासविकाशकन्दं गोविन्दलोचनवितृप्तचकोरपेयम् ।
सिञ्चन्तमद्भुतरसामृतचन्द्रिकौघैः श्रीराधिकावदनचन्द्रमहं स्मरामि ।४२
सङ्केतकुञ्जनिलये मृदु पल्लवेन क्लृप्ते कदापि नवसङ्गभयत्रपाढ्याम् ।

अत्याग्रहेण करवारिरुहे गृहीत्वा नेष्ये विटेन्द्र शयने वृषभानुपुत्रीम् ।।४३
सद्गन्धमाल्य नवचन्द्रलवङ्गसङ्ग ताम्बूल सम्पुटमधीश्वरि मां वहन्तीम् ।
श्यामन्तमुन्मदरसादभिसंसरन्ती श्रीराधिके करुणयानुचरीं विधेहि ।।४४
श्रीराधिके तव नवोद्गमचारुवृत्तवक्षोजमेव मुकुलद्वय लोभनीयम् ।
श्रोणीं दधद्रसगुणैरुपचीयमानं कैशोरकं जयति मोहनचित्तचोरम् ।।४५

संलापमुच्छलदनङ्ग तरङ्ग माला संक्षोभितेन वपुषा व्रजनागरेण ।
प्रत्यक्षर क्षरदपाररसामृताब्धिं श्रीराधिके तव कदानु शृणोम्यदूरात् ।।४६
अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात् ।
श्यामानुराग मदविह्वल मोहनाङ्गी श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्जसीम्नि
कुञ्जान्तरे किमपिजातरसोत्सवायाः श्रुत्वा तदालपितशिञ्जितमिश्रितानि
श्रीराधिके तव रहः परिचारिकाहं द्वारस्थितारसह्रदे पतिता कदा स्याम् ।४८

वीणां करे मधुमतीं मधुरस्वरांतामाधाय नागरशिरोमणिभावलीलाम् ।
गायन्त्यहो दिनमपारमिवाश्रु वर्षैर्दुःखान्नयन्त्यहह सा हृदिमेऽस्तु राधा ।।४९
अन्योन्यहासपरिहासविलासकेली वैचित्र्यजृम्भितमहारसवैभवेन ।
वृन्दावने विलसतापहृतं विदग्धद्वन्द्वेन केनचिदहो हृदयं मदीयम् ।।५०
महाप्रेमोन्मीलन्नवरससुधासिन्धुलहरी परीवाहैर्विश्वंस्नपयदिव नेत्रान्तनटनैः
तड़िन्माला गौरंकिमपिनवकैशोरमधुरंपुरन्ध्रीणां चूड़ाभरणनवरत्नं विजयते

अमन्द प्रेमाङ्कश्लथ सकल निर्बद्धहृदयं,
दयापारं दिव्यच्छविमधुरलावण्यललितम् ।
अलक्ष्यं राधाख्यं निखिलनिगमै रप्यतितरां,
रसाम्भोधेःसारं किमपि सुकुमारं विजयते ।।५२
दुकूलं बिभ्राणामथ कुचतटे कञ्चुकपटं,
प्रसादं स्वामिन्याः स्वकरतलदत्तं प्रणयतः ।
स्थितां नित्यं पार्श्वे विविधपरिचर्य्यैकचतुरां ।
किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये ।।५३
विचिन्वन्ती केशान् क्वचन करजैः कञ्चुकपटं,
क्व चाप्यामुञ्चन्ती कुचकनकदीव्यत् कलशयोः ।

सुगुल्फेन्यस्यन्ती क्वचन मणिमञ्जीर युगलं,
कदा स्यां श्रीराधे तव सुपरिचारिण्यहमहो ।।५४

अतिस्नेहादुच्चैरपि चहरिनामानिगृणत स्तथा सौगंधाद्यैर्बहुभिरुपचारैश्च यजतः
परानन्दं वृन्दावनमनुचरन्तं च दधतो मनोमे राधायाः पदमृदुल पद्मे निवसतु

निज प्राणेश्वर्य्या यदपि दयनीयेयमिति मां,
मुहुश्चुम्बत्यालिङ्गति सुरतसाध्व्यामदयति ।
विचित्रां स्नेहर्द्धि रचयति तथाप्यद्भुतगते,
स्तवैव श्रीराधे पदरसविलासे मम मनः ।।५६

प्रीतिं कामपि नाममात्रजनित प्रोद्दामरोमोद्गमां,
राधामाधवयोः सदैव भजतोः कौमार एवोज्ज्वलाम् ।
वृन्दारण्य नवप्रसून निचयानानीय कुञ्जान्तरे,
गूढं शैशवखेलनैर्वत कदा कार्य्योविवाहोत्सवः ।।५७।।

विपश्चित सुपञ्चमं रुचिरवेणुना गायता प्रियेण सहवीणयामधुर गानविद्यानिधिः
करीन्द्रवन सन्मिलन्मदकरिण्युदारक्रमा कदानु वृषभानुजामिलतुभानुजारोधसि

सहासवरमोहनाद्भुतविलासरासोत्सवे,
विचित्रवरताण्डवश्रमजलार्द्रगण्डस्थली ।
कदानुवरनागरी रसिकशेखरौ तौ मुदा,
भजामि पदलालनाल्ललित जीवनं कुर्व्वती ।।५९

वृन्दारण्य निकुञ्जमञ्जुलगृहेष्वात्मेश्वरींमार्गयन्,
हा राधे सविदग्ध दर्शितपथं किं यासि नेत्यालपन् ।
कालिन्दी सलिले च तत्कुचतटी कस्तुरिका पङ्किले,
स्नायं स्नायमहो कुदेहजमलं जह्यात्कदानिर्मलः ।।६०

पादस्पर्शरसोत्सवं प्रणतिभिर्गोविन्दमिन्दीवर,
श्यामं प्रार्थयितुं सुमञ्जुलरहः कुञ्जांश्चसन्मार्जितुम् ।
मालाचन्दनगन्धपूररसवत्ताम्बूलसत्पानका,
न्यादातुञ्च रसैकदायिनि तव प्रेष्या कदा स्यामहम् ।।६१

लावण्यामृतवार्त्तया जगदिदं संप्लावयन्तीशर,
द्राका चन्द्रमनन्तमेव वदनज्योत्स्नाभिरातन्वती ।

श्रीवृन्दावनकुञ्जमञ्जुगृहिणी काप्यस्ति तुच्छामहो,
कुर्व्वाणाखिल साध्यसाधनकथां दत्वा स्वदास्योत्सवम् ॥६२
दृष्ट्या यत्र क्वचनविहिताम्रड़ने नन्दसूनो:,
प्रत्याख्यानच्छलततउदितोदारसङ्केतदेशा ।
धूर्तेन्द्र त्वद्भयमुपगता सा रहोनीपवाट्यां,
नैका गच्छेत् कितव कृतमित्यादिशेत् कर्हि राधा ॥६३
सा भ्रूनर्त्तनचातुरी निरुपमा स्म चारुनेत्राञ्चले,
लीलाखेलनचातुरीवरतनोस्तादृग्वचोचातुरी ।
सङ्केतागमचातुरी नवनवक्रीड़ाकलाचातुरी,
राधायाजयतां सखीजनपरीहासोत्सवे चातुरी ॥६४
उन्मीलन्मिथुनानुरागगरिमोदारस्फुरन्माधुरी,
राधासारधुरीणदिव्यललितानङ्गोत्सवैः खेलतो: ।
राधामाधवयो: परं भवतु नश्चित्तेचिरार्त्तिस्पृशो:,
कौमारे नवकेलिशिल्पलहरी शिक्षादिदीक्षारस: ॥६५
कदा वा खेलन्तौ व्रजनगरवीथिषु हृदयं,
हरन्तौ श्रीराधा व्रजपतिकुमारौसुकृतिन: ।
अकस्मात् कौमारे प्रकटनवकैशोरविभवौ,
प्रपश्यन् पूर्ण: स्यां रहसि परिहासादिनिरतौ ॥६६
धम्मिल्लं ते नवपरिमलैरुल्लसत्फुल्लमल्ली,
मालं भालस्थलमपि लसत्सान्द्रसिन्दूरविन्दु ।
दीर्घापाङ्गच्छविमनुपमां चारुचन्द्रांशुहासं,
प्रेमोल्लासं तव तु कुचयो र्द्वन्द्वमन्त: स्मरामि ॥६७
लक्ष्मीकोटि विलक्षलक्षण लसल्लीलाकिशोरीशतै,
राराध्यं व्रजमण्डलेऽतिमधुरं राधाभिधानं परम् ।
ज्योति: किञ्चन सिञ्चदुज्ज्वलरस प्रागभावमाविर्भव,
द्राधे चेतसि भूरिभाग्यविभवै: कस्याप्यहोजृम्भते ॥६८
तज्जीयान्नवयौवनोदयमहालावण्यलीलामयं,
सान्द्रानन्दघनानुरागघटितश्रीमूर्त्तिसम्मोहनम् ।

वृन्दारण्य निकुञ्जकेलि ललितं काश्मीरगौरच्छवि,
श्रीगोविन्द इव व्रजेन्द्रगृहिणी प्रेमैकपात्रमहः ॥६९

प्रेमानन्दरसै कवारिधिमहाकल्लोलमालाकुला,
व्यालोलारुणलोचनाञ्चलचमत्कारेण सञ्चिन्वती ।
किञ्चित् केलिकला महोत्सवगहो वृन्दाटवी मन्दिरे,
नन्दत्यद्भुतकामवैभवमयी राधाजगन्मोहिनी ॥७०

वृन्दारण्यनिकुञ्जसीमनि नवप्रेमानुभावभ्रमद्,
भ्रूभङ्गीलवमोहितव्रजमणिर्भक्तैक चिन्तामणिः ।
सान्द्रानन्दरसामृतस्रवमणिः प्रोद्दामविद्युल्लता,
कोटि ज्योतिरुदेति कापि रमणीचूड़ामणिर्मोहिनी ॥७१

लीलापाङ्गतरङ्गितैरुदभवन्नेकैकशः कोटिशः,
कन्दर्पाः पुरुदर्पटङ्कृतमहाकोदण्डविस्फारिणः ।
तारुण्यप्रथमप्रवेशसमये यस्या महामाधुरी,
धारानन्त चमत्कृता भवतु नः श्रीराधिका स्वामिनी ॥७२

यत्पादाम्बुरुहैकरेणुकणिकां मुर्ध्नानिधातुं नहि,
प्रापुर्ब्रह्मशिवादयोऽप्यधिकृतिं गोप्येकभावाश्रयाः ।
सापि प्रेमसुधारसाम्बुधिनिधी राधापि साधारणी,
भूतकालगतिक्रमेण बलिना हे दैव तुभ्यं नमः ॥७३

दूरेस्निग्धपरम्परा विजयतां दूरे सुहृन्मण्डली,
भृत्याः सन्तु विदूरतो व्रजपतेरन्यः प्रसङ्गः कुतः ।
यत्र श्रीवृषभानुजा कृतरतिः कुञ्जोदरे कामिना,
द्वारस्था प्रियकिङ्करी परमहं श्रोष्यामि काञ्चिध्वनिम् । ७४

गौराङ्गे म्रदिमास्मिते मधुरिमा नेत्राञ्चले द्राघिमा,
वक्षोजे गरिमा तथैव तनिमा मध्ये गतौ मन्दिमा ।
श्रोण्याञ्च प्रथिमा भ्रुवोः कुटिलिमाबिम्बाधरे शोणिमा,
श्रीराधे हृदि ते रसेनजड़िमा ध्यानेऽस्तु मे गोचरः ॥७५

प्रातः पीतपटं कदा व्यपनयाम्यन्यांशुकाम्यार्पणात,
कुञ्जे विस्मृतकञ्चुकीमपि समानेतुं प्रधावामि वा ।

बध्नीयां कवरीं युनज्मि गलितां मुक्तावलीमञ्जये,
नेत्रे नागरि रङ्गकैश्च पिदधाम्यङ्गव्रणं वा कदा ॥७६
यद् वृन्दावनमात्रगोचरमहो यन्नश्रुतीकं शिरो,
ह्यारोढुं क्षमते न यच्छिवशुकादीनान्तु यद् ध्यानगम्।
यत् प्रेमामृतमाधुरी रसमयं यन्नित्य कैशोरकं,
तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम ॥७७
धर्म्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद्वृथावार्त्तया,
सैकान्तेश्वरभक्तियोगपदवी त्वारोपिता मूर्धनि।
या वृन्दावनसीम्नि काचन घनाश्चर्य्या किशोरीमणि,
स्तत् कैङ्कर्य्यरसामृतादिह परं चित्ते न मे रोचते ॥७८
प्रेम्णः सन्मधुरौज्ज्वलस्य हृदयं श्रृङ्गारलीलाकला,
वैचित्री परमावधिर्भगवतः पूज्येव कापीशता।
ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा,
श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम ॥७९
राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया,
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना काङ्क्षति।
किञ्च श्यामरति प्रवाहलहरी वीजं न ये तां विदु,
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो विन्दुं परं प्राप्नुयुः ॥८०
कैशोराद्भुतमाधुरीभरधुरीणाङ्गच्छविं राधिकां,
प्रेमोल्लासभराधिकां निरवधि ध्यायन्ति ये तद्धियः।
त्यक्ताः कर्म्मभिरात्मनैव भगवद्धर्मेऽप्यहो निर्ममाः,
सर्वाश्चर्य्यगतिं गता रसमयी तेभ्योमहद्भ्यो नमः ॥८१
लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शङ्खचक्रादिकं,
विचित्रहरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।
लसत्तुलसिमालिकां दधति कण्ठपीठे न वा,
गुरोर्भजनविक्रमात् क इह ते महाबुद्धयः ॥८२
कर्म्माणि श्रुतिबोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा,
गूढ़ाश्चर्य्यरसाः स्रगादिविषयान् गृह्णन्तु मुञ्चन्तु वा।

कैर्वा भावरहस्यपारगमतिः श्रीराधिका प्रेयसः,
किञ्चिज्ज्ञैरनुयुज्यतां वहिरहो भ्राम्यद्भिरन्यैरपि ॥८३

अलं विषयवार्त्तया नरककोटिवीभत्सया,
वृथा श्रुतिकथाश्रमोवत विभेमि कैवल्यतः।
परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः,
परं तु मम राधिकापदरसे मनोमज्जतु ॥८४

तत् सौन्दर्य्यं सच नवनवो यौवनश्रीप्रवेशः,
सा दृग्भङ्गी सच घनरसाश्चर्य्यवक्षोजकुम्भः।
सोऽयं विम्वाधरमधुरिमा तत्स्मितं साच वाणी,
सेयं लीलागतिरपि न विस्मर्य्यते राधिकायाः ॥८५

यल्लक्ष्मीशुकनारदादिपरमाश्चर्य्यानुरागोत्सवैः,
प्राप्तं त्वत्कृपयैव हि व्रजभृतां तत्तत्किशोरीगणैः।
तत् कैङ्कर्य्यमनुक्षणाद्भुतरसं प्राप्तुं धृताशे मयि,
श्रीराधे नवनिकुञ्जनागरी कृपादृष्टिं कदा दास्यसि ॥८६

लब्ध्वादास्यं तदतिकृपया मोहनस्वादितेन,
सौन्दर्य्यश्रीपदकमलयोर्लालनैः स्वापितायाः।
श्रीराधाया मधुरमधुरोच्छिष्टपीयूषसारं,
भोजं भोजं नवनव रसानन्दमग्नः कदा स्याम् ॥८७

यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रतिलाम्पट्य पदवीं,
गतं मे स्वप्रेष्ठं तदपि मम निष्ठां शृणु यथा।
कटाक्षैरालोके स्मितसहचरैर्जातपुलकं,
समाश्लिष्याम्युच्चैरथ च रसये त्वत् पदरसम् ॥८८

कृष्णःपक्षो नवकुवलयं कृष्णसारस्तमालो,
नीलाम्भोदस्तवरुचिपदं नाम रूपैश्च कृष्णा।
कृष्णे कस्मात्तव विमुखता मोहनश्याममूर्त्ता,
वित्युक्त्वा त्वां प्रहसितमुखीं किं नु पश्यामि राधे ॥८९

लीलापाङ्गतरङ्गितैरिवदिशोनीलोत्पलश्यामला,
दोलायत्कनकाद्रिमण्डलमिव व्योम स्तनैरतन्वतीम्।

उन्फुल्लस्थलपङ्कजामिव भुवं रासे पदन्यासत:,
श्रीराधामनुधावतीं व्रजकिशोरीणां घटां भावये ॥६०
दृश्यौत्वयि रसाम्बुधौमधुरमीनवद्भ्राम्यत,
स्तनौ त्वयि सुधामरस्यहह चक्रवाकाविव ।
मुखं सुरतरङ्गिणी त्वयिविकासिहेमाम्बुजं,
मिलन्तु मयि राधिके तव कृपातरङ्गच्छटा: ॥६१
कान्ताढयाश्चर्यं कान्ताकुलमणिकमला कोटिकाम्यैकपादा,
म्भोजभ्राजन्नखेन्दुच्छविलवविभवा काम्यगम्या किशोरी ।
उन्मर्य्यादप्रवृद्धप्रणयरसमहाम्भोधिगम्भीरलीला,
माधुर्य्योज्जृम्भिताङ्गी मयि किमपि कृपारङ्गमङ्गी करोतु ॥६२
कलिन्दगिरिनन्दिनीपुलिनमालतीमन्दिरे,
प्रविष्टवनमालिना ललितकेलिलोलीकृते ।
प्रतिक्षणचमत्कृताद्भुतरसैकलीलानिधे,
निधेहिमयि राधिके निजकृपातरङ्गच्छटाम् ॥६३
यस्यास्ते वत किङ्करीषु बहुशश्चाटुनि वृन्दाटवी,
कन्दर्प: कुरुते तवैव किमपि प्रेप्सु: प्रसादोत्सवम् ।
साद्रानन्दघनानुरागलहरीनिस्यन्दपादाम्बुज,
द्वन्द्वे श्रीवृषभानुनन्दिनि सदा वन्दे तव श्रीपदम् ॥६४
जज्जाप: सकृदेव गोकुलपतेराकर्षकस्तत्क्षणाद्,
यत्र प्रेमवतां समस्त पुरुषार्थेषु स्फुरेत्तुच्छता ।
यन्नामाङ्कितमन्त्रजापनपर: प्रीत्या स्वयं माधव:,
श्रीकृष्णोऽपि तदद्भुतं स्फुरतु मे राधेति वर्णद्वयम् ।.६५
कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरगतो योगीन्द्रवत् यत् पद,
ज्योतिर्ध्यानपर: सदा जपति यां प्रेमाश्रुपूर्णोहरि: ।
केनाप्यद्भुतमुल्लसद्रतिरसानन्देनसन्मोहित:,
सा राधेति सदा हृदि स्फुरतु मे विद्यापरा द्वचक्षरा ॥६६
देवानामथ भक्तमुक्तसुहृदामत्यन्तदूरं च यत्,
प्रेमानन्दरसं महासुखकर चोच्चारितं प्रेमत: ।

प्रेम्णाकर्णयते जपत्यथमुदा गायत्यथालिद्वयं,
जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृतं राधेति मे जीवनम् ॥९७
या वा राधयति प्रियं व्रजमणिं प्रौढ़ानुरागोत्सवैः,
संसिद्धयन्ति यदाश्रयेण हि परं गोविन्दसख्युत्सकाः।
यत् सिद्धिः परमापदैकरसवत्याराधनान्ते नु सा,
श्रीराधाश्रुतिमौलिशेखरलतानाम्नी मम प्रीयताम् ॥९८
गात्रे कोटितड़िच्छवि प्रविततानन्दच्छवि श्रीमुखे,
बिम्बोष्ठे नवविद्रुमच्छविकरे सत्पल्लवैकच्छवि।
हेमाम्भोरुहकुड्नलच्छविकुचद्वन्द्वेऽरविन्देक्षणं,
वन्दे तन्नवकुञ्जकेलि मधुरं राधाभिधानं महः ॥९९
मुक्तापङ्क्ति प्रतिमदशना चारुबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा नवनवरसावर्त्तगम्भीर नाभिः।
पीनश्रोणिस्तरुणिमसमुन्मेषलावण्यसिन्धु,
वैदग्धीनां किमपि हृदयं नागरी पातु राधा ॥१००
स्निग्धा कुञ्जित नीलकेशि विदलद् बिम्बोष्ठी चन्द्रानने,
खेलत्खञ्जनगञ्जनाक्षिरुचिमन्नासाग्रमुक्ता फले।
पीन श्रोणितनुदरिस्तनतटीवृत्तच्छटात्यद्भुते,
श्रीराधे भुजवल्लिचारुवलये स्वं रूपमाविष्कुरु ॥१०१
लज्जान्तः पटमारचय्य रचितस्मायप्रसूनाञ्जलौ,
राधाङ्गे नवरङ्गधामनि ललित प्रस्तावने यौवने।
श्रोणी हेमवरासने स्मरनृपेनाध्यासिते मोहनं,
लीलापाङ्गविचित्रताण्डवकलापाण्डित्यमुन्मीलति ॥१०२
सा लावण्यचमत्कृतिर्नववयो रूपञ्चतन्मोहनं,
तत्तत् केलिकलाविलासलहरीचातुर्यमाश्चर्यभूः।
नो किञ्चित् कृतमेव यत्र न नुतिर्नागो नवा सम्भ्रमो,
राधामाधवयोः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातु वः ॥१०३
येषां प्रेक्षां वितरति नवोदारगाढ़ानुरागा,
न्मेघश्यामोमधुरमधुरानन्दमूर्त्ति र्मुकुन्दः।

वृन्दाटव्यां सुमहिमचमत्कारकारिण्यहो किं,
तानि प्रेक्षेऽद्भुत रसनिधानानि राधापदानि ॥१०४
बलान्नीत्वातल्पे किमपि परिरभ्याधरसुधां,
निपीय प्रोल्लिख्यप्रखरनखरेण स्तनभरम्।
ततो नीविं न्यस्ते रसिकमणिना त्वत् कर घृते,
कदा कुञ्जच्छिद्रे भवतु मम राधेऽनुनयनम् ॥१०५
करं ते पत्रालिं किमपि कुचयोः कर्त्तुमुचितं,
पदं ते कुञ्जेषु प्रियमभिसरन्त्या अभिसृतौ।
दृशौ कुञ्जच्छिद्रैस्तव निभृतकेलिं कलयितुं,
यदावीक्षे राधे तदपि भविता किं शुभदिनम् ॥१०६
रहो गोष्ठीं श्रोतुं तव निज विटेन्द्रेण ललितां,
करे धृत्वा त्वां वा नवरमणतल्पे घटयितुम्।
रतामर्दस्रस्तं कचभरमथो संयमयितुं,
विदग्ध्याः श्रीराधे मम किमधिकारोत्सवरसम् ॥१०७
वृन्दाटव्यां नवनवरसानन्दपुञ्जे निकुञ्जे,
गुञ्जद्भृङ्गीकुलमुखरिते मञ्जुमञ्जु प्रहासैः।
अन्योन्यक्षेपणनिचयनप्राप्तसङ्गोपनाद्यैः,
क्रीडज्जीयाद्रसिकमिथुनंवलमवेली कदम्बम् ॥१०८
रूपं शारदचन्द्रकोटिवदने धम्मिल्य मल्लीस्रजा,
मामोदैर्विकलीकृतालिपटले राधे कदा तेऽद्भुतम्।
ग्रैवेयोज्ज्वलकम्बुकण्ठि मृदुदोर्वल्लीचलत् कङ्कणे,
वीक्षेपट्टदुकूलवासिनि रणन्मञ्जीरपादाम्बुजे ॥१०९
इतो भयमितस्त्रपाकुलमितो यशः श्रीरितो,
हिनस्त्यखिल शृङ्खलामपि सखीनिवासस्त्वया।
सगद्गदमुदीरितं सुबहुमोहनाकाङ्क्षया,
कथं कथमयीश्वरिप्रहसितैः कदा श्रोष्यसे ॥११०
श्यामे चाटुरुतानि कुर्वति सहालापान् प्रणेत्रीमया,
गृह्णाने च दुकूल पल्लवमहो हुङ्कृत्य मां द्रक्ष्यसि।

विभ्राणे भुजवल्लिमुल्लसितया रोमस्रजालंकृतां,

दृष्टा त्वां रसलीनमूर्त्तिमथ किं पश्यामि हास्यं ततः ॥१११

अहो रसिकशेखरः स्फुरति कोऽपि वृन्दाटवी,

निकुञ्ज नवनागरीकुचकिशोरकेलिप्रियः ।

करोतु स कृपां सखीप्रकटपूर्णनत्युत्सवो,

निजप्रियतमापदे रसमयेऽदधत् यः शिरः ॥११२

विचित्रवरभूषणोज्ज्वलदुकूलसत्कञ्चुकैः,

सखीभिरितिभूषिता तिलकगन्धमाल्यैरपि ।

स्वयञ्च सकलाकलासु कुशलीकृता नः कदाः,

सुरासमधुरोत्सवे किमपि वेशयेत् स्वामिनी ॥११३

कदा सुमणिकिङ्किणीवलयनूपुर प्रोल्लस,

न्महामधुरमण्डलाद्भुत—विलासरासोत्सवे ।

अपि प्रणयिनो बृहद्भुजगृहीतकण्ठ्योवयं,

परं निजरसेश्वरी चरणलक्ष्मी वीक्षामहे ॥११४

यद् गोविन्दकथासुधारसह्लदे चेतोमयाजृम्भितं,

यद्वातद्गुणकीर्त्तनार्च्चनविभूषाद्यैदिन प्रापितम् ।

यद्यत् प्रीतिरकारि तत् प्रियजनेष्वात्यन्तिकी तेन मे,

गोपेन्द्रात्मजजीवनप्रणयिनी श्रीराधिका तुष्यतु ॥११५

रहोदास्यं तस्याः किमपि वृषभानोर्व्रजवरी,

यसः पुत्र्याः पूर्णप्रणयरसमूर्त्तेर्यदि लभे ।

तदा नः किं धर्मैः किमु सुरगणैः किञ्च विधिना,

किमीशेन श्यामप्रियमिलनयत्नैरपि च किम् ॥११६

चन्द्रास्ये हरिणाक्षि देवि सुनसे शोणाधरे सुस्मिते,

चिल्लक्ष्मीभुजवल्लिकम्बुरुचिरग्रीवे गिरीन्द्रस्तनि ।

भज्यन्मध्यबृहन्नितम्बकदलीखण्डोरुपादाम्बुज,

प्रोन्मीलन्नखचन्द्रमण्डलि कदा राधे मयाराध्यसे ॥११७

राधापादसरोजभक्तिमचला मुद्वीक्ष्य निष्कैतवां,

प्रीतः स्वं भजतोऽपि निर्भरमहाप्रेम्णाधिकं सर्व्वशः ।

आलिङ्गत्यथ चुम्बति स्ववदनात्ताम्बूलमास्येऽर्पयेत्,
कण्ठे स्वां वनमालिकामपि मम न्यस्येत् कदा मोहनः ॥१

लावण्यं परमाद्भुतं रतिकलाचातुर्य्यमत्यद्भुतम्,
कान्तिः कापि महाद्भुता वरतनोर्लीलागतिश्चाद्भुता।
दृग्भङ्गी पुनरद्भुताद्भुततमा यस्याः स्मितं चाद्भुतं,
सा राधाद्भुतमूर्त्तिरद्भुतरसं दास्यं कदा दास्यति ॥११

भ्रमद्भ्रुकुटिसुन्दरं स्फुरितचारुविम्वाधरं,
ग्रहे मधुरझंकृतंप्रणयकेलिकोपाकुलम्।
महारसिकमौलिना सभयकौतुकं वीक्षितं,
स्मरामि तव राधिके रतिकलासुखं श्रीमुखम् ॥१२०

उन्मीलन्मुकुटच्छटापरिलसद्दिक्चक्रवालं स्फुरत्,
केयूराङ्गदहारकङ्कणघटानिर्धूतरत्नच्छवि।
श्रोणीमण्डलकिङ्कणीकलरवं मञ्जीरमञ्जुध्वनि,
श्रीमत् पादसरोरुहं भजमनो राधाभिधानं महः ॥१२१

श्यामामण्डलमौलिमण्डनमणिः श्यामानुरागस्फुर,
द्रोमोद्भेदविभाविताकृतिरहो काश्मीरगौरच्छविः।
सातीवोन्मदकामकेलितरला मां पातु मन्दस्मिता,
मन्दारद्रुमकुञ्जमन्दिरगता गोविन्दपट्टेश्वरी ॥१२२

उपास्यचरणाम्बुजे व्रजभृतां किशोरीगणै,
र्महद्भिरपि पुरुषैरपरिभाव्यभावोत्सवे।
अगाधरसधामनि स्वपदपद्मसेवाविधौ,
विधेहि मधुरोज्ज्वलामिव कृतिं ममाधीश्वरि ॥१२३

आनम्राननचन्द्रमीरितदृगापाङ्गच्छटामन्थर,
किञ्चिद्दर्शिशिरोऽवगुण्ठनपटं लीलाविलासावधिम्।
उन्नीयालकमञ्जरीः कररुहैरालक्ष्य सन्नागर,
स्याङ्गेऽङ्गं तव राधिके सचकितालोकं कदा लोकये ॥१२

राकाचन्द्रो वराको यदनुपमरसानन्दकन्दाननेन्दो,
स्तत्ताहक्चन्द्रिकाया अपि

स्याणुतोऽपि

यस्याः शोणाधरश्रीविधृतनवसुधामाधुरीसारसिन्धुः,
सा राधा कामबाधा विधुर मधुपति प्राणदा प्रीयतां नः ।१२५
राकानेकविचित्रचन्द्रउदितः प्रेमामृतज्योतिषां,
वीचीभिः परिपूरयेदगणितब्रह्माण्डकोटिं यदि ।
वृन्दारण्यनिकुञ्जसीमनि तदाभासः परं लक्ष्यसे,
भावेनैव यदा तदैव तुलये राधे तव श्रीमुखम् ॥१२६
कालिन्दीकुलकल्पद्रुमतलनिलयप्रोल्लसत्केलिकन्दा,
वृन्दाटव्यां सदैव प्रकटतररहोवल्लवीभावभव्या ।
भक्तानां हृत् सरोजे मधुररससुधा स्यन्दिपादारविन्दा,
सान्द्रानन्दाकृति र्नः स्फुरतु नवनवप्रेमलक्ष्मीरमन्दा ॥१२७
शुद्धप्रेमैकलीलानिधिरहहमहातङ्कमङ्कस्थिते च,
प्रेष्ठे बिभ्रत्यदभ्रस्फुरदतुलकृपास्नेहमाधुर्यमूर्त्तिः ।
प्राणाली कोटिनिराजितपदसुषमा माधुरी माधवेन,
श्रीराधा मामगाधामृतरसभरिते कर्हिदास्येऽभिषिञ्चेत् ॥१२८
वृन्दारण्यनिकुञ्जसीमसु सदा स्वानङ्गरङ्गोत्सवै,
र्माद्यन्त्यद्भुतमाधवाधरसुधामाध्वीकसंस्वादनैः ।
गोविन्दप्रियवर्गदुर्गमसखीवृन्दैरनालक्षिता,
दास्यं दास्यति मे कदा नु कृपया वृन्दावनाधीश्वरी ॥१२९
वल्लीदामनिबद्धचारुकबरं सिन्दूररेखोल्लसत्,
सीमन्त नवरत्नचित्रतिलक गण्डोल्लसत्कुण्डलम् ।
निष्कग्रीवमुदारहारमरुणं बिभ्रद्दुकूलं नवं,
विद्युत् कोटिनिभं स्मरोत्सवमयं राधाख्यमीक्षेमहः ॥१३०
प्रेमोल्लासैकसीमा किमपि नववयोरूपलावण्यसीमा,
सौन्दर्य्यस्यैकसीमा किमपि नववयोरूपलावण्यसीमा ।
लीलामाधुर्यसीमा निजजनपरमौदार्यवात्सल्यसीमा,
सा राधा सौख्यसीमा जयति रतिकलाकेलि माधुर्यसीमा ।१३१
यस्यास्तत् सुकुमारसुन्दरपदोन्मीलन्नखेन्दुच्छटा,
लावण्यैकलवोपजीविसकलश्यामामणीमण्डलम् ।

शुद्धप्रेमविलासमूर्त्तिरधिकोन्मीलन्महामाधुरी,
घारासारधुरीणकेलिविभवा सा राधिका मे गतिः ॥१३२
कलिन्दगिरिनन्दिनीसलिलविन्दुसन्दोऽभृ,
न्मृदूद्गतिरतिश्रमं मिथुनमद्भुतक्रीडया।
अमन्दरसतुन्दिलं भ्रमरवृन्दवृन्दाटवी,
निकुञ्जवरमन्दिरे किमपि सुन्दरं नन्दति ॥१३३
व्याकोशेन्दीवरविकसितामन्दहेमारविन्दं,
श्रीमन्निस्यन्दनरतिरसान्दोलकन्दर्पकेलि।
वृन्दारण्ये नवरससुधास्यन्दिपादारविन्दं,
ज्योतिर्द्वन्द्वं किमपि परमानन्दकन्दं चकास्ति ॥१३४
ताम्बूलं क्वचिदर्पयामि चरणौ संवाहयामि क्वचि,
न्मालाद्यैः परिमण्डये क्वचिदहो सवीजयामि क्वचित्।
कर्पूरादि सुवासितं क्वच पुनः सुस्वादुचाम्भोऽमृतं,
पायाम्येव गृहे कदा खलु भजे श्रीराधिकामाधवौ ॥१३५
प्रत्यङ्गोच्छलदुज्ज्वलामृतरसप्रेमैकपूर्णाम्बुधि,
र्लावण्यैकसुधानिधिः पुरुकृपावात्सल्यसाराम्बुधिः।
तारुण्यप्रथमप्रवेशविलसन्माधुर्यसाम्राज्यभू,
र्गुप्तः कोऽपि महानिधिर्विजयते राधारसैकावधिः ॥१३६
यस्याः स्फूर्जत्पदनखमणिज्योतिरेकच्छटायाः,
सान्द्राप्रेमामृतरसमहासिन्धुकोटि विलासः।
सा चेद्राधा रचयति कृपादृष्टिपातं कदाचि,
न्मुक्तिस्तुच्छी भवति बहुशः प्राकृताप्राकृत श्रीः ॥१३७
कदा वृन्दारण्ये मधुरमधुरानन्दरसदे,
प्रियेश्वर्याः केलिभवननवकुञ्जानि मृगये।
कदा श्रीराधायाः पदकमलमाध्वीकलहरी,
परीवाहैश्चेतो मधुकरमधीरं मदयिता ॥१३८
राधाकेलिनिकुञ्जवीथिषु चरन् राधाभिधामुच्चरन्,
राधाया अनुरूपमेव परमं धर्म्मं रसेनाचरन्।

राधायाश्चरणाम्बुजं परिचरन्नानोपचारैर्मुदा,
कर्हि स्यां श्रुतिशेखरोपरिचरन्नाश्चर्यचर्यां चरन् ॥१३९

यातायातशतेन सङ्गमितयोरन्योन्यवक्त्रोल्लस,
च्चन्द्रालोकनसंप्रभूतबहुलानङ्गाम्बुधिक्षोभयोः।
अन्तः कुञ्जकुटीरतल्पगतयोर्दिव्याद्भुतक्रीड़यो,
राधामाधवयोः कदा नु शृणुयां मञ्जीरकाञ्चीध्वनिम् ॥१४०

अहो भुवनमोहनं मधुरमाधवीमण्डपे,
मधूत्सवसमुत्सुकं किमपिनीलपीतच्छवि।
विदग्धमिथुनं मिथोदृढ़तरानुरागोल्लस,
न्मदं मदयते कदा चिरतरं मदीयं मनः ॥१४१

राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला,
पादौ तत् पदकाङ्कितासु चरता वृन्दाटवी वीथिषु।
तत् कर्मैव करः करोतु हृदयं तस्यां पदं ध्यायता,
तत्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत् प्राणनाथेरति ॥१४२

मन्दीकृत्यमुकुन्दसुन्दरपदद्वन्द्वारविन्दामल,
प्रेमानन्दममन्दमिन्दुतिलकाद्युन्मादकन्दं परम्।
राधाकेलिकथारसाम्बुधिचलद्वीचीभिरान्दोलितं,
वृन्दारण्यनिकुञ्जमन्दिरवरालिन्दे मनोनन्दतु ॥१४३

राधानामैव कार्यं ह्यनुदिनमिलितं साधनाधीशकोटि,
स्त्याज्यानीराज्यराधापदकमलसुधां सत्पुमर्थाग्रकोटिः।
राधापादाब्जलीलाभुवि जयति सदाऽमन्दमन्दारकोटिः,
श्रीराधाकिङ्करीणां लुठति चरणयोरद्भुतासिद्धिकोटिः।१४४

मिथोभङ्गीकोटिप्रवहदनुरागामृतरसो तरङ्गद,
भ्रूभङ्गक्षुभितवाहरभ्यन्तरमहो।
मदा घूर्णन्नेत्रं रचयति विचित्रं रतिकला,
विलासं ता कुञ्जे जयति नवकैशोरमिथुनम् ॥१४५

काचिद् वृन्दावननवलतामन्दिरे नन्दसूनो,
र्दंष्यद्दोष्कन्दलदृढ़परीरम्भनिस्पन्दगात्री।

दिव्यानन्ताद्भुतरसकलाः कल्पयन्त्याविरास्ते,
सान्द्रानन्दामृतरसघनप्रेममूर्त्तिः किशोरी ॥१४६

न जानीते लोकं नच निगमजातं कुलपरं,
म्परां वा नो जानात्यहह न सताञ्चापि चरितम् ।
रसं राधाया मा भजति किलभाव व्रजमणौ,
रहस्ये तद्यस्य स्थितिरपि न साधारणगतिः ॥१४७

ब्रह्मानन्दैकवादाः कतिचन भगवद्वन्दनानन्दमत्ताः,
केचिद् गोविन्दसख्याद्यनुपमपरमानन्दमन्येस्वदन्ते ।
श्रीराधा किङ्करीणां त्वखिलसुखचमत्कारसारैकसीमा,
तत् पादाम्भोज राजन्नखमणिविलसज्ज्योतिरेक च्छटापि ॥१४८

न देवैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु हरिभक्तैर्नसुहृदा,
दिभिर्यद्वै राधामधुपतिरहस्यं सुविदितम् ।
तयोर्दासीभूत्वा तदुपचितकेलीरसमये,
दुरन्ता प्रत्याशा हरि हरि दृशो र्गोचरयितुम् ॥१४९

त्वयि श्यामे नित्यप्रणयिनि विदग्धे रसनिधौ,
प्रिये भूयोभूयः सुदृढ़मतिरागो भवतु मे ।
इति प्रष्ठेनोक्ता रमण मम चित्ते तववचो,
वदन्तीति स्मेरा मम मनसि राधा विलसतु ॥१५०

सदानन्दं वृन्दावननवलतामन्दिरवरे,
ष्वमन्दैः कन्दर्पोन्मदरतिकलाकौतुकरसम् ।
किशोरं तज्ज्योतिर्युगल मतिघोरं मम भवं,
ज्वलज्ज्वालं शीतैः स्वपदमकरन्दैः शमयतु ॥१५१

उन्मीलन्नवमल्लिदामविलसद् धम्मिल्लभारे वृह,
च्छ्रोणीमण्डलमेखलाकलरवे शिञ्जत्सुमञ्जीरिणि ।
केयूराङ्गदकङ्कणावलिलसद्दोर्वल्लिदीप्तिच्छटे,
हेमाम्भोरुह कुड्मलस्तनि कदा राधे दृशा पीऽसे ।१५२

अमर्यादोन्मीलत्सुरतरसपीयूषजलधे,
स्तरङ्गैरुत्तुङ्गैरिव किमपि दोलायिततनुः ।

स्फुरन्ती प्रेयोऽङ्के स्फुटकनकपङ्केरुहमुखी,
सखीनां नो राधे नयनसुखमाधास्यसि कदा ॥१५३

क्षरन्तीव प्रत्यक्षरमनुपमप्रेमजलधिं,
सुधाधारा वृष्टीरिव विदधती श्रोत्रपुटयोः।
रसार्द्रासन्मृद्वीपरमसुखदा शीतलतरा,
भवित्री किं राधे तव सहमया कापि सुकथा ॥१५४

अनुल्लिख्यानन्तानपि सदपराधान्मधुपति,
र्महाप्रेमाविष्टस्तवपरमदेयं विमृशति।
तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं,
महिम्नः कःसीमां स्पृशतु तव दास्यैकमनसाम् ॥१५५

लुलितवलवङ्गोदारकर्पूरपूरं प्रियतममुखचन्द्रोद्गीर्णताम्बूलखण्डम्।
घनपुलककपोलास्वादयन्तीमदास्ये ऽर्पयतु किमपि दासीवत्सला र्कहि राधा॥

सौन्दर्यामृतराशिरद्भुतमहालावण्यलीलाकला,
कालिन्दीवरवीचिडम्बरपरिस्फुर्ज्जत्कटाक्षच्छविः।
सा कापि स्मर केलि कोमलकलावैचित्र्यकोटि स्फुरत्,
प्रेमानन्दघनाकृति दिशतु मे दास्यं किशोरीमणिः ॥१५७

दुकूलमतिकोमलं कलयदेवकौसुम्भकं,
निबद्ध नवमल्लिका–ललितमाल्य–धम्मिलकम्।
वृहत् कटितटस्फुरन्मुखरमेखलालङ्कृतं,
कदानुकलयामि तत् कनकचम्पकाभं महः ॥१५८

कदा रासे प्रेमोन्मदरसविलासेऽद्भुतमये,
दृशोर्म्मध्ये भ्राजन्मधुपतिसखीवृन्दवलये।
मुदान्तः कान्तेन स्वरचितमहालास्यकलया,
निषेवे नृत्यन्तीं व्यजनवरताम्बूलशकलैः ॥१५९

प्रसृमरपटवासे प्रेमसीमाविकासे मधुरमधुर हासे दिव्यभूषाविलासे।
पुलकितदयितांसे संवलद् बाहुपाशे तदति ललितरासे र्कहि राधामुपासे।१६०
यदि कनकसरोजं कोटिचन्द्रांशु पूर्णं नवनवमकरन्दस्यन्दि सौन्दयधाम।
भवति लसितचञ्चत्खञ्जनद्वन्द्वमास्यं तदपिमधुरहास्यं दत्तदास्यं न तस्याः॥

सुधाकरमुधाकरं प्रतिपदस्फुरन्माधुरी,
धुरीणनवचन्द्रिकाजलधितुन्दिलं राधिके।
अतृप्तहरिलोचनद्वयचकोरपेयं कदा,
रसाम्बुधिसमुन्नतं वदनचन्द्रमीक्षे तव ॥१६२
अङ्गप्रत्यङ्गरिङ्गन्मधुरतरमहाकीर्त्तिपीयूषसिन्धो,
रिन्दोः कोटिं विनिन्दद्वदनमतिमदालोलनेत्रं दधत्याः।
राधायाः सौकुमार्याद्भुत ललिततनोः केलिकल्लोलिनीना,
मानन्दस्यन्दिनीनां प्रणयरसमयान् किं विगाहे प्रवाहान् ॥१६३
मत्कण्ठे किं नखरशिखया दैत्यराजोऽस्मि नाहं,
मैवं पीड़ां कुरुकुचतटे पूतना नाहमस्मि।
इत्थं कीरैरनुकृतवचः प्रेयसा सङ्गतायाः,
प्रातः श्रोष्ये तव सखि कदा केलिकुञ्जं मृजन्ती ॥१६४
जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुरतु मे राधापदाब्जच्छटा,
वैकुण्ठे नरकेऽथवा मम गतिर्नान्यास्तु राधां विना।
राधाकेलिकथासुधाम्बुधिमहावीचिभिरान्दोलितं,
कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरवरालिन्दे मनोविन्दतु ॥१६५
अलिन्दे कालिन्दीतटनवलतामन्दिरगते,
रतामर्दोद्भुतश्रमजलभरापूर्णवपुषोः।
सुखस्पर्शेनामीलितनयनयोः शीतमतुलं,
कदा कुर्य्यां संवीजनमहह राधा मुरभिदोः ॥१६६
क्षणं मधुरगानतः क्षणममन्दहिन्दोलतः,
क्षणं कुसुमवायुतः सुरतकेलिशिल्पैः क्षणम्।
अहो मधुरसद्रसप्रणयकेलिवृन्दावने,
विदग्धवरनागरी रसिकशेखरौ खेलतः ॥१६७
अद्य श्यामकिशोरमौलिरहह प्राप्तोरजन्यामुखे,
नीत्वा त्वां करयोः प्रगृह्य सहसा नीपाटवीं प्राविशत्।
श्रोष्येतल्पमिलन्महारतिभरे प्राप्तेऽपि शीत्कारितं,
तद् वीचि सुखतर्जनं किमु हरेः स्वश्रोत्ररन्ध्राश्रितम् ॥१६८

श्रीमद्राधे त्वमथ मधुरं श्रीयशोदाकुमारे,
प्राप्ते कैशोरकमतिरसाद् वल्गसे साधुयोगम्।
इत्थं बालेमर्हसि कथया नित्यलीला वय: श्री,
जातावेशा प्रकटसहजा किन्नुदृश्या किशोरी ॥१६९

एकं काञ्चनचम्पकच्छवि परं नीलाम्बुदश्यामलं,
कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं वहि:।
किञ्चैकं बहुमानभङ्गिरसवच्चाटूनि कुर्व्वत् परं,
पश्यक्रीड़ति कुञ्जसीम्नि तदहो द्वन्द्वं महामोहनम् ॥१७०

विचित्ररतिविक्रमं दधदनुक्रमादाकुलं,
महामदनवेगतो निभृतमञ्जुकुञ्जोदरे।
अहो विनिमयन्नवं किमपि नीलपीतंपटं,
मिथो मिलितमद्भुतं जयति पीतनीलं मह: ॥१७१

करे कमलमद्भुतं भ्रमरतामिथोऽंसार्पित,
स्फुरत् पुलकदोर्लतायुगलयो: स्मरोन्मत्तयो:।
सहासरसपेशलं मदकरीन्द्रभङ्गीशतै,
र्गतिं रसिकयोर्द्वयो: स्मरत चारुवृन्दावने ॥१७२

खेलन्मुग्धाक्षिमीनस्फुरदधरमणीविद्रुमश्रोणिभार,
द्वीपायामोत्तरङ्गस्मरकलभकटाटोपवक्षोरुहाया:।
गम्भीरावर्त्तनाभेर्बहुलहरिमहाप्रेमपीयूषसिन्धो:
श्रीराधाया: पदाम्भोरुहपरिचरणे योग्यतामेव गेषे ॥१७३

विच्छेदाभासमात्रादहह निमिषतो गात्रविस्रंसनादौ,
दीप्यत् कल्पाग्निकोटिज्वलितमिव भवेद् वाह्यमभ्यन्तरं च।
गाढ़स्नेहानुबन्धग्रथितमिव वयोरद्भुतप्रेममूर्त्यो:,
श्रीराधमाधवाख्यं परमिह मधुरं तद् द्वयं धामजाने ॥१७४

कदारत्युचन्मुक्तं कचभरमहं संयमयिता,
कदा वा संधास्ये त्रुटितनवमुक्तावलिमपि।
कदा वा कस्तूर्यास्तिलकमपि भूयोरचयिता,
निकुञ्जान्तर्वृत्ते नवरतिरणे यौवतमणे: ॥१७५

किन्नूनोऽन्यत्र कुण्ठीकृतकजनपदे धाम्न्यपि श्रीवैकुण्ठे,
राधामाधुर्यवेत्ता मधुपतिरथ तन्माधुरीं वेत्ति राधा ।
वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा,
तत् द्वन्द्वं स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिकाकिङ्करीणाम् ।।१७

लसद्वदनपङ्कजा नवगभीरनाभिभ्रमा,
नितम्बपुलिनोल्लसन्मुखरकाञ्चिकादम्बिनी ।
विशुद्धरसवाहिणीरसिकसिन्धुसङ्गोन्मदा,
सदा सुरतरङ्गिणी जयति क्वापि वृन्दावने ।।१७७

अनङ्गनवरङ्गिणीरसतरङ्गिणीः सङ्गता,
दधत् सुखसुधामये स्वतनुनीरधौ राधिका ।
अहो मधुपकाकली मधुरमाधवी मण्डपे,
स्मरक्षुभितमेधते सुरतसीधुमत्तं महः ।।१७८

रोमाली मिहिरात्मजा सुललितेबन्धूकबन्धुप्रभा,
सर्व्वाङ्गे स्फुटचम्पकच्छविरहो नाभीसरः शोभना ।
वक्षोजस्तवकालसद्भुजलता शिञ्जापतज्झङ्कृतिः,
श्रीराधाहरते मनो मधुपतेरन्येव वृन्दाटवी ।।१७९

राधामाधवयो विचित्रसुरतारम्भे निकुञ्जोदरे,
स्रस्तप्रस्तरसङ्गतैर्वपुरलङ्कुर्वेऽङ्गरागैः कदा ।
तत्रैव त्रुटिताः स्रजो निपतिताः सन्धाय भूयः कदा,
कण्ठे धारयितास्मि मार्जनकृते प्रातः प्रविष्टास्म्यहम् ।।१८

श्लोकान् प्रेष्ठयशोऽङ्कितान् गृहशुकानध्यापयेत् कर्हिचिद्,
गुञ्जामञ्जुलहार वर्ह मुकुटं निर्मीति काले क्वचित् ।
आलिख्यप्रियमूर्त्तिमाकुलकुचो संघट्टयेद्वा कदा,
प्येवं व्यापृतिभिर्दिनं नयति मे राधा प्रियस्वामिनी ।।१८१

प्रेयः सङ्गसुधा सदानुभविनी भूयो भवद् भाविनी,
लीलापञ्चमरागिणी रतिकलाभङ्गीशतोद्भाविनी ।
कारुण्याद् द्रव भाविनी कटितटे काञ्चीकलाराविणी,
श्रीराधैव गतिर्ममास्तुपदयोः प्रेमामृतास्राविणी ।।१८२

कोटीन्दुच्छविहासिनी नवसुधासम्भारसंभाषिणी,
　　वक्षोजद्वितयेन हेमकलसश्रीगर्वनिर्वासिनी।
चित्रग्रामनिवासिनी नवनवप्रेमोत्सवोल्लासिनी,
　　वृन्दारण्यविलासिनी किमु रहो भूयान्ममोल्लासिनी। १८३
कदा गोविन्दाराधनगलितताम्बूलशकलं,
　　मुदा स्वादंस्वादं पुलकिततनु र्मे प्रियसखी।
दुकूलेनोन्मीलन्नवकमलकिञ्जल्करुचिना,
　　निवीताङ्गी सङ्गीतकनिजकला: शिक्षयति माम् ॥१८४
लसद्दशनमौक्तिकप्रवरकान्तिपूरस्फुर,
　　न्मनोज्ञनवपल्लवाधरमणिच्छटा—सुन्दरम्।
चरन्मकरकुण्डलं चकितचारुनेत्राञ्चलं,
　　स्मरामि तव राधिके वदनमण्डलं निर्मलम् ॥१८५
चलत् कुटिलकुन्तलं तिलकशोभिभालस्थलं,
　　तिलप्रसवनासिकापुटविराजिमुक्ताफलम्।
कलङ्करहितामृतच्छविसमुज्ज्वलं राधिके,
　　तवातिरतिपेशलं वदनमण्डलं भावये ॥१८६
पूर्णप्रेमामृतरससमुल्लाससौभाग्यसारं,
　　कुञ्जेकुञ्जे नवरतिकलाकौतुकेनात्तकेलि।
उत्फुल्लेन्दीवरकनकयो: कान्तिचौरं किशोरं,
　　ज्योतिर्द्वन्द्वं किमपि परमानन्दकन्दं चकास्ति ॥१८७
यथोन्मीलत् केलीविलसितकटाक्षैक कलया,
　　कृतोवन्दी वृन्दाविपिनकलभेन्द्रो मदकल:।
जड़ीभूत: क्रीड़ामृग इव यदाज्ञालवकृते,
　　कृती न: सा राधा शिथिलयतु साधारणगतिम् ॥१८८
श्रीगोपेन्द्रकुमारमोहनमहाविद्ये स्फुरन्माधुरी,
　　सारस्फाररसाम्बुराशिसहजप्रस्यन्दिनेत्राञ्चले।
कारुण्यार्द्रकटाक्षभङ्गिमधुरस्मेराननाम्भोरुहे,
　　हा हा स्वामिनि राधिके मयि कृपादृष्टिं मनाङ् निक्षिप।

ओष्ठप्रान्तोच्छलितदयितोद्गीर्णताम्बूलरागा,

रागानुच्चैर्निजरचितया चित्रभङ्गोन्नयन्ती ।

तिर्य्यग् ग्रीवा रुचिररुचिरोदञ्चदाकुञ्चितभ्रू:,

प्रेय: पार्श्वे विपुलपुलकैर्मण्डिता भाति राधा ॥१६०

किं रे धूर्त्तप्रवर निकटं यासि न प्राणसख्या,

नूनं बाला कुचतटकरस्पर्शमात्राद् विमुह्येत् ।

इत्थं राधे पथिपथि रसान्नागरं तेऽनुलग्नं,

क्षिप्त्वाभङ्ग्या हृदयमुभयो: कर्हि संमोहयिष्ये ॥१६१

कदा वा राधाया: पदकमलमायोज्य हृदये,

दयेशं नि:शेषं निरतमिह जह्यामुपविधिम् ।

कदा वा गोविन्द: सकलसुखद: प्रेमकरणा-

दनन्ये धन्ये वै स्वयमुपनयेत स्मरकलाम् ॥१६२

कदा वा प्रोद्दाम स्मरसमरसंरम्भरभस,

प्ररूढ़ स्वेदाम्भ: प्लुतलुलितचित्राखिलातनू ।

गतौ कुञ्जद्वारे सुखमरुति संवीज्यपरया,

मुदाहं श्रीराधारसिकतिलकौ स्यां सुकृतिनी ॥१६३

मिथ: प्रेमावेशाद् घनपुलकदोर्वल्लिरचित,

प्रगाढ़ाश्लेषेणोत्सवरसभरोन्मीलितदृशौ ।

निकुञ्जक्लृप्ते वै नवकुसुमतल्पेऽभिशयितौ,

कदा पत्संवाहादिभिरहमधीशौ नु सुखये ॥१६४

मदारुणविलोचनं कनकदर्पकामोचनं,

महाप्रणयमाधुरीरसविलासनित्योत्सुकम् ।

लसन्नववय: श्रिया ललितभङ्गिलीलामयं,

हृदा तदहमुद्वहे किमपि हेमगौरं मह: ॥१६५

मदा घूर्णन्नेत्रं नवरतिरसावेशविवशो,

ल्लसद् गात्रं प्राणप्रणयपरिपाट्यां परतरम् ।

मिथोगाढ़ाश्लेषाद्वलयमिव जातं मरकत,

द्रुतस्वर्णच्छायं स्फुरतु मिथुनं तन्मम हृदि ॥१६६

परस्परं प्रेमरसे निमग्न मशेषसम्मोहनरूपकेलि।
वृन्दावनान्तर्नवकुञ्जगेहे तन्नीलपीतं मिथुनं चकास्ति ॥१९७
आशास्य दास्यं वृषभानुजाया स्तीरे समध्यास्य च भानुजाया।
कदानु वृन्दावनकुञ्जवीथी ष्वहं नु राधे ह्यतिथिर्भवेयम् ॥१९८
कालिन्दीतटकुञ्जे पुञ्जीभूतं रसामृतं किमपि।
अद्भुत केलिनिधानं निरवधि राधाभिधानमुल्लसति ॥१९९
प्रीतिरिव मूर्त्तिमती रससिन्धोः सार सम्पदिव विमला।
वैदग्धीनां हृदयं काचन वृन्दावनाधिकारिणी जयति ॥२००
रसघनमोहनमूर्त्तिं विचित्रकेलिमहोत्सवोल्लसितम्।
राधाचरणविलोडित रुचिरशिखण्डं हरिं वन्दे ॥२०१
कदा गायं गायं मधुरमधुरीत्यामधुभिद,
श्चरित्राणि स्फारामृतरसविचित्राणि बहुशः।
मृजन्तीतत् केलीभवनमभिरामं मलयज,
च्छटाभिः सिञ्चन्ती रसहृदनिमग्नास्मि भविता ॥२०२
उदञ्चद्रोमाञ्चप्रचयखचितां वेपथुमतीं,
दधानां श्रीराधामतिमधुरलीलामयतनुम्।
कदा वा कस्तूर्या किमपि रचयन्त्येव कुचयो,
र्विचित्रां पत्रालीमहमहह वीक्षे सुकृतिनी ॥२०३
क्षणं शीत्कुर्वाणा क्षणमथ महावेपथुमती,
क्षणं श्यामश्यामेत्यमुमभिलपन्ती पुलकिता।
महाप्रेमा कापि प्रमदमदनोद्दामरसदा,
सदानन्दा मूर्त्ति र्जयति वृषभानोः कुलमणिः ॥२०४
यस्याः प्रेमघनाकृतेः पदनखज्योत्स्नाभरस्नापित,
स्वान्तानां समुदेति कापि सरसाभक्तिश्चमत्कारिणी।
सा मे गोकुलभूपनन्दनमनश्चोरी किशोरी कदा,
दास्यं दास्यति सर्व्ववेदशिरसां यत्तद्रहस्यं परम् ॥२०५
कामं तूलिकया करेण हरिणा यालक्तकैरङ्किता,
नानाकेलिविदग्धगोपरमणीवृन्दे तथावन्दिता।

या संगुप्ततया तथोपनिषदां हृद्येव विद्योतिते,
सा राधाचरणद्वयी मम गतिर्लास्यैक लीलामयी ॥२०६
सान्द्रप्रेमरसौघवर्षिणी नवोन्मीलन्महामाधुरी,
साम्राज्यैकधुरीणकेलिविभवत् कारुण्यकल्लोलिनी ।
श्रीवृन्दावनचन्द्रचित्तहारिणी बन्धस्फुरद्वागुरे,
श्रीराधे नवकुञ्जनागरी तव क्रीतास्मि दास्योत्सवैः ॥२०७
स्वेदापूरः कुसुमचयनै र्दूरतः कण्टकाङ्को,
वक्षोजेऽस्यास्तिलकविलयो हन्त घर्माम्भसैव ।
ओष्ठः सख्या हिमपवनतः सव्रणो राधिके ते,
क्रूरास्वेवं स्वघटितमहो गोपये प्रेष्ठसङ्गम् ॥२०८
पातं पातं पदकमलयोः कृष्णभृङ्गेण तस्याः,
स्मेरास्येन्दोर्मुकुलितकुचद्वन्द्वहेमारविन्दम् ।
पीत्वावक्त्राम्बुजमतिरसान्नूनमन्तः प्रवेष्टु,
मत्यावेशान्नखरशिखया पाटचमानं किमीक्षे ॥२०९
अहो तेऽमी कुञ्जास्तदनुपमरासस्थलमिदं,
गिरीद्रोणी सैव स्फुरति रतिरङ्गे प्रणयिनी ।
न वीक्षे श्रीराधां हरि हरि कुतोऽपीति शतधा,
विदीर्य्येत प्राणेश्वरि मम कदा हन्त हृदयम् ॥२१०
इहेवाभून् कुञ्जे नवरतिकलामोहनतनो,
रहो अत्रानृत्यद् दयितसहिता सा रसनिधिः :
इति स्मारं स्मारं तव चरितपीयूषलहरीं,
कदा स्यां श्रीराधे चकित इह वृन्दावनभुवि ॥२११
श्रीमद् विम्बाधरे ते स्फुरति नवसुधामाधुरी सिन्धुकोटिः,
नेत्रान्तस्ते विकीर्णाद्भुतकुसुमधनुश्चण्डसत्काण्डकोटिः ।
श्रीवक्षोजे तवाति प्रमदरसकलासारसर्वस्वकोटिः,
श्रीराधे त्वत्पादाब्जात् स्रवति निरवधिप्रेमपीयूषकोटिः ।२१२
सान्द्रानन्दोन्मदरसघनप्रेमपीयूषमूर्त्तेः,
श्रीराधाया अथ मधुपतेः सुप्तयोः कुञ्जतल्पे ।

कुर्वाणाहं मृदु मृदु पदाम्भोजसंवाहनानि,
शय्यान्ते किं किमपि पतिता प्राप्नतन्द्राभवेयम् ॥२१३
राधा पदारविन्दोच्छलित नवरस प्रेमपीयूषपुञ्जे,
कालिन्दीकूलकुञ्जे हृदि कलितमहोदारमाधुर्य्यभावः।
श्रीवृन्दारण्यवीथीललितरतिकलानागरीं तां गरीयां,
गम्भीरैकानुरागां मनसि परिचरन् विस्मृतान्यः कदा स्याम् ।२१४
अदृष्ट्वा राधाङ्कोनिमिषमपि तं नागरमणिं,
तया वा खेलन्तं ललितललितानङ्गकलया।
कदाहं दुःखाब्धौ सपदि पतिता मूर्च्छितवती,
न तामाश्वास्यार्ता सुचिरमनुशोचेनिजदशाम् ॥२१५
भूयोभूयः कमलनयने किं मुधावार्य्यतेऽमौ,
वाङ्मात्रेऽपि त्वदनुगमनं नत्यजत्येव धूर्त्तः।
किञ्चिद्राधे कलकुचतटी प्रान्तमस्य प्रदीय,
श्चक्षुर्द्वारा तमनुपतितां चूर्णतामेतु चेतः ॥२१६
किं वा नस्तैःसुशास्त्रैः किमथ तदुदितै र्वर्त्मभिःसद्गृहीतै,
र्यत्रास्ति प्रेममूर्त्तेर्नहि महिमसुधा नापि भावस्तदीयः।
किम्वा वैकुण्ठलक्ष्म्याप्यहह परमया यत्र मे नास्ति राधा,
किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावनभुवि मधुरा कोटिजन्मान्तरेऽपि ।२१७
श्यामश्यामेत्यनुपमरसापूर्णवर्णौर्जपन्ती,
स्थित्वा स्थित्वा मधुरमधुरोत्तारमुच्चारयन्ती।
मुक्तास्थूलान्नयनगलितानश्रु विन्दून् वहन्ती,
हृष्यद्रोमा प्रतिपदचमत्कुर्वती पातु राधा ॥२१८
तादृङ्मूर्त्ति र्व्रजपतिसुतः पादयो र्मे पतित्वा,
दन्ताग्रेणाथ धृततृणकं काकुवादान् ब्रवीति।
नित्यं चानुव्रजति कुरुते सङ्गमायोद्यमं चे,
त्युद्वेगं मे प्रणयिनि किमावेदयेयं नु राधे ॥२१९
चलल्लीलागत्या क्वचिदनुचलद्धंस मिथुनं,
क्वचित् केकिन्यग्रे कृतनटनचन्द्रकयनुकृति।

लताश्लिष्टं शाखिप्रवरमनुकुर्वत् क्वचिदहो,
विदग्धद्वन्द्वं तद्रमत इह वृन्दावन भुवि । २२०
व्याकोशेन्दीवरमथ रुचा हारि हेमारविन्दं,
कालिन्दीयं सुरभिमनिलं शीतलं सेवमानम् ।
सान्द्रानन्दं नवनवरसं प्रोल्लसत् केलिवृन्दं,
ज्योतिर्द्वन्द्वं मधुरमधुरं प्रेमकन्दं चकास्ति ।।२२१
कदा मधुरसारिकाः स्वरसपद्यमध्यापयत्,
प्रदाय करतालिकाः क्वचन नर्त्तयत् केकिनम् ।
क्वचित् कनकवल्लरीवृततमाललीलाधनं,
विदग्धमिथुनं तदद्भुतमुदेति वृन्दावने ।।२२२
पत्रालिं ललितां कपोलफलके नेत्राम्बुजे कज्ज्वलं,
रङ्गं विम्वफलाधरे च कुचयोः काश्मीरजा लेपनम् ।
श्रीराधे नवसङ्गमाय तरले पादांगुलीपंक्तिषु,
न्यस्यन्ती प्रणयादलक्तकरसं पूर्णा कदा स्यामहम् ।।२२३
श्रीगोवर्द्धन एक एवभवता पाणौ प्रयत्नाद्धृतः,
श्रीराधातनुहेमशैलयुगले दृष्टेऽपि ते स्याद्भयम् ।
तद् गोपेन्द्रकुमार मा कुरु वृथा सर्वं परीहासतः,
कह्यॆवं वृषभानुनन्दिनि तव प्रेयांसमाभाषये ।।२२४
अनङ्गजयमङ्गलध्वनितकिङ्किणीडिण्डिमः,
स्तनादि वरताड़नैर्नखरदन्त घातैर्युतः ।
अहो चतुरनागरी नवकिशोरयोर्मञ्जुले,
निकुञ्जनिलयाजिरे रतिरणोत्सवोजृम्भते ।।२२५
यूनोर्वीक्ष्य दरत्रपानटकलामादीक्षयन्ती दृशौ,
वृण्वाना चकितेन सञ्चितमहारत्नस्तमं चापुचरः ।
सा काचिद् वृषभानुवेश्मनि सखीमालासुबालावली,
मौलिः खेलति विश्वमोहनमहासाद्गुण्यमाचिन्वती ।।२२६
ज्योतिः पुञ्जद्वयमिदमहोमण्डलाकारमस्या,
वक्षस्युन्मादयति हृदयं किं फलत्यन्यदग्रे ।

भ्रूकोदण्डं नक्रुतघटनं सत् कटाक्षौघवाणै:,
प्राणान् हन्यात् किमु परमतो भाविभूयो न जाने ॥२२७
भो: श्रीदामन् सुबलवृषभस्तोककृष्णार्ज्जुनाद्याः,
किं वोदृष्टं मम नु चकिता हग्गता नैव कुञ्जे ।
काचिद् देवी सकल भुवनाप्लावि लावण्यपुरा,
दूरादेवाखिलमहरत्त प्रेयसो वस्तुसख्यु: ॥२२८
गता दूरे गावो दिनमपि तुरीयांशमभजद्,
वयं यातुं क्षान्तास्तव च जननी वर्त्मनयना ।
अकस्मात्तूष्णीके सजलनयने दीनवदने,
लुठत्यस्यां भूमौ त्वयि नहि वयं प्राणिनिषव: ॥२२९
नासाग्रनवमौक्तिकं सुरुचिरं स्वर्णोज्ज्वलं बिभ्रती,
नानाभङ्गीरनङ्गरङ्ग विलसल्लीलातरङ्गावली ।
राधे त्वं समलोभयव्रजमणिं रत्नच्छटा मञ्जरी,
चित्रोदञ्चितकञ्चुकस्थगितयोर्वक्षोजयो: शोभया ॥२३०
अप्रेक्षेकृतनिश्चयापि सुचिरं हक्कोणतो वीक्षते,
मौने दार्ढ्यमुपाश्रितापि निगदेत्तामेव याहीत्यहो ।
अस्पर्शे सुधृताशयापि करयो धृ त्वा वहिर्यापये,
द्राधाया इति मानदुस्थितिमहं प्रेक्षे हसन्ती कदा ॥२३१
रसागाधे राधाहृदिसरसिहंस: करतले,
लसद्वंशश्रोतस्यमृतगुणसङ्ग: प्रतिपदम् ।
चलत् पिच्छोत्तंस: सुरचितवतंस प्रमदया,
स्फुरद् गुञ्जागुच्छ: सहि रसिकमौलिर्मिलतु मे ।२३२
अकस्मात् कस्याश्चिन्नववसनमाकर्षति परां,
मुरल्याधम्मिल्ले स्पृशति कुरुतेऽन्याकरधृतिम् ।
पतन्नित्यं राधापदकमलमूले व्रजपुरे,
तदित्थं वीथीषु भ्रमति स महालम्पटमणि: ॥२३३
एकस्या रतिचौर एव चकितचान्यास्तनान्ते करं,
कुर्य्यात् कर्षति वेणुनास्य सुदृशो धम्मिल्लमल्ली स्रजम् ।

धत्तेऽन्याभुजवल्लि मुत् पुलकितां संकेतयत्यन्यया,
राधायाः पदयोर्लुठत्यलममुं जानेमहालम्पटम् ॥२३४
प्रियांसे निक्षिप्तोत्पुलकभुजदण्डः क्वचिदपि,
भ्रमन् वृन्दारण्ये मदकलकरीन्द्राद्भुत गतिः।
निजां व्यञ्जन्नत्यद्भुत सुरत शिक्षां क्वचिदहो,
रहः कुञ्जे गुञ्जध्वनितमधुपे क्रीड़ति हरिः ॥२३५
दूरे स्पृष्टादि वार्त्ता न कलयति मनाङ् नारदादीन् स्वभक्तान्,
श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्नमिलति च हरेत् स्नेहवृद्धि स्वपित्रोः।
किन्तु प्रेमैक सीमां मधुररससुधासिन्धु सारैरगाधां,
श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते ॥२३६
सुस्वादुसुरसतुन्दिलमिन्दीवरसुन्दरं किमपि,
अधिवृन्दाटवि नन्दति राधावक्षोज भूषणं ज्योतिः ॥२३७
कान्तिः क्वापिपरोज्ज्वला नवमिलच्छ्रीचन्द्रिकोद्भासिनी,
रामाऽत्यद्भुतवर्णकाञ्चितरुचिर्नित्याधिकाङ्गच्छविः।
लज्जानम्रतनुः स्मयेन मधुरा प्रीणातिकेलिच्छटा,
सन्मुक्ताफलचारुहारसुरुचिः स्वात्मार्पणेनाच्युतम् ॥२३८
यन्नारदाजेशशुकैरगम्यं वृन्दावने वञ्जुलमञ्जुकुञ्जे।
तत्कृष्णचेतो हरणैकविज्ञ मत्रास्ति किञ्चित् परमं रहस्यम् ॥२३९
लक्ष्मीर्यस्य न गोचरी भवति यन्नापुः सखायः प्रभोः,
संभाव्योऽपि विरिञ्चि नारदशिव स्वायम्भुवाद्यैर्न यः।
यो वृन्दावननागरीपशुपतिस्त्रीभावलभ्यः कथं,
राधामाधवयोर्ममास्तु सरहोदास्याधिकारोत्सवः ॥२४०
उच्छिष्टामृतभुक्तवैवचरितंशृण्वंस्तवैव स्मरन्,
पादाम्भोजरजस्तवैव विचरन् कुञ्जांस्तवैवालयान्।
गायन् दिव्यगुणांस्तवैव रसदे पश्यं स्तवैवाकृति,
श्रीराधेतनुवाङ्मनोभिरमलैः सोऽहं तवैवाश्रितः ॥२४१
क्रीड़न्मीनद्वयाक्ष्याः स्फुरदधरमणीविद्रुमशोणिभार,
द्वीपायामान्तरालस्मरकलभकटाटोपवक्षोरुहायाः।

गम्भीरावर्त्तनाभिर्वहृलहरिमहाप्रेमपीयूषसिन्धोः,

श्रीराधायाः पदाम्भोरुहपरिचरणे योग्यतामेवमृग्ये ।।२४२

मालाग्रन्थन शिक्षया मृदुमृदु श्रीखण्डनिर्घर्षणा,

देशेनाद्भुतमोदकादि विधिभिः कुञ्जान्तसंमार्जनैः ।

वृन्दारण्यरहः स्थलीषु विवशाप्रेमार्त्तिभारोद्गमात्,

प्राणेशं परिचारकैः खलु कदा दास्यामयाधीश्वरी ।।२४३

प्रेमाम्भोधि रसोल्लसत्तरुणिमारम्भेण गम्भीरदृग्,

भेदंभङ्गिमृदुस्मितामृतनवज्योत्स्नाञ्चितश्रीमुखी ।

श्रीराधा सुखधामनि प्रविलसद्वृन्दाटवी सीमनि,

प्रेयोऽङ्के रतिकौतुकानि कुरुते कन्दर्पलीलान्निधिः ।।२४४

शुद्धप्रेमविलासवैभवनिधिः कैशोरशोभानिधि,

वैदग्धी मधुराङ्गभङ्गिमनिधिर्लावण्यसम्पन्निधिः ।

सौन्दर्यैक सुधानिधिर्मधुपतेः सर्वस्वभूतोनिधिः,

श्रीराधाजयतान्महारसनिधिः कन्दर्पलीलानिधिः ।।२४५

नीलेन्दीवरकान्तिलहरीचौरं किशोरद्वयं,

त्वय्येतत् कुचयोश्चकास्ति किमिद रूपेण मे मोहनम् ।

तन्मामात्मसखीं कुरु द्वितरुणीयं तौ दृढ़ं श्लिष्यति,

स्वच्छायामभिवीक्ष्य मुह्यति हरौ राधास्मितं पातु नः ।२४६

सङ्गत्यापि महोत्सवेत मधुराकारांहृदि प्रेयसः,

स्वच्छायामभिवीक्ष्य कौस्तुभमणौ सम्भूतशोकाक्रुधा ।

उत्क्षिप्तप्रियपाणि निष्ठ सुनयेत्युक्त्वा गतायावहिः,

सख्यैसास्रनिवेदनानि किमहं श्रोष्यामि ते राधिके ।।२४७

महामणिवरस्रजं कुसुमसञ्चयैरञ्चितं स्फुरन्मरकतप्रभाग्रथितमोहित श्यामलम् ।
महारसमहीपतेरिव विचित्रसिद्धासनं कदा नु तव राधिके कवरभारमालोकये ।

मध्ये मध्ये कुसुम खचितं रत्नदाम्ना निबद्धं,

मल्लीमालैयर्घन परिमलैर्भूषितं लम्वमानैः ।

पश्चाद्राजन्मणिवरकृतोदारमाणिक्यगुच्छं,

धम्मिल्लं ते हरिकरधृतं कर्हि पश्यामि राधे ।।२४९

विचित्राभिर्भङ्गीविततिभिरहो चेतसि परं,
चमत्कारं यच्छल्ललितमणिमुक्तादिलसितः।
रसावेशाद्द्वैतः स्मर मधुरवृत्ताखिलमहो-
ऽद्भुतस्ते नवकनकपट्टो विजयते ॥२५०

अहो द्वैधी कर्तुं कृतिभिरनुरागामृतरस,
प्रवाहैः सुस्निग्धे कुटिल रुचिरः श्याम उचितः।
इतीयं सीमन्ते नवरुचिरसिन्दुररचिता,
सुरेखा नः प्रख्यापयितुमिव राधे विजयते ॥२५१

चकोरस्ते वक्त्रामृतकिरणविम्बे मधुकर,
स्तव श्रीपादाब्जे जघन पुलिने खञ्जनवरः।
स्फुरन्मीनोजातस्त्वयि रस सरस्यां मधुपतेः,
सुखाटव्यां राधे त्वयि च हरिणस्तस्य नयनम् ॥२५२

स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा मृदुकरतलेनाङ्गमङ्गं सुशीतं,
सान्द्रानन्दामृतरसह्रदे मज्जतो माधवस्य।
अङ्के पङ्केरुहसुनयना प्रेममूर्त्तिः स्फुरन्ती,
गाढ़ाश्लेषोन्नमित चिवुका चुम्बिता पातु राधा ॥२५३

सदा गायं गायं मधुरतरराधाप्रिययशः,
सदा सान्द्रानन्दानवरसदराधारतिकथाः।
सदा स्थायं स्थायं नवनिभृतराधारतिवने,
सदा ध्यायं ध्यायं विवश हृदि राधापदसुधाः ॥२५४

श्याम श्यामेत्यमृतरस संस्राविवर्णान् जपन्ती,
प्रेमोत्कण्ठयात् क्षणमपि सरोमाञ्चमुच्चैर्लपन्ती।
सर्व्वत्रोच्चाटनमिव गता दुःख दुःखेन पारं,
काङ्क्षत्यहो दिनकरमलं क्रुध्यती पातु राधा ॥२५५

कदाचिद् गायन्ती प्रियरतिकलावैभवगतिं,
कदाचिद् ध्यायन्ती प्रियसहभविष्यद् विलसितम्।
अलं मुञ्चामुञ्चेत्यति मधुरमुग्धप्रलपितै,
र्नयन्ती श्रीराधा दिनमिह कदा नन्दयतु नः ॥२५६

श्रीगोविन्दव्रजवरबधूवृन्दचूड़ामणिस्ते,
कोटिप्राणाभ्यधिकपरमप्रेष्ठपादाब्जलक्ष्मीः।
कैङ्कर्य्येणाद्भुत नवरसेनैव मां स्वीकरोतु,
भूयोभूयः प्रतिमुहुरधिस्वाम्यहं प्रार्थयामि ॥२५७

अनेन प्रीता मे दिशति निज कैङ्कर्य्य पदवीं,
दवीयो दृष्टीनां पदमहह राधा सुखमयी।
निधायैवं चित्ते कुवलयरुचिं वर्हमुकुटं,
किशारं ध्यायामि द्रुतकनकपीतच्छविपटम्।

ध्यायं स्तंशिखिपिच्छ मौलिमनिशं तन्नामसंकीर्त्तय,
न्नित्यं तच्चरणाम्बुजं परिचरंस्तन्मन्त्रवर्यं जपन्।
श्रीराधा पददास्यमेव परमाभीष्टं हृदा धारयन्,
कर्हि स्यां तदनुग्रहेण परमोद्भूतानुरागोत्सवः ॥२५६

श्रीराधारसिकेन्द्ररूपगुणवद्गीतानि संश्रावयन्,
गुञ्जामञ्जुलहारवर्हमुकुटाद्यावेदयंश्चाग्रतः।
श्यामा प्रेषितपूगमाल्यनवगन्धाद्यैश्च संप्रीणयं,
स्त्वत्पादाब्जनखच्छटारसहृदे मग्नः कदा स्यामहम् ॥२६०

क्वासौ राधा निगमपदवी दूरगा कुत्र चासौ,
कृष्णस्तस्याः कुचमुकुलयोरन्तरैकान्तवासः।
क्वाहं तुच्छः परममधमः प्राण्यहो गर्हचकर्मा,
यत्तन्नाम स्फुरति महिमा ह्येष वृन्दावनस्य ॥२६१

वृन्दारण्ये नवरसकला कोमलप्रेममूर्त्ति,
श्रीराधायाश्चरणकमलामोदमाधुर्य्यसीमा।
राधां ध्यायन् रसिकतिलकेनात्तकेलीविलासं,
तामेवाहं कथमिहतनुं न्यस्य दासीभवेयम् ॥२६२

रा कालिन्दी त्वयि मम निधिः प्रेयसा खेलतासीद्,
भो भो दिव्याद्भुततरुलतास्तत्करस्पर्शभाजः।
हे राधाया रतिग्रहशुका हे मृगा हे मयूरी,
भूयोभूयः प्रणतिभिरहं प्रार्थयेवोऽनुकम्पाम् ॥२६३

वहन्ती राधायाः कुचकलसकाश्मीरजमहो,
जलक्रीड़ावेशाद्गलितमतुलप्रेमरसदमू ।
इयं सा कालिन्दीविकसितनवेन्दीवररुचि,
च्छटा मन्दीभूतं हृदयमिह सन्दीपयतु मे ॥२६४

सद्योगीन्द्रसुदृश्यसान्द्रारसदानन्दैक सन्मूर्त्तयः,
सर्व्वेऽप्यद्भुतसन्महिम्नि मधुरे वृन्दावने सङ्गताः ।
ये क्रूरा अपि पापिना नच सतां संभाष्य दृश्याश्च ये,
सर्व्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परम स्वाराध्यबुद्धि र्मम ॥२६५

यद्राधापदकिङ्करीकृतहृदा सम्यग्भवेद्गोचरं,
ध्येयं नैव कदापि यद्धृदि विना तस्याः कृपास्पर्शतः ।
यत् प्रेमामृतसिन्धुसाररसदं पापैकभाजामपि,
तद् वृन्दावनदुष्प्रवेशमहिमाश्चर्यं हृदि स्फूर्ज्जतु ॥२६६

राधाकेलिकलासु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने,
वत्स्यामि स्फुटमुज्ज्वलाद्भुतरसे प्रेमैकमत्ताकृतिः ।
तेजोरूपनिकुञ्ज एव कलयन् नेत्रादिपिण्डे स्थितं,
तादृक् स्वोचित दिव्यकोमल वपुः स्वीयं समालोकये ॥२६७

यत्र यत्र मम जन्मकर्मभि र्नारकेऽथ परमे पदे मम ।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली तत्रतत्रहृदिमे विराजताम् ॥२६८

क्वाहं मूढ़मतिः क्व नाम परमानन्दैक सारं रसं,
श्रीराधाचरणानुभावकथया स्यन्दायमानागिरः ।
लग्नाः कोमल कुञ्जपुञ्जविलसद् वृन्दाटवी मण्डले,
क्रीड़च्छ्रीवृषभानुजापदनखज्योतिश्छटाः प्रायशः ॥२६९

श्रीराधे श्रुतिभि र्बुधैर्भगवताप्यामृग्यसद्वैभवे,
स्वस्तोत्रस्वकृपात एव सहजायोग्योऽप्यहं कारितः ।
पद्येनैव सदापराधिनि महन्मार्गे विरुध्य त्वदे,
काशे स्नेहजलाकुलाक्षि किमपि प्रीतिं प्रसादी कुरु ॥२७०

अद्भुतानन्दलोभश्चेन्नाम्ना रससुधानिधिः ।
स्तवोऽयं कर्णकलशै र्गृहीत्वा पीयतां बुधाः ॥२७१

स जयति गौरपयोधिर्मायावादार्कतापसन्तप्तम् ।
हृन्नभ उदशीतलयत् यो राधारससुधानिधिना ।।२७२

इति श्रीश्रील प्रबोधानन्द सरस्वती गोस्वामिपाद विरचित:
।। श्रीश्रीराधारससुधानिधि: समाप्त: ।।
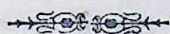
गुणै: सर्वैर्हीनोऽप्यहमखिलजीवाधमतमोऽ-
प्यशेषै र्दोषै: स्वैरपि च बलितोदुर्मतिरपि ।
प्रसादाद् यस्यैवाविदमहह राधां व्रजपते:,
कुमारं श्रीवृन्दावनमपि स गौरो मम गति: ।।

अहो ! मैं सकल गुणहीन निखिल जीवाधम एवं अशेष दोषों का आकर होने पर भी जिनकी अनुकम्पा से श्रीराधा, श्रीव्रजेन्द्रकुमार एवं श्रीवृन्दावन प्रभृति की महिमा अवगत होने में सक्षम हूँ । वह श्रीगौराङ्गदेव ही मेरा एकमात्र आश्रय हैं ।

श्रीवृन्दावन महिमामृतसप्तदशशतक (३)

* निवेदनम् *

श्रीप्रबोधानन्दसरस्वतीपादविरचित

—*—

श्रीराधारससुधानिधि ग्रन्थ के हस्तलिखित एवं मुद्रित अनेक ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध होने पर भी उक्त ग्रन्थ समूह से विशुद्ध पाठ निर्णय करना असम्भव होने के कारण श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती गोस्वामी पाद रचित ग्रन्थमाला नामक ग्रन्थ के आदर्श से ही पाठादि गृहीत हुआ। उक्त ग्रन्थ अकिञ्चन श्रीमत् पुरीदास महाशय सम्पादित है। प्रकाशन तिथि १३।७।५०। उक्त ग्रन्थ के सम्पादन विवरण में उक्त है—श्रीवृन्दावन वास्तव्य श्रीमद् वनमालि लाल महोदयात्मज श्रीमाधवलाल गोस्वामी महाशयस्य सौजन्येन संगृहीता १२६४ तम वङ्गाब्दे लिखिता करलिपिः। श्रीधाम वृन्दावनस्थ श्रीराधारमण घेराख्य पल्ली वास्तव्य श्री अद्वैत चरण गोस्वामिनः सकाशात् प्राप्ताकरलिपिः (ग) बम्बई श्रीवेङ्कटेश्वर मुद्रणालयतः १३१४ तम वङ्गाब्दे देवनागराक्षरं मुंद्रितोग्रन्थः। एलाटी श्रीभक्ति प्रभाकार्यालयतः १३३१ तम वङ्गाब्दे श्रीमधुसूदन तत्त्ववाचस्पतिना वङ्गाक्षरैः सम्पादितो मुद्रितोग्रन्थः। एष मङ्गलाचरणात्मकश्लोकः (ग) ग्रन्थे नास्ति" साउरी प्रपन्नाश्रमतः प्रकाशितस्य श्रीअजित गोस्वामि सम्पादितस्य श्रीहरिदास शास्त्रि सम्पादितस्येति ग्रन्थत्रयस्याप्यादर्शो गृहीत इति।

※ श्रीश्रीगोरगदाधरौ विजयेताम् ※

※ श्रीश्रीराधामदनमोहनदेवौ जयताम् ※

※ श्रीमद्भागवतीय-सप्ताशीतितमोऽध्यायः ※

श्रीश्रीमत् प्रबोधानन्दसरस्वतीपादविरचिता

श्रुतिस्तुतिव्याख्या

परीक्षिदुवाच—

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्द्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।

कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतःपरे ॥१

सान्वयव्याख्या

गौरगदाधरौ वन्दे कृष्णराधास्वरूपिणौ ।

यत् प्रसादान्नियुक्तोऽस्मि श्रुतिस्तुत्यर्थवर्णने ॥

श्रीपरीक्षित उवाच—

ब्रह्मन् ! अनिर्द्देश्ये (स्वरूप क्रिया जाति गुणैः निर्देष्टुमशक्ये) निर्गुणे (गुणातीते, नतु गुणरहिते) सदसतः परे (कार्य कारणाभ्यां) परस्मिन्नसङ्गे ब्रह्मणि गुणवृत्तयः (गुणत्रयाश्रयाः इत्यर्थः) श्रुतयः कथं साक्षात् चरन्ति (वर्त्तन्ते, अत्रायमभिप्रायः—पदार्थत्वायोगात् अपदार्थस्य च वाक्यार्थ त्वायोगान्न श्रुति गोचरत्वं ब्रह्मणः तत् कथमेव ? तत् प्रकारं वद इत्यर्थः ॥१

महाराज परीक्षित ने पूछा, हे ब्रह्मन् ! किसी वस्तु का वर्णन करने के लिए स्वरूप, क्रिया जाति एवं गुण को अवलम्बन कर उस वस्तु का निरूपण करना आवश्यक होता है, जिनको स्वरूप क्रिया, जाति एवं गुण द्वारा निर्देश

नहीं किया जाता है, अर्थात् ब्रह्म का आकार नहीं है, जाती भी नहीं है, गुण भी नहीं है, जो निर्गुण अथच गुण रहित नहीं है, जो कार्य कारण से अतीत हैं, अतएव मुख्य एवं गौणवृत्ति द्वारा भी वेद ब्रह्म को वर्णन करने में असमर्थ है, उस परब्रह्म में गुणाश्रय श्रुति समूह की प्रवृत्ति ब्रह्म को वर्णन करने के लिए कैसे हुई ? अर्थात् पदार्थ वह होता, द्रव्य, गुण, जाति और क्रिया, ब्रह्म में पदार्थत्व नहीं है। एवं पदार्थ और वाक्यार्थ का अयोग हेतु परमब्रह्म श्रुति गोचर नहीं हो सकता है तब ब्रह्म वेदवर्णित विषय कैसे हुआ, इस विषय का वर्णन आप सविशेष रूप से करें ॥१॥

श्रीराधाकान्तमधुरप्रेमोद्भूत्यैश्रुतिस्तुतिम्।
व्याख्याति बहुयत्नेन प्रबोधस्तज्जुषांमुदे ॥

१। (भा० १०।८६।५९) एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान् उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्। इत्युक्तम् तत्र सन्मार्गं निजस्वरूपं श्रीवृन्दावनविहारिश्रीराधादिपूर्ण विशुद्धोज्ज्वलरतिरूपव्रजसुन्दरीवृन्द वृन्दारिकाभिरमन्दकन्दर्पलीलारसैकमग्नं परममहाचमत्कारिरूपगुणादि-माधुरी निधानंसमादिश्येत्युक्तम्। वेदानांच परमतात्पर्य च तत्रैवेति च निवेदितम्। सद्भि र्भक्तै र्मार्ग्यते अन्विष्यते, परं ननु प्राप्यते, सद्विशुद्ध ब्रह्म, तदेवमार्गोयस्य, वेदान्तश्रवणादिना हि ब्रह्मानुभूय परमभक्त्या तत्रैव तद्घनरूपमनुसन्दधद्भिरेव प्राप्यते, नतु प्राकृत बुद्धिभिः, सन् उत्कृष्टः परम प्रगाढ़शुद्धरत्याख्यः, स च नित्य एव धीवृत्तावभिव्यक्तः सन्मार्गः प्रापको यस्येति वा, सतां स्वतः प्रमाणानां वेदानां मार्गं कृष्णाकारब्रह्मपरत्वम्, सद्भि र्वेदैर्वा मृग्यते तपोभिः प्राप्तुम्, वृहद्वामन पुराणे श्रुतीनां कृष्णप्राप्त्यर्थं तप उक्तः (गो० ता० २।५९) व्रजस्त्रीजनसम्भूता याः श्रुतयस्ता ब्रह्मणा श्रीकृष्णाख्येन सङ्गता इति तत्रार्थः। तत्र पृच्छति राजा ब्रह्मन्निति। अनिर्देश्ये शक्तिलक्षणाद्यविषये शुद्धब्रह्मणि कथं श्रुतयश्चरन्ति ? कथम्भूते ? सद् सतः परे, सद् ब्रह्म तद् भिन्न च सर्वं स्वरूपान्तरं कृष्णात् असत् प्राकृतं सर्वम् तत् उत्कृष्टे चरन्ति, दर्शन-स्पर्शनचेष्टां कुर्वन्ति श्रुतयः भावेन गोपीरूपं प्राप्ताः श्रुतयः श्रृण्वन्ति राधाकृष्णयो र्नवनिकुञ्जोदरे विहरतोः कन्दर्पनर्मालापान् यास्तत् प्रियसख्यः, तासां कृष्णविषये वृत्त्यसम्भवमाह-गुणवृत्तय इति

गुणकार्यै देहेन्द्रियादिभि र्वृत्तियासाम्, कृष्णस्तु निर्गुण: शुद्ध सच्चिदानन्दैक रसघनविग्रहस्तैन सह जड़ संसर्गाभावान्न च मायामयेन कृष्णस्वरूपविशेषेण सम्बन्ध इति वाच्यम् यत: साक्षाद् वर्त्तन्ते ।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती पाद आनन्दपूर्वक श्रुतिस्तुति की व्याख्या श्रीराधाकान्त के मधुर प्रेमलीला प्रतिपादक रूप में कर रहे हैं । दशमस्कन्ध के ८६।५६ अध्याय के अन्त में उल्लेख है, भक्तभक्तिमान् भगवान् श्रुतदेव बहुलाश्व के समीप में रहकर सन्मार्ग का उपदेश दिये पश्चात् निजधाम द्वारावती को लौट आये । इस प्रकार कहा गया है, उस वाक्य में सन्मार्ग का उपदेश दिये, इस सन्मार्ग शब्द से 'निज स्वरूप" श्रीवृन्दावनविहारी श्रीराधादि पूर्ण विशुद्ध उज्ज्वल रतिरूप व्रजसुन्दरीवृन्द, वृन्दारिका प्रभृति के साथ अमन्द कन्दर्प लीला रस निमग्न, परम महाचमत्कारि रूप गुणादि माधुरी का निधान रूप निजस्वरूप को कहकर ही द्वारावती को गये थे। वेदों का तात्पर्य भी उन रस निमग्न स्वरूप पर ही है,यह बात भी श्रीकृष्णजी ने अपने भक्तों को कही । साधु भक्तगण उस स्वरूप के खोज में लगे रहते हैं, किन्तु प्राप्त नहीं कर पाते हैं, कारण उन लीलारस निमग्न स्वरूप को प्राप्त करने का मार्ग ही सद् विशुद्ध ब्रह्म रूप हैं, सद्गुरु के समीप में अमाया से वेदान्तादि शास्त्र श्रवण एवं आचरण के द्वारा उसका अर्थरूप ब्रह्म को अनुभव करने के पश्चात् परम भक्ति का आविर्भाव होता है, अनन्तर परम भक्ति के द्वारा अन्त:करण परिभावित होने पर परम ब्रह्म का घनीभूत स्वरूप श्रीकृष्ण रूप का साक्षात्कार होता है । शरीर इन्द्रियों में आत्म बुद्धि सम्पन्न प्राकृत जन उनको जान नहीं पाते हैं । सन् शब्द का अर्थ अति उत्कृष्ट है, परम प्रगाढ़ विशुद्ध प्रीति नामक पदार्थ है, वह नित्य है, भगवान् के अन्त:करण स्वरूप ज्ञान आनन्द रूप है, यह भक्ति शक्ति भक्तगण के अन्त:करण में रहती है, भगवदिच्छा से भक्तजन के आनुकूल्य में रत सज्जन के हृदय में वह भक्ति शक्ति प्रेरणा रूप में आविर्भाव होती है। इस प्रकार भक्त हृदय के साथ साधक जब अपना हृदय को अभिन्न बना लेता है तब लीलायित विग्रह श्रीकृष्णचन्द्र का साक्षात्कार होता है, स्वत: प्रमाण रूप वेदों का मार्ग ही कृष्णाकार ब्रह्म पर है। सत् रूप वेदगण भी निरन्तर तपस्या द्वारा जिन लीलायित

विग्रह को प्राप्त करने का अभिलाष करते हैं। वृहद्वामन पुराण में वर्णित है- श्रुतिगण श्रीकृष्ण प्राप्ति के लिए तप किये थे। गोपाल तापनी में उक्त है, व्रजस्त्रीजन 'गोपीजन' रूप में उत्पन्न होकर ही श्रुतिगण परमब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ मिलित हुए थे। उस विषय में राजा परीक्षित पूछते हैं-हे ब्रह्मन्! शब्द का अर्थ, द्रव्य, गुण, जाति क्रिया है, शब्द इस अर्थ को प्रकाश करता है, शब्द वाचक है, और उक्त अर्थ चतुष्टय वाच्य है, द्रव्य परमेश्वर से आरम्भ कर मिट्टी तक सब वस्तु का नाम है, गुण द्रव्य में आश्रित होकर जो रहता है, जैसे ऐश्वर्य्य शब्द स्पर्श आदि धर्म का नाम है. जाति—वस्तु का समान धर्म ब्राह्मणत्व, मनुष्यत्व आदि किया, खाना, पीना रहना, जाना, सुनना आदि ब्रह्म शब्द से निर्दिष्ट नहीं होते हैं, इस अनिर्देश्य में शक्ति लक्षणा शब्द की वृत्ति सङ्केत सम्भव नहीं है, मुख्या वृत्ति एवं गौणी वृत्ति से भी शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन कर नहीं सकता उनमें अर्थ द्रव्य, गुण, जाति नहीं है, अतएव शक्ति लक्षणादि का अविषय शुद्ध ब्रह्म को श्रुतिगण कैसे वर्णन कर सकती है, ब्रह्म किस प्रकार है, सद् कारण एवं कार्य से भिन्न है, सद् ब्रह्म है, उससे भिन्न स्वरूप समूह प्राकृत है, अर्थात् कृष्ण से भिन्न समस्त वस्तु असत् अर्थात् प्राकृत है, अतएव उससे उत्कृष्ट वस्तु में श्रुतिगण रत होती है, दर्शन स्पर्शन विहारादि चेष्टा श्रुतिगण करती है, भाव से श्रुतिगण गोपीरूप को प्राप्त करती हैं, निकुञ्ज में श्रीराधाकृष्ण जब विहार करते हैं, कन्दर्प नर्म आलाप करते हैं, प्रिय सखीगण ही उसको सुन सकती हैं, कृष्ण के विषय में श्रुतिगण की सेवा की चेष्टा सम्भव नहीं है, क्योंकि वे सब गुण वृत्ति युक्त हैं, गुण का कार्य देहेन्द्रिय प्रभृति युक्त है, कृष्ण निर्गुण हैं, शुद्ध सच्चिदानन्द रसघन विग्रह है, उनके साथ जड़ संसर्ग नहीं है, मायामय कृष्ण स्वरूप के साथ उन सबका सम्बन्ध है, यह कहा नहीं जा सकता है, कारण श्रुतिगण साक्षात् रूप में वर्णन व्यवहार करती हैं ।।१।।

श्रीशुक उवाच—

बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः ।
मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च आत्मनेऽकल्पनाय च ।।२।।

सान्वय व्याख्या

श्रीशुक उवाच—

हे परम भागवत परीक्षित् ! प्रभुः (ईश्वरः) जनानां (अनुशायिनां जनानां) मात्रार्थं (विषयभोगार्थं, यद्वा मीयन्ते गुणाः कार्याणि गुणातीतानि चाभिरिति मात्राः श्रुतयः तदर्थं तद्धारणार्थं) च भवार्थं (भवः जन्मलक्षणं कर्म, तत प्रभृति कर्मकरणार्थं इत्यर्थः यद्वा-अभ्युदयार्थं, ब्रह्मलोकादचैश्वर्य प्राप्त्यर्थ मित्यर्थः) च आत्मने लोकान्तरगामिने, आत्मनः तल्लोक भोगायेत्यर्थः, यद्वा स्वस्वरूप प्राप्त्यर्थं, मोक्षार्थमित्यर्थः अकल्पनाय (कल्पना निवृत्तये, मुक्तये इत्यर्थः, यद्वा-भजनाय) च बुद्धीन्द्रिय मनः प्राणान् असृजत् (ससृजे, तं सगुणमेव गुणैरनभिभूतं सर्वज्ञं सर्वशक्ति सर्वनियन्तारं सर्वोपास्यं सर्वकर्म फल प्रदातारं सर्वकल्याणगुणनिलयं सच्चिदानन्दं भगवन्तं श्रुतयः प्रतिपादयन्तीत्यभिप्रायः ।।२।।

श्रीशुकदेव ने कहा—हे परम भागवत परीक्षित् ! ईश्वर अनुशयि जीवों के लिए विषय भोग, जन्म प्रभृति के लिए कर्म, आत्मा का परलोक भोग व मोक्ष के लिए बुद्धि, इन्द्रिय, मन व प्राण का सृजन किये हैं, अर्थात् सगुण होने पर भी गुणों के द्वारा अनभिभूत, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सर्वेश्वर, सर्व नियन्ता, सर्वोपास्य, सर्वकर्म फल प्रदाता, सर्वकल्याण गुण निलय सच्चिदानन्द उन श्रीभगवान् को प्रतिपादन श्रुतिगण करती हैं ।।२।।

यह श्रुति पञ्चविध हैं (१) लक्षण पर (२) ऐक्य पर (३) निषेध पर (४) उपासना पर (५) सृष्टि पर ।

शब्द की वृत्ति आठ प्रकार हैं, किन्तु किसी भी वृत्ति ब्रह्म में सम्भव नहीं है, ब्रह्म अपदार्थ है, तथापि समस्त श्रुति समस्त गुणों का आश्रय, किन्तु समस्त गुणों के द्वारा अवशीकृत, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता सर्वोपास्य, सर्वकर्म फलदाता, समस्त कल्याण गुणनिलय, सच्चिदानन्द भगवान् को प्रतिपादन करती है, लक्षण दो प्रकार हैं—तटस्थ व स्वरूप ।

(१)तटस्थ लक्षण—यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः जो सामान्य रूप से सबको जानता है, विशेष रूप से सबको जानता है जिनकी ज्ञानमय तपस्या चेष्टा है ।

(२) सर्वस्य वशी, ब्रह्म इन्द्रादि जिनके अधीन हैं, सब ही जिनके वश में हैं।

(३) एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत:। यह अक्षर पुरुष के प्रशासन में हे गार्गि ! सूर्यचन्द्र विधृत हैं।

(४) सर्वस्य ईशान:। सबके ईशान अर्थात् ईशिता हैं, नियन्ता हैं।

(५) य: पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तर:, पृथिवी यस्य शरीरं पृथिवी यं न वेद, य: पृथिवीम् अन्तर: यमयति, एष: ते आत्मा अन्तर्यामी अमृत:। जो पृथिवी में रहकर पृथिवी के अन्तर में है, पृथिवी जिनका शरीर है, पृथिवी जिनको नहीं जानती है, जो पृथिवी के अभ्यन्तरस्थ होकर पृथिवी का नियमन करता है, यह अन्तर्यामी अमृत सदैक रस आत्मा है।

(६) स अकामयत बहुस्याम् ! स ऐक्षत तत्तेज: असृजत। जिनसे आकाश उत्पन्न हुआ है, उन्होंने कामना की अनेक होने के लिए वह आत्मा सर्वज्ञ स्वभाव हेतु एक है, उन्होंने आलोचना की, उन्होंने तत् प्रत्यक्ष सिद्ध तेज की सृष्टि की, ईश्वर की कामनादि लोकों के उपकार हेतु हैं, इसलिए कल्याण गुणाभिव्यक्ति है।

स्वरूप पर श्रुति—

(१) सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म। (२) विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म।

जिनका व्यभिचार नहीं है वह सत्य ब्रह्म है। कारण उनमें असत्य नहीं है, अतएव विकार शून्य अत कारण हैं, कारण होने से कारक होगा, तब मिट्टी के समान अचित् रूपता प्राप्त होगा। इसका निराकरण के लिए कहा गया है, वह ज्ञान स्वरूप, ज्ञप्ति स्वरूप अर्थात् अवबोध स्वरूप है, लौकिक ज्ञान सान्त है अतएव वह अनन्त है। इस प्रकार से ब्रह्म का सच्चिदानन्दत्व सिद्ध हुआ है।

(१) तत्त्वमसि। तुम ही वह ब्रह्म हो। (सामवेदीय छान्दोग्य)
(२) प्रज्ञानं ब्रह्म। आत्मा ही ब्रह्म है। (ऋग्वेदीय ऐतरय)
(३) अहं ब्रह्मास्मि। मैं ही ब्रह्म हूँ। (यजुर्वेदीय वृहदारण्यक)
(४) अयमात्मा ब्रह्म। यह आत्मा ही ब्रह्म है। (अथर्ववेदीयमाण्डुक्य)

वह ब्रह्म ही तुम हो, तुम संसारी अन्य कुछ नहीं हो। तत्त्वमसि महावाक्य में 'तत्' व 'त्वम्' पद की एकता कही गई है। तत् व त्वम् पद के शक्यार्थ द्वारा ऐक्य का बोध नहीं हो सकता है अतएव लक्षणा द्वारा अर्थ करना होगा। लक्षण तीन प्रकार हैं, जहत् स्वार्थ लक्षणा, अजहत् स्वार्थ लक्षणा, जहत् अजहत् स्वार्थ लक्षणा, यहाँ पर शक्यार्थ को अन्तर्भुक्त करके अन्य अर्थ का बोध होता है। यहाँ पर अजहल्लक्षणा होती है, जैसे 'शोन: धावति' शोन शब्द का अर्थ लाल, लालवर्ण का दौड़ना सम्भव नहीं है, अतएव लक्षणा द्वारा अर्थ समझना होगा लाल घोड़ा दौड़ रहा है। किन्तु तत्त्वम् पद में अजहत् स्वार्थ लक्षणा सङ्गत नहीं है, कारण तत् पद का परोक्षत्व व त्वम् पद का अपरोक्षत्व विरुद्ध अर्थ होजाता है, उस प्रकार स्वार्थ को छोड़कर स्वार्थ सम्बन्धि लक्षणा द्वारा कुसुमितद्रुमागङ्गा गङ्गायां घोषः इस वाक्य की भाँति जहत् स्वार्थ लक्षणा नहीं हो सकती है, कारण तत्त्वमसि वाक्य में ऐक्य की बात कही गई है, अतएव जहदजहत् स्वार्थ लक्षणा द्वारा 'स: अयं देवदत्त:' इस वाक्य की भाँति त्व पदार्थ का अपरोक्षत्व तत् पदार्थ का परोक्षत्व विरुद्ध अंश को त्यागकर अनुगत चिदंश की एकार्थता हेतु निर्गुण में पर्यवसान होता है।

'स: अयं देवदत्त:' 'स:' शब्द का अर्थ विप्रकृष्ट देशकाल विशिष्ट वस्तु। (विप्रकृष्ट-विदूर) (सन्निकृष्ट समीपस्थ) अयं शब्द का अर्थ सन्निकृष्ट देशकाल विशिष्ट वस्तु। सन्निकृष्ट व विप्रकृष्ट एकार्थक नहीं है, अतएव विरोधी विशेषण को छोड़कर भाग लक्षणा द्वारा स: अयम्। यह पद द्वारा देवदत्त का स्वरूप प्रतिपादित होता है, उस प्रकार जीव परमार्थ से ब्रह्म होने पर भी अविद्या दोष हेतु असंसारि ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न संसारी आत्मा अपने को मानता है, उसको श्रुति कहती है 'तत् त्वम् असि तत् पद का अर्थ परोक्ष वस्तु एक, अद्वितीय, ईशिता, जगत् कारण, ब्रह्म। त्वम् पद का अर्थ अविद्या उपाधि युक्त नित्य अपरोक्ष प्रत्यक् आत्मा। परोक्ष व अपरोक्ष वस्तु परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न का एकत्व सम्भव नहीं है, अत: त्वं पद का अपरोक्षत्व परिच्छेदादि को छोड़कर तत् त्वम् पदद्वय सच्चित् एकरस अखण्ड निर्गुण आत्मतत्त्व प्रतिपादित होता है।

निषेध पर श्रुति (१) अस्थूलम्, अनणु वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है। अस्थूलादि वाक्य द्वारा स्थूलत्वादि उपाधि निषेध द्वारा साक्षात् ब्रह्म में पर्यवसान होता है। उपक्रम मे स्वसृष्टम् आदीय में सगुण, अतन्निरसनेन-फलन्ति वाक्य द्वारा अध्यारोप अपवाद द्वारा समस्त श्रुति ब्रह्म में पर्यवसित है।

उपासना पर श्रुति एवं सृष्टि पर श्रुति ब्रह्म पर है, गौण प्रवृत्ति सृष्टि पर की प्रवृत्ति यज्ञ के लिए है, (१) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। जिससे समस्त भूतों की उत्पत्ति हुई है।

(२) 'स ऐक्षत' उन्होंने आलोचना की, उनका यजन करो। मुख्या प्रवृत्ति–आगम अपायि सृष्ठि स्थिति लय निरूपण द्वारा ज्ञान साधन वैराग्य का विधान किया गया है। वैराग्य द्वारा निर्गुण ब्रह्म में पर्यवसान हुआ है, उपासना पर वाक्य उदरादि अवलम्बन से सगुण ब्रह्म का अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञान साधन का विधान होकर श्रुति ब्रह्म में पर्यवसित है। कर्मादि पर श्रुति –(१) यावज् जीवम् अग्निहोत्रम् जुहुयात् जब तक जीवित रहे अग्नि होत्र का अनुष्ठान करे। विविदिषा के लिए विनियोग—

(२) तम् एतम् वेदानुवचनेन यज्ञेन। स्वाध्याय द्वारा यज्ञानुष्ठान द्वारा उनको जानने की इच्छा करे, अतएव समस्त श्रुति ब्रह्म पर है।

२। सिद्धान्तमाह बुद्धीति जनानां कर्मिज्ञान्येकान्तभक्तानां प्रभुरसृजत्। विषयिणां भवार्थ भवो जन्म तत प्रभृति कर्म करणार्थम्। मात्रार्थमिन्द्रिय द्वारा विषय भोगार्थं प्राकृतमेव, मुमुक्षुणां शुद्धसत्त्वमयम्। अकल्पनाय मोक्षाय, रजस्तम क्षयएव हि सत्त्ववृत्या ब्रह्माकारया मोक्षः, एकान्तभक्तानां सच्चिदानन्दघनमाविष्कृतवानित्यर्थः। आत्मने निज श्रीविग्रहाय तद् दर्शन स्पर्शनाद्यर्थमित्यर्थः ॥२॥

प्रश्न का उत्तर एवं सिद्धान्त कहते हैं, कर्मी ज्ञानी, एकान्त भक्तों की बुद्धि आदि का सृजन प्रभु श्रीहरि ने किया है, विषयासक्त व्यक्ति पुनः पुनः जन्म प्राप्त करे, इसलिए कर्म की आवश्यकता है, इसलिए इन्द्रियादि की सृष्टि की है और इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण प्राकृत जन करे, इसलिए मुमुक्षुगण के बुद्धीन्द्रियादि शुद्ध सत्त्वमय हैं। अतएव मुक्ति के लिए बुद्धि

इन्द्रियों की सृष्टि की है, रजोगुण तमोगुण का क्षय होने पर सात्त्विक वृत्ति से ब्रह्माकार वृत्ति होने पर ही मुक्ति होती है, एकान्त भक्तों की बुद्धि इन्द्रियादि सच्चिदानन्दघन रूप में आविष्कार किया है, इससे श्रीहरि के श्रीविग्रह का दर्शन स्पर्शनादि वह भक्त कर सकेगा ॥२॥

सैषाह्युपनिषद्ब्राह्मीपूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद् यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥३॥

अन्वय व्याख्या

सा एषा ब्राह्मी ब्रह्मपरा—(उपाधिनिरसनद्वाराब्रह्मप्रतिपादनपरा) उपनिषत् (उपलक्षणावृत्त्या तात्पर्येण मुख्यया वृत्त्या वा ब्रह्मसमीपे निषीदति स्थिरतयावर्तते इत्युपनिषद: व्युत्पत्तिः) हि (एव) पूर्वेषां पूर्वजैः (श्रीसनकादिभिः) धृता (हृदिन्यस्ता नित्यमभ्यस्ता वा) यः श्रद्धया (आदरेण) तां धारयेत् सः अकिञ्चनः (निरस्तदेहाद्युपाधिः सन्) क्षेमं (परं पदं) गच्छेत् (प्राप्नुयात्) ॥३॥

हे परम भागवत परीक्षित् ! उपाधि निरसन द्वारा ब्रह्म प्राप्ति प्रतिपादन परा, लक्षणावृत्ति, तात्पर्य व मुख्यावृत्ति द्वारा जो ब्रह्म के समीप में स्थिर भाव से अवस्थान करता है, वह उपनिषत् है, पूर्वाचार्यगणों के भी पूर्वज अतिवृद्ध श्रीसनक प्रभृति उसको हृदय में धारण किये हैं, (नित्य अभ्यास किये हैं) जो जन व्यर्थ तर्क न कर श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा श्रद्धा से उक्त उपनिषत् को हृदय में धारण करेगा, वह व्यक्ति देहादि में जन्मकर्मादि अहङ्कार शून्य होकर परमपद को प्राप्त करेगा। उपनिषद्यते—जिसके द्वारा ब्रह्म प्राप्ति होती है वह उपनिषत् है, धर्म अर्थ काम परक उपनिषत् का त्रिवर्ग निष्ठ मरीच्यादि ऋषिगण ने अभ्यास किया था, ब्रह्मपरा उपनिषत् ब्रह्मनिष्ठ सनकादि धारण किये थे ॥३॥

३। सैषा हि एव, एषैव ब्राह्मी ब्रह्मविषया उपनिषद् रहस्यविद्येत्यर्थः ॥ (४-११) ।

यह उपनिषत् ही ब्रह्म प्रतिपादक उपनिषत् है, और यह ही रहस्य विद्या अर्थात् उत्तमाभक्ति विद्या है। (४।११)

अत्र ते वर्त्तयिष्यामि गाथां नारायणान्वितास् ।
नारदस्य च सम्वादमृषे र्नारायणस्य च ।।४।।

सान्वय व्याख्या

अत्र (एतत् प्रसङ्गे) नारदस्य च ऋषेः नारायणस्य च सम्वादं नाराय अन्वितां (नारायणः वक्तृत्वेन अन्वितो यस्यां तां) गाथां (इतिहासं) (तव समीपे) वर्त्तयिष्यामि (चिरमतीतामपि प्रवर्त्तयिष्ये वर्णयिष्यामीत्यर्थ वर्णयिष्यामीति पाठः स्पष्टः) ।।४।।

एतत् प्रसङ्गे श्रीनारद ऋषि एवं ऋषि श्रीनारायण सम्वाद रू श्रीनारायण कथित इतिहास तुम्हारे निकट कहता हूँ । परीक्षित् कृत प्रश्न पहले अन्यत्र भी हुआ था, वह गाथा अत्यन्त अतीत होने पर भी उसक कहेंगे नारायण शब्द से महदादि का सृष्टिकर्त्ता पुरुषत्रय का आश्रय एवं स जीवाश्रय को जानना होगा, ब्रह्माजी के वाक्य से (तुम्हीं नारायण हो) स्वय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का ही बोध होता है, उपक्रम उपसंहारादि में वह ही सर्वत्र ग्रन्थित है, उस इतिहास को कहूँगा, नारदजी के साथ कथोपकथन में उसका प्राकट्य हुआ । श्रीनारदजी परम भागवत हैं, अतः भगवत माहात्म कथन ही उद्देश्य है, श्रीनारद भगवत प्रिय हैं, आगे कहेंगे क्षीरोदशायी ए परव्योमाधिपति से पृथक् करने के लिए ऋषि नारायण शब्द का प्रयो हुआ है ।।४।।

एकदा नारदो लोकान् पर्यटन् भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ।।५।।
यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्मज्ञान शमोपेतमाकल्पादास्थित स्तपः ।।६।।

सान्वय व्याख्या

यः वै नारायणऋषिः नृणां क्षेमाय (ऐहिकाय मङ्गलाय) स्वस्त आमुष्मिकाय मङ्गलाय, यद्वा क्षेमाय अभवाय स्वस्तये, सुखाय अथवा क्षेमा सुस्थितये अभयरूपाय मङ्गलाय वा स्वस्तये समृद्धये मोक्षार्थं वा अस्मि

भारतवर्षे आकल्पात् (श्रीब्रह्मदिनप्रथमांशमारभ्य) धर्मज्ञान शमोपेतं (धर्म वर्णोचितः ज्ञानं आत्मनः प्रकृति पुरुषाभ्यां विलक्षणेनावलोकनं, शमः भगवन्निष्ठ चित्तता एभिरुपेतम्) तपः आस्थितः एकदा भगवत्प्रियः (श्रीभगवन्माहात्म्य श्रवणतः भगवतः प्रियः स नारदः) ऋषिंद्रष्टुं नारायणाश्रमम् (तत्राऽस्नैव प्रसिद्धं वदरिकाश्रमप्रदेशविशेषमित्यर्थः ययौ (गतवान्) ॥५-६॥

श्रीनारायण ऋषि इस भारतवर्षस्थ वदरिकाश्रम में श्रीब्रह्मा के जन्म दिन से जनता के ऐहिक सुख के लिए एवं परस्पर विश्वास स्थापन हो इस प्रकार मङ्गल के लिए लोक शिक्षार्थ वर्णाश्रमोचित धर्म, ज्ञान एवं भगवन्निष्ठ चित्तता युक्त तपस्या करते थे, एक दिन श्रीभगवन्नाम गुणलीला गान रत भगवत् प्रिय नारद सर्व भुवन परिभ्रमण करते हुए उन सनातन ऋषि श्रीनारायण ऋषि के दर्शनकी अभिलाषासे श्रीनारायण आश्रममें गये थे।५-६

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥७॥

सान्वय व्याख्या

हे कुरूद्वह ! (हे कुरुकुलतिलकः) तत्र (निजाश्रमे) उपविष्टं कलापग्रामवासिभिः ऋषिभिः परीतं (परिवृतं तं ऋषिं, श्रीनारदः) प्रणतः (सन्) इदं (ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये इतित्वया यत् जिज्ञासितं तत्) एव अपृच्छत् ।

हे महावंश जात कुरुकुलतिलक! तुम्हारे प्रश्न की समानता श्रीनारदजी के प्रश्न में है, उस प्रकार प्रश्न करने के लिए आप वदरिकाश्रम को गये, वहाँ जाकर आपने देखा कि निज आश्रम में धर्म प्रवचन करने के लिए वैराग्य एवं धर्माचरण व्यग्रता को छोड़कर जनकल्याण के लिए समस्त श्रेष्ठ ज्ञानी धार्मिकगण की सभा में उन सबके प्रश्न के अनुसार निर्णय देने के लिये उपविष्ट थे, श्रीनारदजी उनको प्रणाम किये और समस्त विज्ञ ऋषिगण के समक्ष में तुमने जो प्रश्न मुझ से किया वह प्रश्न ही श्रीनारदजी ने श्रीनारायण ऋषि से किया ॥७॥

तस्मै ह्यवोचद् भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥८॥

सान्वय व्याख्या

यः ब्रह्मवादः (ब्रह्मणि वेदविषये वादः तत्त्वबुभुत्सार्थकरूपार्थः नतु जल्पवितण्डारूपः) जनलोकनिवासिनां पूर्वेषां (पूर्वाचार्याणां श्रीसनकादीनां आसीत्) इदं भगवान् ऋषिणां (समक्षे) तस्मै (श्रीनारदाय) अवोचत् (उवाच) ॥८॥

महादयालु सर्वज्ञ भगवान् नारायण ऋषि समस्त ऋषिवर्ग के समक्ष में ही श्रीनारदजी को बोले थे, ब्रह्मवाद जो कि श्रुतिकी मुख्या वृत्तिसे प्रतिपादित होता है, वह तत्त्व निर्द्धारण रूपवाद कथा समस्त ऋषियों के सम्मत है, ऋषिगण के हृदय में वाद निःसन्दिग्ध रूपमें स्थित होने के कारण वे सब उस वाद कथा को सुनने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे, इस समय श्रीनारायण ऋषि ने कहा यह तत्त्व निर्णयात्मक श्रुति प्रतिपादित ब्रह्म कथा इसके पहले पञ्चम लोक 'जन' लोक में हुई थी, और उस सभा में जल्प वितण्डा वर्जित तत्त्व निर्णयात्मक कथा हुई थी, अर्थात् यह कथा सुनिश्चित रूप से जप, तप सत्यलोक में प्रसिद्ध है । जब व्यक्तिगत प्रयोजन को मिटाने के लिए प्रयत्न होता है, तब सात्त्विक वृत्ति नहीं होती है, सात्त्विक वृत्ति के अभाव से परम वृहद् वस्तु को जानने की इच्छा नहीं होती है, पृथिवी भुवलोक, स्वर्गलोक और महर्लोक में जीव स्वार्थ परायणता की शिक्षा में अभ्यस्त है, अतः जनलोक में इसकी कथा हुई ॥८॥

श्रीभगवानुवाच—

स्वायम्भुवः ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत् पुरा ।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्द्ध्वरेतसाम् ॥९॥

सान्वय व्याख्या

श्रीभगवान् उवाच—

स्वायम्भुव ! (हे ब्रह्मपुत्र नारद !) पुरा जनलोके (तत्रस्थानां ऊर्ध्वरेतसां) (नैष्ठिक ब्रह्मचारिणामित्यर्थः) मानसानां (श्रीब्रह्ममनोजातानां) मुनीनां ब्रह्मसत्र अभवत् ॥९॥

श्रीभगवान् ऋषि नारायण कहते हैं, हे स्वायम्भुव नारद ! पूर्वकाल में जनलोक निवासी नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्रीब्रह्मा के मानस पुत्र मुनि सकल के ब्रह्म सत्र नामक एक यज्ञ हुआ था, जिस यज्ञ में यजमानगण समान रूप से ऋत्विक्गण के साथ यज्ञादि कर्म करते हैं, उसको कर्म सत्र कहते हैं, जहाँ पर वक्ता एवं श्रोता समान योग्यता सम्पन्न होकर ब्रह्म वृहद् वस्तु का परिचायक वेदादिशास्त्रों की आलोचना कर निर्णय हेतु एक योग्य व्यक्ति वक्ता एवं अपरतुल्य योग्यता सम्पन्न व्यक्तिगण श्रोता होते हैं उसको ब्रह्म सत्र कहते हैं, यहाँ पर स्थान का प्राधान्य नहीं है, किन्तु विशुद्ध जन्म एवं तदुचित कर्म का ही महत्त्व के लिए कारण है, हीन कुलोत्पन्न एवं तदुचित हीन शिक्षा सम्पन्न व्यक्ति स्वार्थ परायण होता है, उसमें वृहद् होने के लिए भारतीय संस्कृत भाषाबद्ध वेदादि शास्त्राध्ययन में रुचि नहीं होती है, अतएव स्वायम्भुव, मानस पुत्र, मुनि, ऊर्द्धरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी उन सबका परिचायक शब्द दिया गया है, यह सत्र प्रथम कल्प के सर्व आदि समय में ही हुआ था ।।९।।

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टे तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।
तत्र हायमभूत् प्रश्न स्त्वं मां यमनुपृच्छसि ।।१०।।

मान्वय व्याख्या

त्वयि तदीश्वरं (श्वेतद्वीपाधीश्वरं अनिरुद्धमूर्त्तिमामेवद्रष्टुं श्वेतद्वीपं गतवति (सति) तत्र (जनलोके) प्रश्नः ह (स्फुटं) अभूत् यं त्वं मां अनुपृच्छसि यत्र ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयः शेरते (समन्विताः) भवन्तोत्यर्थः ।।१०।।

श्रीनारायण ऋषि बोले—हे नारद ! तुम मेरा अंश स्वरूप श्वेत-द्वीपाधिपति श्रीअनिरुद्ध मूर्त्ति दर्शन के लिए श्वेतद्वीप जब गये थे, तब जन-लोक में श्रुतिगण जहाँ पर विश्राम करती हैं, इस प्रकार ब्रह्मतत्त्व निर्णयात्मक प्रश्न, जो तुम ही मेरे पास अब पूछ रहे हो हुआ था और यह प्रश्न कर्त्ता सनकादि थे, उस ब्रह्मवाद में समस्त श्रुतियों की सुमीमांसा है, तुम्हारे प्रश्न के पहले और किसी ने इस विषय का प्रश्न नहीं किया ।

जिस समय प्रत्येक व्यक्ति निजनिज अधिकारोचित कर्त्तव्य में रत होता है, एवं सकलजन सुखी होते हैं, तब ही वीतराग मुनिगण ब्रह्म तत्त्व निरूपण में मनोनिवेश करते हैं; श्रुतिगण प्रतिपाद्य ब्रह्म तत्त्व विषय में कुछ भी सन्देह का अवकाश नहीं है, तथापि समयोपयोगि व्याख्या विशेष को देखकर कल्याण गुणगण रत्नाकर श्रीहरि के प्रति लोक सन्दिग्ध हो जाते हैं, इसलिए श्रुतिगण के ब्रह्मवाद विचार सन्दर्भ अतीव उपादेय है, यह उत्तम प्रश्न है, जो तुम मुझ से पूछ रहे हो ।।१०।।

तुल्यश्रुततपः शीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।
अपिचक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ।।११।।

सान्वय व्याख्या

ते (मुनयः) तुल्यश्रुततपः शीलाः (तुल्यं श्रुतं शास्त्राभ्यासः तपः चित्तैकाग्रता शीलं शान्त्यादिस्वभावः येषां तथोक्ताः) तुल्यं स्वीयारिमध्यमाः (स्वपक्ष विपक्ष तटस्थ पक्षरहिताः) अपि एक (श्रीसनन्दनं) प्रवचनं (प्रवक्तारं) चक्रुः अपरे (श्रीसनकादयः) शुश्रूषवः (श्रोतुमिच्छवः) बभूवुः कौतुकेन श्रीनन्दनं प्रवक्तारं कृत्वा श्रीसनकादयः पप्रच्छुरित्यर्थः ।।११।।

तत्रस्थ ऋषिगण शास्त्राभ्यास तपस्या एवं स्वभाव में तुल्य स्वपक्ष विपक्ष तटस्थ पक्षरहित होकर भी एक श्रीसनन्दन को प्रवक्ता बनाकर श्रीसनक प्रभृति ऋषियों ने प्रश्न किया। जनलोक में जितने ऋषिगण ब्रह्म विचार के लिए एकत्र हुये थे वे सबके सब सर्वज्ञ थे, शास्त्राभ्यास, अध्ययन एकाग्रचित्त शान्तदान्त प्रभृति स्वभाव सम्पन्न एवं अरिमित्र उदासीन भाव वर्जित निरुपम करुणा युक्त होने के कारण ब्रह्म विषयक आलोचना में योग्य अधिकारी थे, मात्सर्य वर्जित होने के कारण आनन्द से ही श्रीसनन्दन को प्रवचन करने का भार दिया एवं सनकादि ऋषिगण उक्त विषय को सुस्पष्ट रूप में जानकर विश्ववासी को अवगत कराने के लिए ही शिक्षावतार का कार्य किया ।।११।।

सनन्दन उवाच—

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ।
तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥१२॥

सान्वय व्याख्या

श्रीसनन्दन उवाच–

स्व सृष्टं (स्वयं निर्म्मितं) इदं (विश्वं) आपीय (रसादि पानवत् अनायासेनैवान्तर्निधायेत्यर्थः) शक्तिभिः त्रिगुण तत् कार्य महदादिभिः किम्वा लक्ष्म्यादिभिः) सह (साकं, अथवा शक्तिभिः तत्तच्छक्तिमय पुरुषादिनिजा वतारैः सह मिलित्वा एकीभूयेत्यर्थः) शयानं (जगत् कार्य प्रति निद्राणं इव कृतानवधानं) परं (परमेश्वरं) तदन्ते (प्रलयान्ते-सृष्टि प्रारम्भे प्रथमनिःश्वास सम्भूताः)श्रुतयः तल्लिङ्गैः (तत् प्रतिपादकैः वाक्यैः) बोधयाञ्चक्रुः (पुनः विश्व सृष्ट्यामवधापयाञ्चक्रुरित्यर्थः ॥१२॥

श्रीसनन्दन ने कहा स्वनिर्मित इस विश्व को रसालादि पान करने की भाँति अनायास अन्तःस्थल में स्थापन कर निज शक्ति के साथ मिलित होकर निद्रित की भाँति जगत् कार्य के प्रति अनवहित उस परमेश्वर को प्रलय के अन्त में प्रथम निःश्वाससम्भूत श्रुतिगण ने उनके प्रतिपादक वाक्य समूह द्वारा पुनर्बार विश्व सृष्टि के लिए अवहित कराया। वेद स्वतः प्रमाण है, पुरुष वाक्य अप्रमाण है, कारण उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव ये चार दोष हैं, वेद भ्रम—अर्थात् संशय, प्रमाद अर्थात् अनवधानता, विप्रलिप्सा अर्थात् लोभ का आधिक्य, करणापाटक अर्थात् रोगादि द्वारा इन्द्रियगण के निज विषय ग्रहण करने का सामर्थ्याभाव है, वेद अपौरुषेय होने के कारण उक्त पुरुष दोष चतुष्टय उसमें नहीं है, अपौरुषेयता हेतु स्वतः प्रमाण है, यदि कहो कि "अस्य महतः भूतस्य निःश्वसितम् एतत् यत् ऋग्वेदः यजुर्वेदः ।" इसमें वेद ब्रह्मा से उत्पन्न है, ऐसा कहा गया है, किन्तु "वाचा विरूप नित्यया" श्रुत्यन्वय द्वारा वेद का नित्यत्व सूचित हुआ है। ईश्वर पूर्व पूर्व कल्प के अनुसार रचना करते हैं, अभिनव रचना करते हैं, इस प्रकार अपौरुषेयत्व देवता विग्रह भुवन कोश प्रतिपादक श्रुति की आदिमत्ता नहीं

है, धाता चन्द्र सूर्य की कल्पना यथा पूर्व ही करते हैं। इस प्रकार प्रति कल्प की सृष्टि समान है, व्रीहि के समान संसार अनादि है, अतएव वेद भी जाति शब्द के समान ही है ॥१२॥

भगवान् सच्चिदानन्द-मात्रैक रसघन विग्रहः परमो विशुद्ध-मधुररस साम्राज्यनिधिस्तदीयाश्च गोप्य स्तादृक् चिद्रसघनविग्रहविग्रहास्तदानन्द रसमखिलानन्द-तुच्छीकरणं पूर्ण शुद्धरतिमूर्त्ति राधासख्यभावेनास्वादन्तीति निवेदितम्। स्वसृष्टं निजाश्चर्य वैदग्ध्यरचितम्. नतु कामतन्त्रेषु प्रसिद्धम्। इदं कन्दर्प विलसितं नित्यसिद्धमेव ममेदानीमपरोक्षतया भासमानम्। 'इः' कामः तस्य 'दा' शुद्धि र्यत्र तादृशम्, शुद्धकन्दर्परसमयमित्यर्थः, आपीय उपहृत्य शयानं निद्रां गतम्, शक्तिभिः सह निद्रावस्थायामपि सूक्ष्मरूप विलास युक्त मित्यर्थः, शक्तिभिः श्रीराधया सहेति वा सैव हि सर्वप्रेम शक्त्यात्मिका, तदंशत्वादन्यसमस्त रसशक्तेः श्रृङ्गार रसेऽभ्यर्हितत्वाद्वा बहुवचनम्, राधा तत् सख्यभिप्रायेण वा बहुवचनम्। तदा राधास्तस्योरस्येव सुप्ता, सख्योऽपि यत्र स्थितास्तद्विलासं पश्यन्त स्तत्रैवाञ्चलं निपात्य शयिता इति। यद्वा, स्वसृष्टं स्वस्मै सृष्टं राधाधर सुधारसमापीय, नहि तदन्यास्वाद्यं विना विशुद्ध कन्दर्परसैकमूर्त्ति श्रीवृन्दावननागरं शक्तिभिस्तत् क्रीड़ा शक्तिभिः सह शयानम् ता अपि तदा निर्वृत्तिका जाताः—श्रमवशाद् इत्यर्थः। तदन्ते तस्या निद्राया अन्तोऽवसानं यत्र तस्मिन् प्रातः समय इत्यर्थः। क्रीड़ाशक्तीनां तदवस्थाया अपगमे वा, बोधयामासु जागरयामासुः, तल्लिङ्गैः प्रातः समयलिङ्गैः, स एव लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते यै र्वाक्यैस्तैरित्यर्थो वा निद्रागतं कथं प्रबोधितवत्यः? तत्राह परम्, व्याप्रियत इति परम् निर्व्यापारता तस्यापि नेष्टेति भावः परं परमानन्द रूपं वा ॥१२॥

भगवान् केवल सच्चिदानन्द रसघनविग्रह परम विशुद्ध मधुर रस साम्राज्य निधि हैं, गोपीगण उनकी स्वरूप शक्ति स्वरूप हैं, उन सबके शरीर भी भगवान् के शरीर की भाँति केवल सच्चिदानन्द रसघन विग्रह हैं, वह आनन्द रस है, उससे पृथक् निखिल आनन्द को तुच्छ बनाने वाला होता है, उस आनन्द का पूर्ण शुद्धरति मति श्रीराधा-सख्य भाव से आस्वादन करती रहती है, पहले इसको कहा गया है। निज सृष्ट निज आश्चर्य वैदग्ध्य रचित

काम तन्त्र में प्रसिद्ध कला विलास को नहीं, यह अप्राकृत कन्दर्प विलसित नित्य सिद्ध ही है, आस्वादन के समय अपरोक्ष रूप में प्रतिभात होता है, 'इद मापीय' का अर्थ 'इ' काम, उसकी 'दा' शुद्धि जिस लीला में होती उस प्रकार शुद्ध कन्दर्प रसमय लीला। आपीय, लीला को समेट कर सो गये, निद्रित हो गये, शक्ति के साथ निद्रित होने पर भी निद्रावस्था में सूक्ष्म रूप विलास विद्यमान रहता है। शक्ति श्रीराधा के साथ, श्रीराधा ही सकल प्रेमशक्ति स्वरूपा है, अन्य समस्त रस शक्ति उनका अंश है, सकल रस शृङ्गार रस में अन्तर्भूत होने के कारण बहु वचन प्रयोग है, राधा एवं उनकी सखियों को सूचित करने के लिए बहु वचन का प्रयोग हुआ है, उस समय श्रीराधा पुरुषोत्तम के वक्षःस्थल में ही निद्रिता रही। सखीगण भी जहाँ पर रहीं वहीं पर उन दोनों के विलास को देखकर अपने आँचल को बिछाकर सो गयीं अथवा स्वसृष्टः-स्वयमास्वादन करने के लिए प्रोत्साहित कर श्रीराधा को प्रवृत्त किये, पश्चात् श्रीराधा का अधर सुधारस को आस्वादन कर ही निद्रित हुए। विशुद्ध कन्दर्प रस मूर्त्ति श्रीवृन्दावननागर, श्रीराधा एवं अन्य सखियों के सुधारस का आस्वादन कर ही शयन करते हैं, उनकी क्रीड़ा शक्तियों के साथ ही शयन करते हैं, विलासश्रम से क्लान्त होने के कारण शक्तिगण भी सो गयीं, जिस समय उनकी नींद टूटी, उस प्रातःकाल में अथवा क्रीड़ा शक्तियों की निद्रा अवस्था हट जाने पर प्रातःकाल को जानकर वे सब श्रीराधा नन्दकिशोर को जगाने लगीं। जिस वाक्य से श्रीराधा नन्दकिशोर प्रातःकाल हुआ है, यह जान जायेंगे। उस प्रकार वाक्य का प्रयोग उन सबों ने किया। सुखपूर्वक सोने वाले को उन्होंने क्यों जगाया ? उत्तर देते हैं—परम जो निरन्तर परहित कर कार्य में रत रहते हैं, उनको परम कहा जाता है, सर्व जनगणानन्ददायक प्रभु निश्चेष्ट रहें, यह श्रीराधा नन्दकिशोर एवं उनके परिकरगण पसन्द नहीं करते हैं, परम शब्द का परमानन्द रूप अर्थ भी होता है, जो निरन्तर परहित कर कार्य करके ही सुखी होते हैं, वह निश्चेष्ट कैसे रहेगा ॥१२॥

यथा शयनं सम्राज बन्दिनस्तत्पराक्रमैः।

प्रत्युषेऽभ्येत्य सुश्लोकै र्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥१३॥

सान्वयव्याख्या

यथा अनुजीविनः (सेवकाः) वन्दिनः (स्तुतिपाठकाः) प्रत्यूषे अभ्येत्य (आगत्य) शयनं (निद्रितं) सम्राजं (चक्रवर्त्तिराजानं) तत् पराक्रमैः (तस्य सम्राजः पराक्रमः प्रभावः यत्र तैः) सुश्लोकैः (शोभनैः पद्यैः यद्वा सु शोभनाः श्लोकाः कीर्त्तयः येषु तथोक्तैः पराक्रमैः) बोधयन्ति। श्रीकृष्णे कथं श्रुतयः चरन्तीति प्रश्नस्य भक्त्यैव चरन्तीति उत्तरमुक्तं तदेव श्रीकृष्णैकपरत्वमाह। स्व सृष्टं इदं (धर्मवर्त्म) आपीय समाच्छाद्य शक्तिभिः (शक्तिरूपाभिः श्रीराधाचन्द्रावल्यादिभिः) सह शयानं (निकुञ्जादौ निद्रां भजन्तं) परं (पुरुषोत्तमं श्रीकृष्णं) तदन्ते (तस्याः निशायाः अन्ते शेषे) श्रुतयः (गोपीभावं प्राप्ताः) तल्लिङ्गैः (बोधोचितैः वचोभिः) बोधयाञ्चक्रुः (जागरयामासुः) ॥१३

जिस प्रकार स्तुति पाठक सेवकगण प्रभातकाल में आकर निद्रित चक्रवर्त्ति नृपतिगण को उनके पराक्रम सूचक सुश्लोक द्वारा जागरित करते हैं, श्रीकृष्ण में श्रुतिगण किस प्रकार वर्णन कर सफल होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में सब भक्ति के द्वारा ही श्रीकृष्ण का वर्णन करते हैं, इस प्रकार उत्तर देकर उन सब की परायणता के विषय का उल्लेख करते हैं, स्व सृष्टा, यह धर्ममार्ग को आच्छादन पूर्वक शक्ति रूपा श्रीराधा चन्द्रावली प्रभृति के साथ निकुञ्ज प्रभृति कानन में निद्रित पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को रात्रि के अवसान में गोपीभाव प्राप्त गोपीगण बोधनोचित वाक्य द्वारा जागरित करने लगीं ॥१३॥

१३। न केवलं सख्यो जागरयामासुः, शुकसारिकादयोऽपि, तदनु जीविनः समीचीनैस्तद् विलास वर्णन श्लोकैर्बोधयन्तीत्याह—यथेति। यथावत् शयानं क्रीड़ा श्रान्त्या यथा शयितुमुचितम्, तथैव रसमय शयनं कुर्वन्त मित्यर्थः संमील्य प्राण प्रेयस्या श्रीराधया राजत इतितम्। तत् परा- श्रीराधाकृष्ण परायणाः सख्यस्तासां क्रमैः मुख्यतम–मुख्यतर–मुख्य-तदनुगत सखीवृन्द प्रबोधन क्रमेण शुकादयोऽपि स्तुतिपराः प्रबोधयन्ति स्मेत्यर्थः। यद्वा, स्व सृष्टमित्यादि यथेत्यादि श्लोकद्वयेनश्रुतिरूप गोपीनां नित्य गोपीनाञ्च बोधकत्व मुक्तम्। अत्र च पञ्चविधा गोप्यः प्रोक्ताः, (१) नित्या- विर्भूत-स्वरूपाः अपरा (२) गोपीभावोपासनया तद्रूपेण व्यक्ताः, ता अपि

श्रीराधाप्राणसखी सामान्यसखीत्वेनद्विधाः, अन्यास्तु (३) दण्डकारण्यवासि मुनयो रघुनाथ-काम भावं प्राप्तास्तद्वरेण गोप्योजाताः, (४) श्रुतयश्चापरा गोपीत्वं तपसा प्राप्ताः, (५) सुरस्त्रियश्च पराश्चन्द्रकान्तिरूपा परम रति शीलया राधया अनुग्रहाद् गोपीरूपेण व्रजे प्रकटा इति ।।१३।।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को केवल सखीगणों ने ही नहीं जगाया, किन्तु शुक सारिका प्रभृति क्रीड़ा विलास रसास्वादन परायण ने भी समीचीन श्रीकृष्ण विलास वर्णनमय श्लोक द्वारा ही उनको जगाया, उसको दृष्टान्त द्वारा कहते हैं, क्रीड़ा क्लान्त होकर जिस प्रकार सुखपूर्वक सोना आवश्यक है, उस प्रकार रसमय शयन में विराजित श्रीकृष्ण को निद्रित प्राणप्रिया श्रीराधा के साथ विराजित श्रीनन्दकुमार को, तत्परा श्रीराधाकृष्ण परायणा सखीगण क्रमपूर्वक मुख्यतम्, मुख्यतर, तदनुगत सखीवृन्द प्रबोधन क्रम से स्तुति परायण शुकादि भी श्रीनन्दनन्दन को प्रबोधित कर रहे थे ।

अथवा यथा सृष्ट मित्यादि, यथेत्यादि दोनों श्लोकों से श्रुति रूपा गोपी एवं नित्य गोपियों का बोधन क्रम सूचित हुआ है, इस प्रकरण में पञ्चविध गोपियों का वर्णन है, प्रथम नित्याविर्भूत स्वरूप, द्वितीय गोपी-भावोपासना से गोपीदेह सम्पन्न वे सब दो प्रकार के होते हैं—श्रीराधा प्राणसखी अपरा सखी सामान्य गोपीरूप, तृतीय दण्डकारण्यवासी मुनि श्रीरघुनाथ के वर से गोपीदेह सम्पन्न, चतुर्थ श्रुतिगण तपस्या द्वारा जिन्होंने गोपीदेह प्राप्त किया । पञ्चम सुरस्त्रीगण, चन्द्रकान्ति प्रभृति जिन्होंने परम रतिशीला श्रीराधा के अनुग्रह से व्रज में गोपी होकर जन्म ग्रहण किया ।।१३

श्रुतयः ऊचुः—

जय जय जह्यजामजितदोषगृभीत गुणां,
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते,
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ।।१४।।

सान्वयव्याख्या

श्रीश्रुतयः ऊचु—

अजित ! (हे मायाद्यनभिभूत !) जय जय (स्वीय सर्वोत्कर्षमाविष्कुरु, आदरेण, हर्षेण वा द्विरुक्तिः) अगजगदोकसां (अगानि स्थावराणि जगन्ति जङ्गमानि च ओकांसि शरीराणि येषां जीवानां तेषां) दोष गृभीत गुणां (दोषाय आनन्दाद्यावरणाय गृभीना गृहीता गुणा यया तां) अजां (अविद्यां) जहि (नाशय) यत् (यतः) त्वं आत्मना (स्वरूपेणैव) समवरुद्ध समस्त भगः (सम्प्राप्तसमस्तैश्वर्यः) असि, अखिल शक्त्यवबोधक ! क्वचित् (कदाचित् सृष्टादि समये) अजया (मायया) आत्मना (चिच्छक्त्या) च चरतः (क्रीड़तः) ते (तव) निगमः अनुचरेत् (प्रतिपादयेत्)।

अजित ! जय जय (स्वस्मिन् असन् दोषगृभीतगुणां) (दोषेण चरणामृत लीलावलोकाद्यनाविर्भाव रूपेण गृभीतः गृहीतः गुणः लीलात्वरूपः यस्यां तथोक्तां) अजां (निद्रां) जहि (त्यज) यत् (यतः) एवं आत्मना (स्वस्वरूपेणैव) समवरुद्ध समस्तभगः (सम्प्राप्तसर्वानन्दः असि, अगजगदोकसां (द्रुमादि भ्रमरादीनां) अखिलशक्त्यवबोधक ! क्वचित् (वत्सवत्सपाल हरणज पद्मयोनि मोहनादौ रास क्रीड़ादौ च) अजया (चिच्छक्त्यासर्वपार्श्वे विचरतः क्वचिच्च गोवर्द्धरणादौ) आत्मना एकेनैव स्वरूपेण, च चरतः ते (त्वामित्यर्थः) निगमः (श्रुतिः) अनुचरेत् (प्रतिपादयेत्)।

हे अजित ! आप स्वीय सर्वोत्कर्ष का आविष्कार करें, आप स्थावर जङ्गम शरीरधारि जीवगणों के देहादि का आवरक गुण विशिष्ट अविद्या का नाश करें, कारण आप स्वरूप द्वारा ही समस्त ऐश्वर्य सम्यक् रूप से प्राप्त कर चुके हैं। हे अखिल शक्त्यवबोधक ! आप सृष्टयादि के समय में जब माया व चिच्छक्ति के साथ क्रीड़ा करते हैं तब ही वेद आपको प्रतिपादन करते हैं।

हे अजित ! मङ्गल हो, मङ्गल हो, जो निद्रादोष गृहीत अथच लीलात्व गुण विशिष्ट उसको आप परित्याग करें। कारण आपने तो निज स्वरूप द्वारा ही समस्त आनन्द को सर्वतो भावेन प्राप्त कर चुके हैं। हे वृक्ष से लेकर भ्रमर पर्यन्त समस्त जीवों को अखिल शक्ति के अवबोधक ! वत्स

वत्सपाल हरणज ब्रह्म मोहनादि में एवं रास क्रीड़ादि में चिच्छक्ति सबके समीप में विचरणशील व गोवर्द्धनोद्धारादि में एकमात्र स्वरूप के द्वारा ही आप विचरणकारी हैं, आपका श्रुति प्रतिपादन करती है ॥१४॥

तत्र श्रुतय: व्रजराजकुमार भावाविष्टा अपि तत्तत्त्वज्ञान संस्कारवत्य:, न शुद्ध प्रेमरस स्वरूप कृष्णानुभवित्र्य, मिश्र प्रेमरसमय-कृष्ण सङ्गादि भाज. शुद्धरस प्राप्ति सोत्कण्ठा: शुद्धरसमय स्वरूपानुभवित्र्यश्चापरा:, उभयोऽपि जागरयन्ति । राधापि द्वयवस्थेति ज्ञातव्यम् ।

तत्र श्रुति रूपा एवं बोधयन्ति—जय जयेति, भो अजित ! अस्मदादिभि मेंत्रा मुनीश्वरादिभि: प्रसिद्धोद्धवार्जुनादिभिश्च ब्रह्मशिवादिभिश्च श्रियापि च न वशीकृत ! विशुद्ध प्रेमनिष्ठ स्वभावत्वात्तथैव हि त्वमत्रानन्यगावश्यो भवसि । जय जय अत्याद्दरेणीप्सा समस्त भगवत् स्वरूपोत्कृष्टं शुद्धरसमयं रूपं प्रकटीकुरु । तत्रैव च शक्तितो गुणतश्च परमानन्द चमत्कारतश्चो-त्कर्ष काष्ठापरमा । अजामविद्यां शुद्धरसमयगोपालरूपावरण कारिणीं जहि नाशय । ननु ब्रह्मस्वरूपावरणं नष्टम् परमेश्वर स्वरूपावरणं च नष्टमेवात-स्तन्निष्ठाया: परमानन्द साम्राज्य संभृताया: केवल गोपालरूप तल्लीला-स्फुरणे व्युतिरेव स्यात अतस्तदज्ञानं गुण एव ? तत्राह दोषायैव गृहीतोगुणो यया तत्तदावरणं ब्रह्मेश्वर निष्ठा निर्भरश्च दोष एव न गुण: । तत्र हेतु:— यद् यस्मात् त्वमात्मना स्वरूपेनैव सन्निधिमात्रत:, ननु ममेदमैश्वर्यमित्येव-मभिमानत:, सम्यक् सम्पूर्णतया महानिरंकुशतम रूपेण चावरुद्धं प्राप्तं समस्त, काम: सुखं यस्मात् । ब्रह्म त्वेश्वरत्वाज्ञानेऽपि केवल तद् विग्रह-स्फूर्त्यैव परमशुद्धभक्तै: प्राप्तं पूर्वसुखं यस्मात् । समित्यनेन महा-चमत्कारितया सम्यक्त्वमुक्तम् ।

यद्वा, हे समवरुद्ध ! सम्यगवनं प्रीति विशुद्ध भाव स्तेनैव रुद्ध वशीकृत ! यत स्त्वमात्मना केवलेनात्मना विशुद्ध रसमय श्रीविग्रहेणैव सम्यगस्तं क्षिप्तं भगं परमोत्कर्षसीम निजैश्वर्यं येन स्वस्व भक्तानां वा निज विग्रह दर्शन स्पर्शनाद्यानन्दावेशेन ब्रह्मानन्द ईश्वरानन्दो वा दूरं निरस्त-इत्यर्थ: । शुद्ध गोपाल रूपस्य सर्वात्मब्रह्मत्व तद्रूप भगवत्त्वादर्शिन: परम-महैश्वर्यमाह अगा. न गच्छन्ति कुत्रापि निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूपावस्थिता मुक्ता

इत्यर्थः। जगन्ति संसारचक्रे भ्रमन्तो जीवास्ते उभये श्रोकांसि स्थानानि येयाम्, भगवत् स्वरूपाणामन्तर्यामित्वेन सर्वेषु स्थितानां तेषामखिल-शक्तीनामबोधक स्त्वं परमात्यानन्दाख्यशक्तिः पूर्णा त्वयि शुद्ध गोपाल विग्रहे स्थिताः—अन्यामाञ्च सर्वासां शक्तीनां तदुपजीव्यत्वात् (तै० (२।७।१) को ह्येवान्यात् कः प्राण्यादेष ह्येवानन्दयाति इति श्रुतेः। अखिल शक्तीरव बोधयतीत्यखिलशक्त्यवबोधं तादृशं कं सुखमानन्दाख्य शक्ति र्यस्मिन्निति वा। एतादृशे समस्तभगवत् स्वरूपोत्कृष्टे नित्यपूर्णसुखसामान्यरूपाच्च ब्रह्मणोऽप्युत्कृष्टे शुद्धगोपाल स्वरूपे किं प्रमाणम्? तत्राहनिगमः (प्रमाणं) ते त्वामनुचरेद् बोधयेत्। आत्मा सर्वानन्दातिशयि-परमानन्द साम्राज्य-सारसिन्धुकोट्याकारेण विग्रहेण शक्ति गुणादिना च समस्त भगवदल्पता-पादकेनाजया च प्रपञ्चान्तर्वर्त्ति प्राकृत गोपतया दृश्यमानत्व रूपेण च चरतश्चरन्तं वर्त्तमानमिति ॥१४॥

श्रुतिगण व्रजराजकुमार के भाव में आविष्ट होकर भी तत्त्व ज्ञान संस्कारवती है, शुद्ध प्रेमरस स्वरूप कृष्णानुभववती नहीं हैं। किन्तु मिश्र प्रेमरसमय कृष्णसङ्गादि परायणा गोपीगण के शुद्धरस प्राप्ति के लिए उत्कण्ठावती हैं, शुद्धरसमय कृष्णस्वरूप के अनुभववती गोपीगण उससे भिन्ना हैं, इन दोनों ही मिलकर श्रीकृष्णचन्द्र को जगाती हैं। श्रीराधा की भी अवस्था द्वय है, यह जानना होगा। उसमें से श्रुतिरूपा गोपीगण इस प्रकार से श्रीनन्दकिशोर को जगाती हैं, जय जय हो हे अजित! हम सबों से मुनीश्वरादि द्वारा, प्रसिद्ध अर्जुन उद्धव प्रभृति द्वारा, ब्रह्माशिव प्रभृति द्वारा यहाँ तक कि लक्ष्मी के द्वारा भी आप वशीभूत नहीं हैं, आप विशुद्ध प्रेमनिष्ठ स्वभाव के हैं, अतः विशुद्ध प्रेमनिष्ठ स्वभाववती गोपीजन के द्वारा ही अवश्य परिपूर्ण रूप से वशीभूत होते हैं, जय जय, यह शब्द अति आदर से ही दो बार उच्चारित हुआ है। समस्त भगवत् स्वरूपोत्कृष्ट शुद्ध रसमय रूप का प्रकट करो। उसी रूप में ही शक्ति से, गुण से परमानन्द चमत्कार से उत्कर्ष की चरम काष्ठा परमासीमा है। अजा अविद्या जो शुद्धरसमय श्रीगोपाल रूप को आवृत करती है, उसको जहि नाश करो।

ब्रह्म स्वरूपावरण नष्ट हुआ है, और परमेश्वरावरण भी नष्ट ही हुआ

है, अतएव उससे सञ्जात परमानन्द साम्राज्य पूर्ण केवल गोपाल रूप तत्तत् लीला की स्फूर्त्ति होने पर स्वरूप की हानि होगी, अतएव गोपाल रूप का अज्ञान गुण होगा ? कहती है. दोष के लिए ही गुण को आपने ग्रहण किया है जिससे आपका स्वरूप आवृत रहता है, और ब्रह्मा शिव उसका अनुभव भी करते हैं, जो कि गुण नहीं है किन्तु दोष ही है। उसमें हेतु यह है आप स्वरूप से ही सन्निधि मात्र से ही किन्तु मेरा यह ऐश्वर्य है, इस प्रकार अभिमान से नहीं, सम्यक् सम्पूर्ण रूप से महानिरंकुशतमरूप से अवरुद्ध समस्त ऐश्वर्य को आपने प्राप्त किया है, एवं समस्त सुख काम प्रभृति को भी आपने प्राप्त किया है, ब्रह्मत्व ईश्वरत्व का ज्ञान न होने पर भी केवल आपके श्रीविग्रह की स्फूर्त्ति से ही परमशुद्ध भक्त से परम सुख को प्राप्त करते हैं, समस्त शब्द से महाचमत्कारी रूप से परिपूर्णत्व कथित हुआ है।

यद्वा—हे समवरुद्धा सम्यक् प्रकार से रक्षणीया प्रीति व विशुद्ध भाव उससे ही आप सम्यक् रूप से अवरुद्ध होते हैं, कारण आपने निज स्वरूप के द्वारा ही विशुद्ध रसमय श्रीविग्रह द्वारा ही समस्त भग–परमोत्कर्ष की सीमा रूप निजैश्वर्य को तिरस्कार किया है, निज भक्तों का भी ऐश्वर्य ज्ञान का विदूरित किया है, निज विग्रह दर्शन स्पर्शनादि का आनन्द आवेश से ब्रह्मानन्द ईश्वरानन्द को दूर भगाया है।

शुद्ध गोपाल रूप का सर्वोतम ब्रह्मस्वरूपत्व है, जो जन गोपालरूप को वैसा नहीं मानता है, उसके लिए परम महैश्वर्य का वर्णन करते हैं, अगाः, जो लोक कहीं नहीं जाते हैं उसको अगाः कहा जाता है, निष्क्रिय ब्रह्म स्वरूप में अवस्थानकारी वैसे होते हैं, वे सब मुक्त होते हैं। जगत् के संसार चक्र में भ्रमणकारी जीवगण इन दोनों के ही आप एकमात्र आधार स्थान हैं, भगवत् स्वरूप समूह के अन्तर्यामी रूप में सर्वत्र अवस्थान सुप्रसिद्ध हैं, आप उन सबकी अखिल शक्तियों का प्रबोधक हैं एव परमानन्द नामक शक्ति विशिष्ट आप ही पूर्ण हैं, यह पूर्णाशक्ति शुद्ध गोप विग्रह रूपी आप में ही रहती है, वह शक्ति सब शक्तियों के उपजीव्य है, (तै० उपनिषद् २।७।१ कहती है) को ह्येवान्यात् कः प्राण्यादेष ह्येवानन्दयाति। अखिल शक्ति का अवबाधनकारी को, अखिल शक्ति का अवबोधक कहा जाता है, वह

शक्ति सुख आनन्द नामिका होती है, वह शक्ति जिसमें है। इस प्रकार समस्त भगवत् स्वरूपों से परमोत्कृष्ट, नित्य पूर्ण सुख सामान्य रूप होने के कारण ब्रह्म स्वरूप से भी उत्कृष्ट शुद्ध गोपाल स्वरूप में प्रमाण ही क्या है? उत्तर देते हैं, निगम ही प्रमाण है, वे सब प्रमाण आपको प्रतिपादन करते हैं, स्वयं ही सर्वानन्दातिशयि परमानन्द साम्राज्य सार सिन्धुकोटि के आकार स्वरूप श्रीविग्रह द्वारा, शक्ति एवं गुण द्वारा समस्त भगवत् स्वरूप की स्वल्पता प्रतिपादक अजानामक शक्ति के द्वारा प्रपञ्च के मध्य में प्राकृत गोप के समान दिखाई देने वाले रूप से विचरणकारी एवं गोपाल रूप में निरन्तर अवस्थित आपका वर्णन श्रुतिगण निरन्तर करती हैं॥१४॥

नित्य शुद्ध भावमय गोपी बोधनमित्थम्—हे जय महारसमय समस्त गुणशीलाद्युत्कर्षेण वर्त्तमान ! त्वं जय, आशांसायां लोट्। एवमेव श्रीराधया सह तव सन्ततमधुरविलासोत्कर्षमेव वयमाशास्महे इत्यर्थः। अजां निद्रां जहि, नित्या या योगमाया सैव निद्रा त्वां स्वप्नविहारसुखमुपनयन्तीं सेवते, तां त्यक्त्वा प्रकट वहि विहारेणास्मानानन्दयेति भावः। अजां मायां कपटं त्यजेति वा, प्रबुद्ध एव प्रियां त्यक्तुमशक्नुवन् निद्रां नाटयसीत्यर्थः किञ्च, गृहीतो यथाधृत–सर्वातिशाय्यनुराग सौन्दर्य वैदग्ध्यादि गुणां श्रीराधिका समव सम्यक् प्रतिपालय, गोप्यन्तर सङ्गरसासक्त्या नैनां चिरविरह दुःखिनीं कुर्वित्यर्थः। नाहमेतदन्यया कदापि रमे इति चेत्तत्राह—हे अजित दोष ! अन्य स्त्रीसङ्गोत्सुक्यं दोषस्त्वया न जितोऽभिभूत इत्यर्थः। यद्वा, हे अजित ! अन्यया कयापि न वशीकृत ! परम महाविदग्ध चूड़ामणि रसिकस्त्वं सकलमहाविदग्ध सीमन्तिनी सीमन्तमणेः श्रीराधाया विशुद्ध पूर्णतमानुरागरसमयसौन्दर्यलावण्यादि गुणोत्कर्ष परमावधेरन्यया कथं वशीक्रियेत। तथा सन्ततमितस्ततो मार्गयन्तीभि र्मिलितो बलादाकृष्यमाणोऽपि न विलम्बेथा उपेक्षेथा वा ता इति। राधां कीदृशीम् ? दोषेऽपि त्वदीयचाञ्चल्या न्यापेक्षादिरूपे गृहीतो गुणो यया, तव दोषानगणयित्वा मनागपि मानवार्त्तामजानतीम्, त्वदासक्ततयैव वर्त्तमानाम्, यद्वा न जिता दोषा तव बाहुर्यया, अति प्रगाढ़ालिङ्गनपरत्वाद्बाहुनातया स्वबलेन शिथिलीकर्त्तुं शक्येते, तत् स्वेयमेवोत्तिष्ठेत्यर्थः। अनयैव च त्वं पूर्णकामः स्या नान्यये-

त्याह—यदात्मना यस्यां श्रीराधायामेव य आत्मा तवान्तः करणं तेनैव त्वं रुद्ध-समस्तकामो भवसि, भग शब्दः कामवाची। किञ्च, त्वयि निद्राणे त्वद्विलासादि दर्शनानन्दाभावेन वृन्दावनस्थ स्थिर जङ्गमस्य सर्वस्य देहेन्द्रियादिवृत्तिः, कापि न भवति त्वदधीनत्वादित्याह—अगेति। यद्वा, ननु यदि दोषशङ्का भवतीनाम्, तर्हिमया गृहे न गन्तव्यमिति चेत्तत्राह त्वद् दर्शनालापदिना विना कस्यापि पितृमातृ सुहृदादेरन्यस्य वा व्रजगति वृक्षादे रपि प्राणनशक्तिरपि दुर्लभेति भावः। परन्तु एवं कर्त्तव्य मित्याह निगमो वेद प्राया तव सत्या प्रतिज्ञा वाक् अमुक समयेऽमुकस्मिन् वन प्रदेशे मयातत्र गन्तव्यम् इत्येवं रूपा त्वामनुचरेदनुचरेदनुवर्त्ततामव्यभिचारितया त्वयि-तिष्ठत्विति प्रार्थयामित्यर्थः। प्रार्थनायां लिङ् त्वां कथम्भतम् ? अजया मायया कपटेन आत्मना स्वभावेन चरन्तम्, सङ्केतानागमनं तत्र कपट नाटकं तवानुभूतमस्ति, बहुधा तेनैवमुच्यत इतिभावः अजयात्मनापि चरन्तं यस्त्वां न गुणै र्वशीकरोति, तादृशापि कौतुकात् कृपया वा व्यवहार परमार्थो वा।१४

नित्यशुद्धभावमय गोपियों के बोधन इस प्रकार हैं—हे जय ! महा रसमय समस्त गुण शीलादि उत्कर्ष में वर्त्तमान ! आपकी जय हो, आशंसा में लोट्। इस प्रकार श्रीराधा के साथ आपका सन्तत मधुर विलासोत्कर्ष की ही हम सब आशा करती हैं। अजा निद्रा का परित्याग करो नित्या जो योगमाया है, वह ही कृष्ण की निद्रा स्वरूपा है, तामसी प्राकृता देवता रूपा निद्रा कृष्ण में नहीं है, स्वप्न विहार सुख का सम्पादन कार्य योगमाया करती है, उसको छोड़कर प्रकट रूप से बाहर विहार कर हमें आनन्दित करें, अजा माया कपट रूप को छोड़ो। जगकर भी प्रिया राधा को छोड़ने में असमर्थता हेतु निद्रा का केवल अभिनय ही कर रहे हो।

और भी, जिसके द्वारा आपने सर्वातिशयी अनुराग, सौन्दर्य वैदग्ध्यादि गुणों से विभूषित हो उस प्रकार ही गुण सम्पन्ना श्रीराधा का सम्यक् रूप से पालन करो। अगर गोपियों के साथ रसासक्ति से उसको दुःखी मत बनाओ, यदि कहो कि मैं कभी भी राधा को छोड़कर किसी के साथ विहार ही नहीं करता हूँ, तो सुनो, हे अजित ! दोष, अन्य स्त्री सङ्ग के लिए उत्सुकता रूप

दोष को आपने कभी भी जय कर न पाया, उस दोष से आप अभिभूत ही हैं।

यद्वा, हे अजित ! और किसी से आप वशीभूत नहीं हैं। कारण परम महाविदग्ध चूड़ामणि रसिक आप हैं, और सकल महा विदग्ध सीमन्तिनी सीमन्तमणि भी श्रीराधा हैं, विशुद्ध पूर्णतमानुराग रसमय सौन्दर्य लावण्यादि गुणोत्कर्ष की परमावधि भी श्रीराधा हैं, अतः अपर गोपी कैसे आपको वश कर सकती हैं ? अतएव मार्ग में निरन्तर इधर-उधर घूमती हुई ढूँढ़ती हुई गोपी के द्वारा बलपूर्वक पकड़े जाने पर भी विलम्ब न करो, उपेक्षा न करो, राधा किस प्रकार हैं, आपमें चाञ्चल्य तथा अन्य गोपियों की अपेक्षा दोष होते हुए भी राधा उसमें दोष न देखकर गुण ही मानती है, आपके दोष को जानकर कभी भी मान करना पसन्द नहीं करती है, आपके प्रति निविड़ आसक्ति में राधा निरन्तर रहती है, यद्वा आपके बाहु द्वय कभी भी दोष से मुक्त नहीं हुए हैं, बाहुद्वय श्रीराधा को प्रगाढ़ आलिङ्गन परायण हैं, श्रीराधा बल से उसको शिथिल करने में असमर्थ हैं, अतः स्वयं ही उठो, इससे ही पूर्णकाम बनेंगे अन्य से नहीं, कारण श्रीराधा में ही आपकी अन्तःकरण पूर्ण तृप्त होती है। यहाँ पर भग शब्द काम का वाचक है। और भी आपकी निद्रा से आपके विलासादि का दर्शन ही नहीं होगा, फलतः वृन्दावनस्थ स्थावर जङ्गमादि सबकी देहेन्द्रियादि की वृत्ति कभी भी नहीं होगी, कारण सबकी वृत्ति ही आपके अधीन है।

अथवा यदि आप सबकी दोष शङ्का मेरे प्रति हो तो मैं घर को नहीं जाऊँगा ? इसके उत्तर में कहती है—आपके दर्शन बिना पिता-माता सुहृद प्रभृति एवं व्रजगत वृक्षलता पशु आदि की जीवनी शक्ति ही नहीं रहेगी। किन्तु यह करना परम कर्त्तव्य होगा कि आपकी प्रतिज्ञा वेद की भाँति सत्य है, मैं अमुक समय, अमुक स्थान में वन प्रदेश में आकर मिलुँगा। यह वचन आपका सदा अनुवर्त्तन करे, हम सबकी यही प्रार्थना है, प्रार्थना में लिङ् है। वह किस प्रकार है, अजा, माया कपट स्वभाव से ही वैसा होता है, सङ्केत स्थल पर न आना कपट नाटक करना यह तो हमने अनुभव किया ही है, इसलिए कहती हूँ। अजा बुद्धि के साथ अनेक प्रकार विहार करके भी

आप उसके गुणों से वशीभूत नहीं होते हैं, तब कौतुक से कृपा से व्यवहार से परमार्थ से भी अवरुद्ध होकर विलम्ब न करो ॥१४॥

श्रीधर स्वामी के मत में—हे अजित ! जय हो जय हो ! स्थावर जङ्गम स्वरूप जीवों के आनन्दावरक मिथ्या गुणालंकृता अविद्या का नाश करो—हे निगम गीत गुणार्णव ! तुम्हें छोड़कर जीवगण का प्रकृष्ट भवन अर्थात् उत्कर्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है, स्थावर जङ्गमात्मक जीव की रक्षा करो ।

वेद किस प्रकार मुझ को प्रतिपादन करते हैं ? उत्तर में भृगु वरुण को पूछे थे, ब्रह्म का लक्षण क्या है ? वरुण ने कहा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते जीवन्ति यत् प्रति प्रयन्ति यत् अभिविशन्ति" जिससे ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त समस्त जीव समूह उत्पन्न होते हैं, प्राण धारण करते हैं, बुद्धि प्राप्त होते हैं, नाश के समय जिसमें प्रविष्ट होते हैं एवं तादात्म्य प्राप्त होते हैं, वह ही ब्रह्म हैं । कारण उत्पत्ति, स्थिति, नाश के समय भूतगण आत्मता को छोड़ नहीं सकते हैं, अतएव वह ही ब्रह्म है । (२) जो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं योवै वेदान् च प्रहिणोति तस्मै, तं ह देवमात्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुः वै शरणमहं प्रपद्ये । जो परमेश्वर ब्रह्मा को सबके आदि में निर्माण किये हैं, एवं ब्रह्मा को वेदराशि प्रदान किये हैं, वह द्योतमान आत्म बुद्धि प्रकाश देव की मुमुक्षु मैं शरण लेता हूँ ।

(३) उद्दालक ने कहा—अन्तर्यामी कौन हैं ? आप कहें, याज्ञवल्क्य ने कहा—यः आत्मनि तिष्ठन् आत्मनः अन्तर्, अयम् आत्मा यं न वेद, यस्य आत्मा शरीरम्, आत्मानम् अन्तरः यमयति, एषः ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः जो आत्मा में अवस्थित, (जीवात्मा में) है आत्मा से दूरस्थ आत्मा यह आत्मा जिसकी नहीं जानती है, जिनका शरीर यह आत्मा है, जो आत्मा के मध्य में रहकर उसका नियमन करता है, यह ही तुम्हारी अन्तर्यामी अमृत आत्मा है (४) सत्यं ज्ञानमु अनन्तं ब्रह्म । जो सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप अनन्त स्वरूप है, वह ही ब्रह्म है, (५) यः सर्वज्ञः यो सर्ववित् जो सर्वज्ञ सर्ववित् है वह ही ब्रह्म हैं । इत्यादि निगम कदम्ब आपको प्रतिपादन करते हैं ॥१४॥

वृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया,
यत उदयास्तमयो विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अतऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं,
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥१५

सान्वय व्याख्या

उपलब्धं (श्रोत्रनेत्रादिभिः अवगतं) एतत् (सर्वं) (ब्रह्मत्वमिति) अशेषतया (वृहतः अवशिष्यमाणत्वेन) अवयन्ति (जानन्ति) यतः मृदिवा (यथा) विकृतेः घटादेः अविकृतायां मृदि उदयास्तमयौ (उत्पत्ति प्रलयौ भवतः) अतः ऋषयः त्वयि मनोवचना चरितं (मनसः तात्पर्यं वचन अभिधानंच) दधुः (धृतवन्तः न पृथक् विकारेषु, तथाहि) नृणां (भूचराणां) दत्तपदानि (दत्तानि निक्षिप्तानि पदानि) कथं भुवि अयथा (अदत्तानि) भवन्ति (यथा मृत्पाषाणेष्टकादिषु दत्तानि पदानि भुवं न व्यभिचरन्ति तथा यत् किमपि विकार जातं वदन्तः वेदाः त्वामेव सर्वकारणं परमात्मभूतं प्रति पादयन्तीत्यर्थः) उपलब्धं (दृष्टं) एतत् श्रीवृन्दावनादिकं) वृहत (ब्रह्मैव) अवशेषतया (प्रलयेऽपि अवशिष्यमाणत्वेन) अवयन्ति (जानन्ति) यतः अविकृतात् (विकार रहितात् श्रीवृन्दावनात्) मृदि (अविकृतायां वृन्दावनादि मृत्तिकायां) वा (च) विकृतेः (विकृतिवत् प्रतीयमाणस्य पुष्पकणादेः) उदयास्तमयौ (आविर्भावतिरोभावौ भवतः) अतः ऋषयः (श्रीनारदादयः) त्वयि मनो वचनाचरितं दधुः, (तथाहि) भुवि दत्तपदानि कथं अयथा भवन्ति, (यथा खर्पर पाषाण भूपरिणामे न व्यभिचरन्ति तथा त्वद् भजनं तवावताराय क्वचित्त्वदवतारभजनं च त्वद् भजनाय स्यादित्यर्थः) ॥१५॥

इस चराचर विश्व में जो कुछ भी श्रोत्र नेत्रादि द्वारा अवगत होते हैं वे समस्त ही परब्रह्म आप ही हैं, यह अवशिष्यमाणत्व के कारण जाना जाता है, कारण जिस प्रकार अविकृत मृत्तिका से विकृत घटादि की उत्पत्ति विनाश होते हैं, उस प्रकार विकार रहित परब्रह्म आपसे ही विकृत समस्त पदार्थ की उत्पत्ति एवं विनाश भी होते हैं, इसलिए ऋषिगण आपमें ही मन का तात्पर्य व वचन का अभिधान धारण करते हैं, किन्तु विकृत पदार्थ में

उसका धारण नहीं करते हैं, कारण भूचर प्राणिगण मृत्तिका पाषाण, इष्टक प्रभृति जिस किसी में पद निक्षेप करते हैं, वह पृथिवी को छोड़ और कुछ भी नहीं है, उस प्रकार वेद सकल जो कुछ भी विकार समूह की कथा कहते हैं, वह समस्त ही सर्व कारण परमात्म स्वरूप आपमें प्रतिपादित होती रहती हैं।

उपलब्ध श्रीवृन्दावनादि जो कुछ हैं, परब्रह्म आप ही हैं. यह प्रलयकाल में भी अवशिष्यमाणत्व हेतु जान सकते हैं, कारण विकार रहित श्रीवृन्दावन एवं अविकृत श्रीवृन्दावनादि की मृत्तिका से विकृतिवत् प्रतीयमान पुष्प फलादि का आविर्भाव तिरोभाव होते रहते हैं. इसलिए श्रीनारदादि ऋषिगण आपमें मन वचन आचरित्त निहित किये हैं, कारण जिस प्रकार खर्पर पाषाण प्रभृति जिस किसी भूविकार पदार्थ में परदनिक्षेप करने पर पृथिवी में ही पद निक्षेप होता है, उस प्रकार आपका भजन से आपका अवतार का भजन सिद्ध होता है, एवं आपका अवतार का भजन से आपका भजन सिद्ध भी होता है ॥१५॥

श्रुतिरूपा आहुः—भोः श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ! इदं तवोपलब्ध स्वरूपं वृहत् परं ब्रह्मैव, गोपरामानन्द रूपेणानुभूतत्त्वादित्येवहेतुः, अवशिष्यमाणं यद् ब्रह्म समस्तद्वैतमात्र जड़ं नेति नेतीति निरस्य सर्वावभासकतयाऽवशिष्टं यत्तद्रूपेणान्येऽप्यवयन्ति नहि मायामयमात्रं तुच्छीकृत्य केवल ब्रह्म निष्ठस्य भगवति परमभक्त्या दत्तभारेण तत् प्रसादादनुभूतंवस्तु मायिकं भवितु-मर्हतीति भावः।

यद्वा, एतत्तव स्वरूपमस्माभिः श्रुतिभिर्ब्रह्म शुद्धघन रूपमुपलब्धं शुद्ध भाव गोप्यस्तु अवशेषतया जानन्ति, अवनम्–अवः प्रेम, तन्मात्रस्य शेषतया, ब्रह्मत्व–भगवत्त्वादि ज्ञानं निरस्य सान्द्रानन्दैक घनरस गोप किशोरत्वेनैव जानन्तीत्यर्थः। नन्वीश्वरेण मया नन्दपुत्ररूपेण श्रीनारायणाख्येन वा सर्वासां गोपीनां सतत्त्वज्ञानं दास्यामि च ? तत्राह-एतदेव-वृहद् ब्रह्म स्वरूपाद् भगवत् स्वरूपाच्चोत्कृष्टमवयन्ति, अन्यैश्चोपलब्धम्। मया ब्रह्मोपलब्धम् ता एतदेवाव-यन्ति, न ब्रह्म एतद्वा ब्रह्मघनत्वेनेच्छतीति ईशः। अवशः कस्यापि वशी न भवति, स ईशः, सोऽपि इच्छति, ईशोऽपि शुद्धगोपरूपेण प्रेमास्वादत्वमेव सदा

दातुमिच्छति । ननु ब्रह्मत्वे ईशत्वं न, तदपेक्षयात्र परमानन्द-चमत्कारातिशयात्, शुद्धस्वरूपनिष्ठानां शुद्धभावैकपरम् पुरुषार्थानां शुद्धनिष्ठां भात्रे परेशेनापि प्रवर्त्तयितुमशक्यत्वादीशस्यानिष्टकारित्वाभावेन तस्यापि प्रियत्वेन च तत् परिपन्थित्वाभावात । अवशः सन्निच्छति अवशेषः शुद्ध गोप किशोरे महाप्रेमपारवश्ये, न ब्रह्मत्वे, सत्त्वादि ज्ञानानां प्रसङ्गेनैवानुपपत्तेरिति भावः । प्रीतेरेव शेषतयेति वा । सर्वतः परमपुरुषार्थो ब्रह्मस्वरूपावस्थितिरूपामुक्तिस्तस्यामप्यानन्दचमत्कारविशेषाभावेन निरस्तायां भगवदेकान्तभक्तिरानन्दचमत्कारवती पुरुषार्थेन धृता, तस्यापि सर्वात्मब्रह्मत्व भगवत्त्वज्ञानेन मिश्रितायां निर्भरगतिरूपत्वाभावेन ममता कोण्ठचम्, न सम्भ्रमास्पदत्वेन च, परमानन्दसाम्राज्य सम्पदतिनिरंकुशत्वाभावात् । तानप्यपास्य शुद्धा रतिरेव गोपालाहं भावपर–भगवद् विषयिणी गृहीताभवति, सैवशिष्यते । अतो भगवत् कृपया विचार तीक्ष्णतया च शुद्धनिष्ठा सैवान्यथा भवतीति । यतो यस्याः शुद्धरेत हेतोः केषाञ्चिन्महाभाग शिरोमणीनां तदभिलाषकाणां विविधायाः कृतेर्यत्नस्योदयास्तमयौ भवतः । एकं यत्नं त्यक्त्वा अन्यं कुर्वन्ति, अन्यं च त्यक्त्वा अपरं कुर्वन्ति, अत्युत्कण्ठया नानाविधयत्नेषु प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः । धारावाहिकतया विशिष्टा कृतिर्भवतीतिवार्थः । यद्वा यतोविशुद्ध रतेर्हेतुत एव विशिष्टा कृतिमतः साधकस्य उदयास्तमयौ भवतोऽपरिपक्वावस्थायां यद्वैव सा रतिरुदेति, तदैवोत्कृष्टोऽय, शुभावहो विधिर्भवति, सर्वत्र सुखीभवतीत्यर्थः । यदा च रतिः सम्यक् नोदेति, तदैवास्तमयविनाश इव भवतीत्यर्थः । यत्र सत्यां विविधायाः कृतेरुदयोऽस्तमयश्च, कासाञ्चित् शुद्धभावानुबन्धिव्यापृतीनाममुदयः, लौकिक वैदिक कृतीनाञ्च शुद्धभावविरोधिनीनामस्तमय इति वा अर्थः । यतश्चविशुद्ध भावादविकृतादेकरसतया निरंकुशं प्रवर्त्तमानात् कर्म ज्ञानादि प्रसङ्गमात्रस्य पुरुषार्थान्तरस्य च मृन्मर्दनमिव भवति । सर्वमन्यत् मृत्तुल्यमतितुच्छं भवतीतिवार्थः । अतो–यस्मात्वं विशुद्ध गोपालरूपो विशुद्धभाव विषयस्तस्मात् त्वय्येव केवल व्रजराज कुमाराहंभाववति ऋषयो विशुद्ध रसमय गोपालरूपं समस्त भगवत् स्वरूपोत्तमम् ब्रह्मानन्दभगवदानन्दमन्दीकरणमहानन्दसन्दोह चमत्कार निकराकरं जानन्तो मनोवचनाचरितानि दधुः, न च ब्रह्मत्वं भगवत्त्वं वा

विस्मृत्य शुद्ध गोपाल रूपे शुद्धभावे मन आदि वृत्ति कारणेऽपि अग्रे तत्त्वज्ञानं भविष्यत्येवेति। यतो भुवि स्थाने दत्तानि प्रदानि कथमन्यथा भवन्ति, अदत्तानि भवन्तीत्यर्थः। नहि शुद्धगोपाल रूपे भगवति ब्रह्मत्व भगवत्त्वानु-सन्धान रहितेऽपि निरावरण पूर्वक परमानन्द महासाम्राज्य सारमूर्त्तौ भासमाने विशुद्धभावोऽन्यथा भवतीति भावः।

नित्यगोपी प्रबोधनमित्थम्—एतदस्माभिः राधिके कान्तसख्यरस समृद्धाभिरुपलब्धमनुभूतम्। तव तयासह वृन्दावन नवनिकुञ्ज केलिजातं वृहत् महत् सकलमहारसाम्भोधिसार स्वर्वस्वभूतमित्यर्थः। यतो यस्यावशेषतयो-च्छिष्टरूपेण त्यक्तासारभागेन रूपेण विकृतेर्विविधा कृतिलीला यया सा शैशवाद्यवस्थाऽस्या आविर्भावतिरोभावो कस्याश्चित्तिरोभावः कस्याश्चिदा-विर्भावस्तं जानन्ति माहश्यः।

किञ्च, यस्मात् आ ईषदपि विकृताद्विच्छिन्नादस्माकं मृत् मरणमिव भवति। अतः सर्वात्मभावेन अस्मद्विधाऋषयस्त्वद् विलासरसानुभविन्यः ऋषी गतौ तुदादिकः त्वय्येव मनोवाक्कायश्चेष्टा दधुः। वृन्दावन निकुञ्जे तव राधयासह विहरतो यदस्माकं रसानुभवनं तद् वृन्दावन महिम्नैवेत्याह अस्माकं वार्त्ता तिष्ठतु, नृणां प्राणिमात्रस्य भुवि भवत्यत्रैव त्वद्विषयविशुद्ध महाभावोदय इति तादृश स्थाने श्रीवृन्दावनाख्ये दत्तान्यारोपितानि पदानि कथमयथा अन्यथा भवन्ति, विशुद्ध महाभावो भवत्येवेत्यर्थः॥१५॥

श्रुतिरूपा गोपीगण कहती हैं—हे श्रीव्रजेन्द्रनन्दन। यह तुम्हारे उपलब्ध स्वरूप वृहत् परमब्रह्म ही है, कारण गोपरामाओं ने इस स्वरूप का परमानन्द रूप से ही अनुभव किया है, अवशिष्ट जो ब्रह्म है समस्त द्वैत मात्र जड़ पदार्थ है, 'नेति नेति' विचार कर सबको निराश कर सबका प्रकाशक रूप में जो स्थिर होता है, अपर कुछ व्यक्ति उसको ब्रह्म मानते हैं, उनकी दृष्टि से भगवान् प्रभृति सब कुछ मायिक है किन्तु भगवान् में भगवद्दत्त प्रसाद रूप भक्ति के आतिशय्य से अनुभूत परम भगवत्ता कभी भी मायिक नहीं हो सकती है। अथवा तुम्हारे यह रूप को हम सब श्रुतियों ने ब्रह्म शब्द ब्रह्मघन रूप में अनुभव किया है, शुद्धभाववती गोपियों का अवशेष रूप से ही अवगत हुआ। अवनमु अवः प्रेम है, प्रेम ही एकमात्र अवशेष रह

जाता है, वे सब ब्रह्मत्व, भगवत्त्वादि ज्ञान को परित्याग कर सान्द्रानन्द रसघन गोप किशोर रूप से ही जानती हैं।

मैं ईश्वर हूँ, नन्द पुत्र रूप से, श्रीनारायण रूप से सतत्त्व ज्ञान सब गोपियों को प्रदान करूँगा ? उत्तर, इस स्वरूप को वृहद् ब्रह्म स्वरूप से और भगवद् स्वरूप से भी उत्कृष्ट रूप में वे सब जानती हैं, वे सब ब्रह्म को और ब्रह्मघन को नहीं चाहती हैं, ईश्वर भी शुद्धगोप रूप से परम प्रेमास्पदत्व को सदा देने के लिए इच्छुक हैं। जो किसी के वश में नहीं होता वह ईश है, वह भी इच्छा करता है।

ब्रह्म होने पर वह कैसे ईश होगा, कारण ईशत्व में ब्रह्म की अपेक्षा परमानन्द चमत्कारातिशय का आधिक्य है। शुद्ध स्वरूप निष्ठ व्यक्तिगण शुद्ध स्वरूप में निष्ठा रखते हैं, और शुद्धभाव को परम पुरुषार्थ मानने वाले भाव में निष्ठाशील है, ईश्वर भी शुद्ध स्वरूप निष्ठ को शुद्धभाव में रत नहीं करा सकते हैं, ईश अनिष्टकारी नहीं होते हैं, और भाव ईश का अतिप्रिय होता है, अतएव भाव ईश के लिए बाधक सिद्ध नहीं होता है, अवश होकर ही वे सब चाहती हैं, इसलिए अवशेष है, शुद्ध गोप किशोर में महाप्रेम पर वशता के कारण, ब्रह्मत्व में उन सबकी आसक्ति नहीं होती है, सत्तादि ज्ञान का तो प्रसङ्ग ही नहीं आता है, प्रीति ही एकमात्र शेष पदार्थ है, सब प्रकार से परम पुरुषार्थ ब्रह्मावस्थिति स्वरूपा मुक्ति है, उस मुक्ति में आनन्द चमत्कारातिशय न रहने से मुक्ति को परित्याग कर भगवदेकान्त भक्ति आनन्द चमत्कारवती होने से भक्ति ही परम पुरुषार्थ हुई। उसमें सर्वात्म ब्रह्मत्व भगवत्त्व ज्ञान मिश्रित होने के कारण प्रीति का अभाव सुस्पष्ट है, अतएव ममता कुण्ठित होती है, सम्भ्रमास्पद रूप में पुरुषार्थ नहीं हो सकता है, कारण परमानन्द साम्राज्य सम्पद् अति निरंकुश नहीं होता है। उसको भी छोड़कर शुद्धाप्रीति ही गोपाल अहं भाव पर भगवद् विषयिणी प्रीति ही उपादेया है, अवशेष रूप में वह रहती है, अतएव भगवत् कृपा से बुद्धि में विचार तीक्ष्णता आने से शुद्ध स्वरूप में निष्ठा होती है, वह निष्ठा अन्यथा हो भी जाती है। शुद्ध प्रीति के कारण महाभाग्यशाली शिरोमणि के एवं उसके अभिलाषी व्यक्तियोंके विविध प्रयत्नोंका उदय तथा अस्त होते रहते हैं,

एक प्रयत्न को छोड़कर अपर प्रयत्न करते हैं, अन्य प्रयत्न को छोड़कर दूसरा प्रयत्न करते हैं, अति उत्कण्ठा से अनेकविध प्रयत्न में रत हो जाते हैं, धारावाहिक ही विविध प्रयत्न होते रहते हैं।

अथवा विशुद्ध रति की स्वाभाविकी स्थिति के कारण ही विशिष्ट प्रयत्नशील साधकों के उदय अस्त होते रहते हैं, उस समय ही उत्कृष्ट अयः शुभावह विधि होता है, सर्वत्र सुखी होता है, जिसमें वह रति उदित नहीं होती है, उस समय ही अस्तमय विनाश की भाँति प्रतीति होती है, यहाँ पर विविध प्रयत्न होने पर भी उदय तथा अस्त होता ही है, किसी-किसी शुद्ध भाव युक्त सहृदय का उदय होता है, किसी-किसी लौकिक वैदिक प्रयत्नशील शुद्धभाव विरोधी परिकर का अस्त होता है, इस प्रकार एक रस में निरंकुश प्रवृत्ति होती है, उस समय कर्मज्ञानादि प्रसङ्ग मात्र पुरुषार्थान्तिर रूप से प्रसिद्ध वस्तु की मिट्टी रोंदने के समान स्थिति होती है। सब कुछ अन्य वस्तु मिट्टी की भाँति अति तुच्छ होती है। अतः आप विशुद्ध गोपाल रूपत्वेन विशुद्ध भाव का विषय हो, इसलिए ही केवल मैं व्रजराज कुमार हूँ। इस प्रकार अहङ्कार वाले आपके प्रति ऋषिगण मन वाणी के समस्त आचरण को समर्पण करते हैं, कारण वे सब जानते हैं कि विशुद्ध रसमय गोपाल रूप ही समस्त भगवत् स्वरूपों में उत्तम है, व ब्रह्मानन्द, भगवदानन्द को तुच्छ कर महानन्द सन्दोह चमत्कार निकराकर है। यदि कहा जाय कि ब्रह्मत्व भगवत्व को भूलकर शुद्ध गोपाल में शुद्ध भावात्मक मन आदि की वृत्ति के कारण होने पर भी आगे जाकर पूर्वोक्त ज्ञान होगा ही। कारण भूमि में पैर रखने पर पैर रखना व्यर्थ नहीं होता है, ब्रह्मत्व भगवत्वानुसन्धान रहित होने पर भी शुद्ध गोपाल रूप भगवान् में निरावरण पूर्वक परमानन्द महा साम्राज्य सारमूर्त्ति में विशुद्ध भाव अन्यथा नहीं होता है।

नित्यगोपी का प्रबोधन इस प्रकार है—राधिका में एकान्त सख्य रस समृद्ध हम सबने इस प्रकार अनुभव किया है, राधिका के साथ तुम्हारे वृन्दावन नवनिकुञ्ज केलि से उत्पन्न रस ही वृहद् है, सकल महा रसाम्भोधि सार सर्वस्व स्वरूप है। कारण जिसका अवशेष रूप में उच्छिष्ट रूप में परित्यक्त असार भाग रूप में ही विविध आकृति की लीला होती है, वे सब

लीला शैशवादि अवस्था की है, इसकी ही है, कभी किसी का आविर्भाव कभी किसी का तिरोभाव होता है, उसको हम सब जानती हैं। और भी उससे स्वल्प विच्छेद होने पर हम सबकी मरण तुल्य अवस्था होती है, अतएव सर्वात्मभाव से हमारे समान ऋषिगण श्रीराधामाधव के विलास का अनुभवकारी हैं, 'ऋची' गत्यर्थक तुदादि धातु है, तुम्हारे प्रति ही उन्होंने मनोवाक्काय की चेष्टा को समर्पण किया है। वृन्दावन निकुञ्ज में तुम्हारे श्रीराधा के साथ हृदयहारी विहार का जो रसानुभव हमें प्राप्त है, वह श्रीवृन्दावन की महिमा से ही सम्भव है। हमारी बात तो रहने दो, मनुष्य मात्र का प्राणिमात्र का पृथिवी में तुम्हारे विषयक विशुद्ध महाभावोदय होता है, यहीं पर होता है, इसलिए उस प्रकार श्रीवृन्दावन नामक स्थान में पद स्थापन अन्यथा कैसे हो सकता है, विशुद्ध महाभावोदय होगा ही।।१५

द्वितीय श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तव करते हैं, प्रश्न—श्रुतिगण मुझ को प्रतिपादन क्यों करेंगी ? श्रुतिगण इन्द्र, अग्नि को प्रतिपादन करती हैं, यथा (१) इन्द्रः यातः अवसितस्य राजा। इन्द्र 'यातः' जङ्गम का अवसितस्य स्थावर का राजा है। (२) अग्निर्मूर्धनादिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति।।

परावर रूप में अवस्थित अग्नि आकाश का मस्तक है। सूर्य रूप में अहः द्युलोक का मस्तक है, दिग्गण का पालक उस रूप में पृथिवी का पति है, दुग्ध को बलवीर्य प्रदान करते हैं।

(३) सूर्य आत्मा जगतस्तस्थूतश्च।।
सूर्य स्थावर जङ्गम की आत्मा है।
(४) सोम अस्माकम् ब्राह्मणानां राजा।।
सोम हम सब ब्राह्मणों के राजा हैं।

उत्तर—'एतत् उपलब्धम्' यह जो इन्द्रादि दृष्ट होते हैं सब ही (वृहत्) ब्रह्म अर्थात् तुम ही सब कुछ हो। इस प्रकार सब लोक जानते हैं कारण 'अवशेष' तथा ब्रह्म ही अवशेष रहते हैं, यतः 'उदयास्तमयौ' ब्रह्म से उत्पत्ति प्रलय होते हैं, अतएव ब्रह्म सबका उपादान है।

प्रश्न—तब क्या ब्रह्म का विकार नहीं होता है ? उत्तर, ना, 'अविकृतात्' ब्रह्म उपादान कारण होने पर भी अविकृत है, कारण ब्रह्म ही सब सृष्टि का अधिष्ठान है, अतात्त्विक अन्यथा भाव का नाम विवर्त्त है, जिस प्रकार रज्जु का विवर्त्त भुजङ्ग है, अधिष्ठान रज्जु है, उस प्रकार विवर्त्त जगत का अधिष्ठान ब्रह्म निर्विकार है, उपमार्थ में 'वा' शब्द है, जिस प्रकार विकृतेः घट शराव विकृति का 'मृदि' मृत्तिका में उत्पत्ति तथा लय होता है, उस प्रकार समस्त वस्तु की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है एवं उन्हीं में लय भी होता है। प्रमाण—(१) वाचारम्भणं विकारः नामधेयं मृत्तिका इति एव सत्यम् विकार वचनालम्बनमात्र है वस्तुतः सब केवल नामधेय है। विकार सत्यन्तर नहीं है, मृत्तिका ही सत्य है, कारण घट शरावादि की उत्पत्ति मृत्तिका से होती है, लय सबका मृत्तिका में होता है।

(२) सर्वं खलु इदम् ब्रह्म। तज्जलान्। यह नामरूप विकृत प्रत्यक्षादि विषय समस्त जगत् ब्रह्म ही हैं, कारण जगत 'तज्जलान्' 'तज्ज' ब्रह्म से जात 'तल्ल' उनमें लय होता है, 'तदन्' स्थिति काल में भी जीवित रहने के लिए उनको अवलम्बन करता है। कारण त्रिकाल में जगत्-ब्रह्मता रूप में अवशिष्ट है, एवं ब्रह्म को छोड़कर कुछ भी नहीं है, अतएव सब कुछ ब्रह्म ही हैं, 'अतः' अतएव 'ऋषयः' ऋषिगण अर्थात् मन्त्र द्रष्टागण 'त्वयि' आपमें 'मनसा आचरितं' तात्पर्य 'वचसा आचरितम्' अभिमान 'दधुः' अवधारण करते हैं। नर देव तिर्यग् आदि नामधेय समस्त ही परम कारण ब्रह्म को जानकर आपकी उपासना करते हैं, पृथक् विकार की उपासना नहीं करते हैं। 'नृणाम् दत्तपदानि' मनुष्य का पैर जहाँ पड़ता है, कहीं पर नहीं पृथ्वी पर ही पड़ता है, अतएव मृत्तिका पाषाण, इष्टकादि में निक्षिप्त पद मृत्तिका में ही निक्षिप्त होता है, 'कथमयथा भवन्ति इसकी अन्यथा नहीं होती है, अतएव वेद जो भी वर्णन करते हैं, सर्व कारण परमार्थभूत आपको ही प्रतिपादन करते हैं ॥१५॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल,
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः।

किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः,
परम ! भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥१६

सान्वयव्याख्या

त्र्यधिपते ! (त्रिगणमायामृगीनर्त्तक !) इति (त्वमेव सर्व कारणत्वेन परमार्थ एवं कृत्वा) सूरयः (विवेकिनः) तव अखिल लोकमल क्षपणकथामृताब्धिं (सकलजनवृजिन निरसन हेतुं कीर्त्तिसुधासिन्धुं) अवगाह्य (निषेव्य) तपांसि (तपन्तीति तपांसि पापानि दुःखानि) जहुः (त्यक्तवन्तः) परम ! ये पुनः स्वधाम विधुताशय कालगुणाः स्वधाम्ना स्वरूपस्फुरणेनैव विधुताः त्यक्ताः आशयकालयोः गुणाः अन्तःकरण धर्माः रागादयः जरादयः चयैः तथाभूताः सन्तः) अजस्र सुखानुभवं (अखण्डानन्दानुभवं) पदं (पद्यते इति पदं स्वरूपं) भजन्ति (सेवन्ते) किमुत (ते तपांसि जहतीति किं वक्तव्यं) ॥१६

वैष्णवतोषणीसम्मता, सारार्थदर्शिनी सम्मता च व्याख्या यथा—त्र्यधिपते (हे ऊर्द्ध्वाधोमध्यवर्त्तमानानां अधीश्वर !) इति यत् एवं सर्वासां श्रुतीनामेव त्वामेव प्रतिपादयितुं तत्तद्विचारप्रयासः अतो हेतोः तं परित्यज्य सूरयः (विवेकिनः) तव अखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिं अखिललोकमलस्य अखिलजनानां वासनापर्यन्तकर्म दोषस्य क्षपणी निरसनी या कथा सेव अमृताब्धि अपार परमानन्दः तं) अवगाह्य (आविश्य) तपांसि (सांसारिक सर्वदुःखानि) जहुः। परम ! (हे सर्वोत्कृष्ट !) ये पुनः स्वधाम विधुताशय गुणाः (आत्मारामतया जीवन्मुक्ताः मतान्तरे-स्वधाम्ना स्वप्रभावेनैव विधुताः विध्वस्ताः आशयकाल गुणाः अन्तःकरणजाः रागादयः जरादयः यैः तथाभूताः सन्तः अजस्रसुखानुभवमिति क्रिया विशेषणं) पदं (त्वच्चरणारविन्दं) भजन्ति किमुत (ते तपांसि जहतीति किं वक्तव्यम्)।

अथ सनातन गोस्वामिकृता व्याख्या—इति निखिल स्वरूपेभ्यः तवोत्कर्षात् यद्वा यतस्त्वद् वृन्दावनस्यापि ईदृशः महिमा अतो हेतोः) त्र्यधिपते ! त्रयाणां त्रिविधानां मुनिचरीनित्यप्रियाणां गोपीकुलानां प्राणनाथ !) सूरयः (महाभागवताः) तव खिल लोकमलक्षपणकथा मृताब्धि (खिलानि तपो योगोपासनादिभिरप्यहतानि प्रहर्त्तुमशक्यानि दुष्प्रारब्धादीनि

भक्ति प्रतिबन्धकानि त्वपराधादीनि वा यानि लोकानां मलानि तेषां क्षपणी या कथा परम चमत्कारिरासलीलादिरूपा वाक् सैव अमृतं तस्य अब्धिं) अवगाह्य (तत्र निमज्य) तपांसि जहुः परम ! (हे सर्वोत्कृष्ट ! ये पुनः अजस्र सुखानुभवं (यथा स्यात् तथा) पदं (तव श्रीचरण कमलं) भजन्ति (सेवन्ते ते पाद सेवायाः सर्वविधभजनास्पदत्वात् तथा सर्वेषां सन्तापहरत्वात् आह्लादनत्वाच्च) स्वधाम विधुताशयकाल गुणाः (स्वधाम विधुताशयाः काला गुणाः मृत्यु प्रकृतिगुणा येषां तथोक्ताः सन्तः, तपांसि जहुरिति) किमुत (किं वक्तव्यम्) ।।१६।।

हे त्रिगुण माया मृगी नर्त्तक ! आप ही सकल कारणों के कारण हेतु परम ! अर्थ स्वरूप हैं, यह जानकर विवेकीगण निखिल लोकों के पाप नाशक आपकी कीर्त्ति सुधा का सेवन कर पाप एवं दुःख को परित्याग किये हैं, हे परम और जो लोक स्वरूप स्फुरण के द्वारा ही अन्तःकरण धर्म रागादि एवं काल गुण जरादि का परित्याग पूर्वक अखण्डानुभव स्वरूप भवदीय स्वरूप का भजन करते हैं, वे लोक पाप एवं दुःख का परिहार करते हैं और अधिक क्या कहें ।।१६।।

तोषणी एवं सारार्थदर्शनी व्याख्या का अनुवाद। हे ऊर्द्ध्वाधो मध्यवर्त्ति जन निवह का अधीश्वर ! इस प्रकार सब श्रुति ही आपको प्रतिपादन करती हैं, अतः विचार बुद्धि को छोड़कर विवेकीगण निखिलजन की वासना पर्यन्त कर्म दोष का निरसनशील आपकी चरित कथा रूप अपार परमानन्द में आविष्ट होकर सांसारिक समस्त दुःख परिहार करते हैं। हे सर्वोत्कृष्ट ! जो लोक आत्माराम जीवन्मुक्त होकर क्षण-क्षण में सुखानुभवोल्लास रूप भवदीय श्रीचरण-कमल का भजन करते हैं, वे सब सांसारिक दुःख परिहार करने में जो सक्षम हैं, उसको फिर क्या कहेंगे ।।१६

श्रीसनातन गोस्वामी कृत व्याख्या—निखिल स्वरूपों से आपका उत्कर्ष सर्वाधिक है (अथवा भवदीय वृन्दावन की इस प्रकार महिमा है), इसलिए हे त्रिविध मुनिचरी, नित्य प्रिय गोपी रूपादि के कुल के प्राणनाथ ! परम भागवतगण तपो योगोपासनादि के द्वारा भी अविनष्ट लोकमल का

नाशक अर्थात् परम चमत्कारि रासलीलादि रूप वाक्य समूह हैं, उसमें निमग्न होकर तपस्या का परित्याग करते हैं। हे सर्वोत्कृष्ट ! लोक अजस्र दुःखानुभव करते-करते भवदीय श्रीचरण का भजन करते हैं, वे लोक आप की चरण सेवा सर्वविध भजनास्पद है, सन्ताप नाशक है, आनन्दकर है, इस प्रकार जानकर स्वधाम विधुताशय काम गुण होकर ही जो तप का परित्याग किये हैं, यह और अधिक क्या है ॥१६॥

इस विषय में प्रमाण श्रुति इस प्रकार है—

(१) तत् यथा पुष्कर पलाशे आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते।

जाबाल उप कौशल को कहते हैं, उस ब्रह्म की महिमा सुनो ! जिस प्रकार पद्म पत्र में जल संलग्न नहीं होता है, उस प्रकार यथोक्त ब्रह्मज्ञ व्यक्ति में पाप कर्म लग्न नहीं होता है।

(२) न कर्मणा लिप्यते पापकेन। धर्माधर्म कर्म द्वारा बद्ध नहीं होता है।

(३) तत् सुकृत दुष्कृते विधुनुते। संसार के हेतु पाप पुण्य उभय का मल का ज्ञान द्वारा परित्याग करते हैं।

(४) एतं ह वाव न तपति। किम् अहं साधु न अकरवम्। 'किमहं पापम् अकरवम्' आसन्न मरण के समय नरकपात का भय होता है, वह भय आत्मज्ञ पुरुष को उद्विग्न नहीं करता है। भय का कारण—मैंने साधु कर्म नहीं किया है, मैंने पाप कर्म किया है—स्वामीचरण कहते हैं सकल वेद गणेरित सद्गुणः त्वम् इति सर्वमनीषिजनाः रताः।

त्वयि सुभद्रगुणश्रवणादिभिः,
तव पद स्मरणेन गतक्लमाः।

तुम ही सकल वेदोक्त कल्याण गुणराशि हो, इसलिए हे सुभद्र ! सकल विवेकीगण तुम्हारे प्रति अनुरागी होते हैं, तुम्हारे गुण श्रवण के द्वारा पद स्मरण हेतु उभयत्र दुःख का त्याग करते हैं ॥१६॥

श्रुतिरूपा आहुः—इति हेतोः यस्मात्त्वमेव विशुद्धोज्ज्वल रस साम्राज्य मूर्त्तिः सर्वोत्तमः सर्वानन्दातिशायि परमानन्द सन्दोहाववर्षी, ततः

सूरयो ज्ञान निष्ठाद्याः, नतु विशुद्ध महाभावेन त्वद् भजन विचक्षणाः तव कथामृताब्धि राधा सहित निकुञ्ज विलासकथाः परिपक्व तद्भावैः प्रतिपद स पुलकाश्रु कम्पादि विकार चमत्कारं कथ्यमाना एवामृत समुद्रास्तेषाम विच्छिन्न प्रवाह रूपेण तादृशमहाश्चर्य मधुर विलास स्फूर्त्तेः कथाया निवृत्त्य भावात्तमवगाह्य तपांसि तापान् जहुः, कथा श्रवणेन प्रेमाविर्भावाद् वहिरङ्ग साधनानि वा तत्यजुः, किमुत वक्तव्यम्, ये तव पदं चरणारविन्दं भजन्ति, राधासख्यभावाविष्टाः अजस्रं सुखानुभवो यत्र, अन्यत्र कदाचित् सुख विच्छेदोऽपि भवेत् । स्वधाम वृन्दावनम्—राधावृन्दावने वने, इत्युक्तत्वात, तत्र विधुतः चन्द्रभावो महारसाम्भोधि समुज्जृम्भणेनाशय आश्रयो यासां श्रीकृष्ण चन्द्रमास्तं कालयन्ति वशीकुर्वन्ति गुणाः स्मरकेलि वैदग्ध्याद्या परिपोषक कलावत्त्वादयश्च यासां तासां सुख सम्पदः किं वक्तव्या इति भावः । हे परम विशुद्ध प्रेममयावस्थोत्तरावस्थ ।

नित्यगोपी प्रबोधनन्तु—सूरयो महारसमय केलि कलातिपण्डिता यत् कथामृताब्धिमवगाह्यैव विहर तापं जहुः, किमुत वक्तव्यं या स्वधाम्नि वृन्दावने विधुता आशय कालयोर्गुणा यानि गृह बान्धवादि स्मरण रहिता दिन रात्रि विभाग ज्ञान रहिता अपारे श्रीराधाकृष्ण तीव्र प्रणय विलसित रसमय निभृत सपर्या रसोदधौ मग्ना इत्यर्थः ॥१६॥

श्रुतिरूपा गोपीगण कहती हैं—हेतु अर्थ में इति शब्द का प्रयोग हुआ है । कारण तुम ही विशुद्धोज्ज्वल रस साम्राज्यमय मूर्त्ति सर्वोत्तम सर्वानन्दातिशयी परमानन्द सन्दोहवर्षी हो अतएव सूरि विद्वान्गण, ज्ञाननिष्ठ प्रभृति होते हैं, किन्तु विशुद्ध महाभाव द्वारा तुम्हारे भजन सेवा में विलक्षण नहीं हैं, तुम्हारी कथामृताब्धि राधा के साथ निकुञ्ज विलास कथा उस भाव में परिपक्वता प्राप्तकर, प्रत्येक विषयानुशीलन मे पुलक, अश्रु कम्पादि, विकार चमत्कार पूर्ण कथा ही अमृत समुद्र है, उसमें अविच्छिन्न प्रवाह रूप में उक्त महाश्चर्य मधुर विलास की स्फूर्त्ति होती है, कथा की निवृत्ति न होने के कारण उसमें से ही प्रेम आविर्भाव होने से वहिरङ्ग साधन का परित्याग करते हैं, अधिक क्या कहना है, जो लोक तुम्हारे चरणारविन्द का भजन करते हैं, राधा सख्य रस में आविष्ट होते हैं, वहाँ पर अजस्र सुखानुभव

होता है। अन्यत्र कदाचित् सुख का विच्छेद भी होता है। स्वधाम वृन्दावन ही है, वृन्दावन में श्रीराधा ही प्रतिष्ठिता है। इस प्रकार वर्णन है, वहाँ पर श्रीकृष्णचन्द्र भाव को प्राप्तकर व्रजरस सागर को उद्वेलित करते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र सबका आश्रय हैं, उन्होंने ही गोपियों के गुण समूह को स्मर केलि वैदग्धी प्रभृति को रस परिपोषक कला प्रभृति को आत्मसात् किया है, अतएव उन सब गोपियों की सुख सम्पत्ति की बात क्या कहें, हे परम! हे विशुद्ध ! तुम समस्त प्रेममयावस्था को पराभूत करके विराजित हो ॥१६

नित्यगोपियों का प्रबोधन—महारसमय केलिकला पण्डित विद्वान्गण जिनके कथामृत में अवगाहन करके ही विरह ताप से मुक्त होते हैं, अधिक क्या कहना है—जो लोक स्वधाम श्रीवृन्दावन में कर्म वासना तथा काल कृत प्रभाव से मुक्त होकर गृह बान्धवादि का स्मरण से मुक्त होकर दिन रात्रि विभाग ज्ञान रहित होकर श्रीराधा कृष्ण के तीव्र प्रणय विलसित अपार रसमय निभृत सेवा रस महोदधि में निमग्न हैं ॥१६॥

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा,
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः,
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१७॥

सान्वय व्याख्या

असुभृतः (नराः) यदि ते (तव) अनुविधाः (अनुविदधति इति अनुविधाः अनुवर्त्तिनः भक्ताः भवेयुः तर्हि) श्वसन्ति (सफल जीवनाः भवन्ति, इतरथा दृतयः (भस्त्राः) इव (वृथाश्वासाः इत्यर्थः) महदहमादयः (महान् अहङ्कारश्च आदिर्येषां तथोक्ताः) यदनुग्रहतः (यस्य अनुप्रवेशेनलब्ध सामर्थ्याः सन्तः) अण्डं (व्यष्टि समष्टि रूपं देहं) असृजन् (सृष्टवन्तः) यः पुरुषविधः (पुरुषस्य अन्नमयादिषु चरमः (ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छत्वेनोक्तः यः सोऽपि त्वं, सदसतः (स्थूल सूक्ष्मादन्नमयादेः) परं (व्यतिरिक्तं तत्साक्षिभूतं) एषु (अन्नमयादिषु) अवशेषं (अबाध्यं) अथ (अतएव) ऋतं (सत्यं) यत् (भवति सत् त्वमित्यर्थः)।

हयदशभिर्नजौ भजजला गुरुनर्दकम् इति वृत्तरत्नाकर, छन्दो मञ्जरीलक्षणेन च यदिभवतोनजौ भजजला गुरुनर्दटकम्। जय जयेति श्रुति स्तुतेः प्रथमश्लोकादारभ्य आश्रुतिस्तुतेः शेषश्लोकात् (नर्दटकनाम वृत्त छन्दो वर्त्तते, किन्तु श्लोकेऽस्मिन् सदसतः परं त्वमथ इत्यत्र छन्दो भङ्ग दोषापत्तिः, सातु आर्षत एव सोढ़व्या अथवा नर्दटकतः अभिनवं छन्दः, अत्र सुधीभि र्विवेचनीयम्) ॥१७॥

भगवद् भजनहीन मानव निन्दनीय है। जो सब मानव आपके अनुवर्त्ती भक्त हैं, उन सबका जीवन सार्थक है, तद्भिन्न अपर मनुष्यों के जीवन फूंकनी के समान केवल श्वास प्रश्वास निर्वाह करता है। महत्तत्त्व व अहङ्कार तत्त्व जिनके अनुप्रवेश द्वारा सामर्थ्य प्राप्तकर व्यष्टि समष्टि देह सृजन करने में समर्थ हैं, जो पुरुषविध एवं अन्वय है। जो इस अन्नमयादि कोष में चरम (अर्थात् ब्रह्म पुच्छ रूप में उक्त है) जो स्थूल, सूक्ष्म अन्न मयादि कोष से अतिरिक्त तत्साक्षी भूत है, और जो इस अन्नमयादि कोष में अवशेष है, अतएव सत्य स्वरूप है, यह सब ही आप हैं, अपर कोई नहीं ॥१७॥

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या का अनुवाद—प्राणिगण यद्यपि निरन्तर बन्धविधि युक्त हैं, तथापि आपकी प्रार्थना भङ्गहेतु वे सब फूँकनी की भाँति श्वास प्रश्वास का निर्वाह करते हैं। गोपाल वेशधारी आपके अनुग्रह से ही ब्रह्मा व हम सब अण्ड सृजन करते हैं, हे ब्रह्मा विष्णु रुद्र का प्रकाशक! प्रचुर अन्नकूटादि में आसक्ति सम्पन्न आप स्वभक्तदत्त अन्नादि परम प्रीति के साथ आस्वादन कर क्रीड़ा करते रहते हैं। अतएव इस गोवर्द्धन प्रभृति में वर्त्तमान गोष्ठ की आप रक्षा करें। परम दुर्ज्जन कंसादि के वैरी, सत्य स्वरूप व शेषरूप आपको जो जन अन्न प्रदान न कर अवहेलन करते हैं, वे सब ही फूँकनी के समान केवल श्वास प्रश्वास का निर्वाह करते हैं।

चतुर्थ श्रुत्यभिमानी देवतागण स्तव करते हैं, भजन द्विविध—सगुण भजन व निर्गुण भजन, उभयविध भजनहीन पुरुष की निन्दा श्रुति करती है।

(१) असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता: तान् ते प्रेत्य अभि-गच्छन्ति ये के आत्महनोजना: । परमात्मज्ञानशून्य भगवद् विमुखव्यक्तिगण मरणोपरान्त में असूर्य्य लोक अर्थात् कर्मफल प्राप्त होते हैं ।

(२) इह एव सन्त: अथ विद्म: तत् वयम् । न चेद् अवेदी: महती विनष्टि: । यत् तद्विदु: अमृता: ते भवन्ति ॥ अपरे दु:खमेव यन्ति ॥

हम सब प्रभु को जानेंगे, और इस लोक में ही जानेंगे । यदि तुम परमात्म तत्त्व को न जान सको तुम्हारी जन्म मरणादि रूप अनन्त संसृति होगी । कारण उनको जो लोक जानते हैं, वे लोक जन्म मरणादि दु:ख से मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप होते हैं, अपर जन दु:ख प्राप्त होते हैं, असुभृत: नारायण 'यदि तेऽनुविधा' तुम्हारे अनुसरण करते हैं, अर्थात् तुम्हारे भक्त बन जाते हैं, तब उन सबको ठीक जीवित अर्थात् सफल जीवन कहा जाता है, और यदि भक्त नहीं होते हैं तो 'दृतय:, श्वसन्ति' फूँकनी की भाँति वृथा श्वास प्रश्वास वहन करते हैं ।

प्रश्न—अभक्तों के काम अर्थ की प्राप्ति तो होती है ?

उत्तर—कार्य कारण व अनुग्राहक रूप में जीवन के हेतु आप ही हैं, आपके भजन को छोड़कर मनोरथ करने पर अर्थ काम भी सिद्ध नहीं होता है । देह एवं महदादि का अनुग्राहक आप हैं, अर्थात् जीवन हेतु, सामर्थ्यदाता आप ही हैं, आपका उपकार जो लोक नहीं जानते हैं, उस कृतघ्नों के कामादि की सिद्धि नहीं होती है ।

प्रश्न—चिदेक रस आप हैं, आपका अन्नमयादि आकार किस प्रकार सम्भव है ?

उत्तर—'अत्र अन्वय:' इस अन्नमयादि में अन्वित होते हो, इसलिए अन्नमयादि का आकार प्राप्त होते हो ।

प्रश्न—यदि वैसा हो तो आपका सत्यत्व कैसे होगा ?

उत्तर—अन्नमयादिषु य: चरम: त्वम् तथा । अन्नमयादि में जो चरम हैं, अर्थात् ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा, अर्थात् पुच्छ रूप में उक्त आप ही हो ।

प्रश्न—अन्नमयादि में अन्वित होने पर असङ्ग होना कैसे सम्भव होगा ?

उत्तर—आप 'सदसतः परम्' स्थूल व सूक्ष्म से अतीत हो उसकी साक्षी हो, 'यत् अवशेषम् ऋतम्' आप अवशेष हो अर्थात् अबाधित हो, अतएव सत्य हो।

प्रश्न—अन्नमयादि में अन्वित कहने का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—शाखा चन्द्रन्याय से शुद्ध स्वरूप बोध कराने के लिए कहा गया है। वह पुरुष अन्नरसमय है, यह उनका शिर है, इस प्रकार सूक्ष्म स्थूल क्रम से पञ्चकोश को कहकर एवं पुनः-पुनः उसमें अन्वित हैं, कहकर ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा, सर्वसाक्षी, शुद्ध स्वरूप का निरूपण किये हैं।

पञ्चकोश

अन्नमयपुरुष—

(१) सवा एषः पुरुषः अन्नरसमयः। तस्य इदम् एव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः, अयम् उत्तर पक्षः, अयम् आत्मा ॥ इदम् पुच्छम् प्रतिष्ठा ॥

पहले कहा गया है, अन्न से प्रजा की सृष्टि हुई है। अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ है, यह पुरुष अर्थात् देह अन्नरस का विकार है। इस देह के ये सब कल्पना नहीं है, वास्तव है, यह दक्षिण बाहु हैं, यह वाम बाहु है, यह आत्मा अर्थात् मध्यम देह का अंश है। नाभि के अधोभाग में जो अङ्ग है, वह पुच्छ की भाँति है, अतएव पुच्छ है, अधः जड़ में अवस्थित है, अतएव अङ्ग प्रतिष्ठा या आश्रय है।

प्राणमय पुरुष—

(२) तस्मात् वा एतस्मात् अन्नरसमयात् अन्यः अन्तरः आत्मा प्राणमयः तेन एषः पूर्णः। सवा एषः पुरुषविधः। तस्य विधताम्, अन्वयं पुरुषविधः तस्य प्राणम् एव शिरः। व्यानः दक्षिण पक्षः। अपानः उत्तर पक्षः। आकाशः आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्य एषः शरीरः आत्मा यः पूर्वस्य।

अन्न रसमय पुरुष से अन्य आत्मेतर आत्मा प्राणमय है। प्राण अर्थात् वायु, प्राणमय द्वारा अन्न रसमय पूर्ण है, जिस प्रकार वायु द्वारा दृति अर्थात् चर्म यन्त्र पूर्ण होता है, वह प्राणमय आत्मा 'पुरुषविध' पुरुषाकार है, उस अन्न रसमय आत्मा की पुरुषविधता, पुरुषाकार 'अन्वयं' पश्चात् लक्ष्य करके

प्राणमय पुरुषविध होता है, कारण अन्न रसमय के अन्तर्वर्त्ती हैं, मुषायन्त्र निषिक्त धातु प्रतिमा की भाँति प्राणमय के मुख व नासिकादि है, प्राण वायु उसका मस्तक है, व्यान वायु उसका दक्षिण हस्त है। अपान अर्थात् अधोवायु वाम हस्त है। आकाशस्थ समान वायु आत्मा अर्थात् मध्य भाग है, पृथिवी अभिमानिनी देवता उसकी पूँछ हैं, आध्यात्मिक प्राण की धारयित्री पृथिवी है, कारण स्थिति के हेतु उदान वायु के द्वारा ऊर्द्धगमन वा शरीर का गुरुत्व हेतु पतन नहीं होता है, इसलिए पृथिवी पुच्छ है, प्राणमय, अन्नमय शरीर की आत्मा है। अन्नमय की अपेक्षा प्राणमय श्रेष्ठ है, प्राण बल के कारण ही सेन्द्रिय देह का बल है।

मनोमय पुरुष–

(३) तस्मात् वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्य आन्तरः आत्मा मनोमयः तेन एषः पूर्णः। सवा एषः पुरुषविधः। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुष विधः। तस्य यजुः एव शिरः। ऋक् दक्षिणः पक्षः साम उत्तर पक्षः आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छ प्रतिष्ठा। तस्य एषः शारीरः आत्मा यः पूर्वस्य :

प्राणमय से अन्य आन्तर आत्मा मनोमय है। मनः अर्थात् सङ्कल्प विकल्पात्मक अन्तःकरण है, प्राणमय का आभ्यन्तर आत्मा है, मनोमय के द्वारा प्राणमय पूर्ण है, प्राणमय की पुरुषविधता पुरुषाकार पश्चात् लक्ष्य करके यह भी पुरुषाकार है। उस मनोमय का यजुर्वेद मन्त्र विशेष ही शिर है, स्वाहा शब्द के द्वारा हवि प्रदान किया जाता है। ऋक् मन्त्र विशेष इस का दक्षिण बाहु है। सामवेद मन्त्र इसका वाम बाहु है, आदेश अर्थात् ब्राह्मण मन्त्र विशेष इसका मध्य भाग है। अथर्व अङ्गिरस दृष्टमन्त्र विशेष ब्राह्मण इसकी पुच्छ है। शान्ति पौष्टिकादि कर्म, शरीर आत्मा है। प्राणमय की अपेक्षा मनोमय श्रेष्ठ है, कारण इसमें ज्ञान का सम्बन्ध है।

विज्ञानमय पुरुष–

(४) तस्माद् वा एतस्मात् मनोमयात् अन्यः आन्तरः आत्मा विज्ञानमयः। तेन एष पूर्णः। सवा एषः पुरुषविधः। तस्य श्रद्धा एव शिरः

ऋतं दक्षिण पक्षः। सत्यम् उत्तर पक्षः। योगः आत्मा। मनः पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्यः एषः शारीरः आत्मा यः पूर्वस्य॥

मनोमय से अन्य आन्तरस्थ आत्मा विज्ञानमय है। विज्ञान शब्द का अर्थ—निश्चयात्मिका बुद्धि है। मनोमय-विज्ञानमय द्वारा पूर्ण है। विज्ञानमय पुरुषाकार है। मनोमय का पुरुषाकार को पश्चात् देखकर पुरुषाकार पुरुषविध होता है। उस विज्ञानमय श्रद्धा शिरः है, ऋत अर्थात् सुनृता बाहु दक्षिण बाहु है। यथार्थ भाषण वाम बाहु है, युक्ति समाधान उसका मध्य भाग है, महत्तत्त्व है, उसकी पुच्छ है। सबका कारण है। कारण में कार्य की प्रतिष्ठा है, मनोमय वेदात्मक है, वेदार्थ निश्चयात्मिका बुद्धि विज्ञान है। निश्चय विज्ञानवान् पुरुष की कर्त्तव्य विषय में प्रथम श्रद्धा होती है, श्रद्धा सर्व कर्त्तव्य में प्रथम कर्त्तव्य है, सर्व कर्त्तव्य तज्जन्य है।

आनन्दमय—

(५) तस्माद् वा एतस्मात् विज्ञानमयात् अन्यः आन्तर आत्मा आनन्दमयः, तेन एषः पूर्णः स वा एषः पुरुपविधः। तस्य पुरुष विधताम् अन्वयं पुरुष विधः। तस्य प्रियम् एव शिरः। मोदः दक्षिण पक्षः। प्रमोदः उत्तर पक्षः आनन्दः आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्य एषः शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

विज्ञानमय से अन्य आभ्यन्तर आत्मा आनन्दमय है। आनन्द का विकार शुद्ध जीव द्वारा विज्ञानमय पूर्ण है। उस आनन्दमय पुरुषाकार विज्ञानमय की पुरुषविधता के पश्चात् लक्ष्य करके ही पुरुषाकार है। उस आनन्दमय का प्रियम् इष्ट पुत्रादि संदर्शन ही शिरः है। प्राधान्य हेतु शिर है। मोद अर्थात् प्रिय वस्तु लाभ हेतु मुखप्रसन्नता रूप हर्ष दक्षिण बाहु है। प्रमोद अर्थात् प्रकृष्ट हर्ष अर्थात् प्रहास्य युक्तः हर्ष वाम बाहु है। प्रियादि सुखावयव में आनन्द अनुस्यूत होने के कारण आनन्द मध्य भाग है। उस आनन्दमय आत्मा की ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है, अर्थात् आश्रय है। अन्तरतमत्व ज्ञान के लिए अन्नमयादि पञ्चकोश का उपन्यास शाखाचन्द्र न्याय से हुआ है। अतएव ब्रह्म सबके एकमात्र आश्रय हैं॥१७॥

श्रुतिरूपा आहुः—शुद्धकृष्णरसाविष्टाः समास्तान् अभक्तान् निन्दन्ति असुभृतो यदि ते तव राधया सह शुद्धरस विलासेन क्रीड़तोऽनुविधा, अनुरूपा

प्राणमय पुरुषविध होता है, कारण अन्न रसमय के अन्तर्वर्त्ती हैं, मुषायन्त्र निषिक्त धातु प्रतिमा की भाँति प्राणमय के मुख व नासिकादि है, प्राण वायु उसका मस्तक है, व्यान वायु उसका दक्षिण हस्त है। अपान अर्थात् अधोवायु वाम हस्त है। आकाशस्थ समान वायु आत्मा अर्थात् मध्य भाग है, पृथिवी अभिमानिनी देवता उसकी पूँछ हैं, आध्यात्मिक प्राण की धारयित्री पृथिवी है, कारण स्थिति के हेतु उदान वायु के द्वारा ऊर्द्धगमन वा शरीर का गुरुत्व हेतु पतन नहीं होता है, इसलिए पृथिवी पुच्छ है, प्राणमय, अन्नमय शरीर की आत्मा है। अन्नमय की अपेक्षा प्राणमय श्रेष्ठ है, प्राण बल के कारण ही सेन्द्रिय देह का बल है।

मनोमय पुरुष–

(३) तस्मात् वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्य आन्तरः आत्मा मनोमयः तेन एषः पूर्णः। सवा एषः पुरुषविधः। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुष विधः। तस्य यजुः एव शिरः। ऋक् दक्षिणः पक्षः साम उत्तर पक्षः आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छ प्रतिष्ठा। तस्य एषः शारीरः आत्मा यः पूर्वस्य :

प्राणमय से अन्य आन्तर आत्मा मनोमय है। मनः अर्थात् सङ्कल्प विकल्पात्मक अन्तःकरण है, प्राणमय का आभ्यन्तर आत्मा है, मनोमय के द्वारा प्राणमय पूर्ण हैं, प्राणमय की पुरुषविधता पुरुषाकार पश्चात् लक्ष्य करके यह भी पुरुषाकार है। उस मनोमय का यजुर्वेदि मन्त्र विशेष ही शिर है, स्वाहा शब्द के द्वारा हवि प्रदान किया जाता है। ऋक् मन्त्र विशेष इस का दक्षिण बाहु है। सामवेद मन्त्र इसका वाम बाहु है, आदेश अर्थात् ब्राह्मण मन्त्र विशेष इसका मध्य भाग है। अथर्व अङ्गिरस दृष्टमन्त्र विशेष ब्राह्मण इसकी पुच्छ है। शान्ति पौष्टिकादि कर्म, शरीर आत्मा है। प्राणमय की अपेक्षा मनोमय श्रेष्ठ है, कारण इसमें ज्ञान का सम्बन्ध है।

विज्ञानमय पुरुष–

(४) तस्माद् वा एतस्मात् मनोमयात् अन्यः आन्तरः आत्मा विज्ञानमयः। तेन एष पूर्णः। सवा एषः पुरुषविधः। तस्य श्रद्धा एव शिरः

ऋतं दक्षिण पक्षः। सत्यम् उत्तर पक्षः। योगः आत्मा। मनः पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्यः एषः शारीरः आत्मा यः पूर्वस्य॥

मनोमय से अन्य आन्तरस्थ आत्मा विज्ञानमय है। विज्ञान शब्द का अर्थ—निश्चयात्मिका बुद्धि है। मनोमय-विज्ञानमय द्वारा पूर्ण है। विज्ञानमय पुरुषाकार है। मनोमय का पुरुषाकार को पश्चात् देखकर पुरुषाकार पुरुषविध होता है। उस विज्ञानमय श्रद्धा शिरः है, ऋत अर्थात् सुनृता बाहु दक्षिण बाहु है। यथार्थ भाषण वाम बाहु है, युक्ति समाधान उसका मध्य भाग है, महत्तत्त्व है, उसकी पुच्छ है। सबका कारण है। कारण में कार्य की प्रतिष्ठा है, मनोमय वेदात्मक है, वेदार्थ निश्चयात्मिका बुद्धि विज्ञान है। निश्चय विज्ञानवान् पुरुष की कर्त्तव्य विषय में प्रथम श्रद्धा होती है, श्रद्धा सर्व कर्त्तव्य में प्रथम कर्त्तव्य है, सर्व कर्त्तव्य तज्जन्य है।

आनन्दमय—

(५) तस्माद् वा एतस्मात् विज्ञानमयात् अन्यः आन्तर आत्मा आनन्दमयः, तेन एषः पूर्णः स वा एषः पुरुषविधः। तस्य पुरुष विधताम् अन्वयं पुरुष विधः। तस्य प्रियम् एव शिरः। मोदः दक्षिण पक्षः। प्रमोदः उत्तर पक्षः आनन्दः आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्य एषः शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

विज्ञानमय से अन्य आभ्यन्तर आत्मा आनन्दमय है। आनन्द का विकार शुद्ध जीव द्वारा विज्ञानमय पूर्ण है। उस आनन्दमय पुरुषाकार विज्ञानमय की पुरुषविधता को पश्चात् लक्ष्य करके ही पुरुषाकार है। उस आनन्दमय का प्रियम् इष्ट पुत्रादि संदर्शन ही शिरः है। प्राधान्य हेतु शिर है। मोद अर्थात् प्रिय वस्तु लाभ हेतु मुखप्रसन्नता रूप हर्ष दक्षिण बाहु है। प्रमोद अर्थात् प्रकृष्ट हर्ष अर्थात् प्रहास्य युक्तः हर्ष वाम बाहु है। प्रियादि सुखावयव में आनन्द अनुस्यूत होने के कारण आनन्द मध्य भाग है। उस आनन्दमय आत्मा की ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है, अर्थात् आश्रय है। अन्तरतमत्व ज्ञान के लिए अन्नमयादि पञ्चकोश का उपन्यास शाखाचन्द्र न्याय से हुआ है। अतएव ब्रह्म सबके एकमात्र आश्रय हैं॥१७॥

श्रुतिरूपा आहुः—शुद्धकृष्णरसाविष्टाः समास्तान् अभक्तान् निन्दन्ति असुभृतो यदि ते तव राधया सह शुद्धरस विलासेन क्रीड़तोऽनुविधा, अनुरूपा

भजनप्रकारवन्तो हृदि तत्कालीनरसपोषानुकूलविधायका वा तर्हि जीवन्ति, नोचेद् दृतय इव वृथा जीवना इत्यर्थः।

यद्वा, यदि तेऽसून् प्राणान् बिभ्रति, आपूर्ण विशुद्ध तदनुरागमयी राधिका तस्या अनुवर्त्तिन स्तदादृतय इव विश्वादग्विषयभूताः श्रीराधागरुय इव ते भवन्ति, तासां सारूप्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यस्त्वं महदहमादयो महान् हिरण्यगर्भः अहः श्रीरुद्रः, हन्ति हरतीति हा विच् न विद्यते हा यस्मादिति व्युत्पत्तेः, मा लक्ष्मीः, तास्वपि अदयो विशुद्धमहाभावाशयाखिद्यमानास्वपि तद्दानेन न कृपा कर्त्तेत्यर्थः, योग्यतानुसारित्वान् तत् कृपायाः, योग्यता च तत्तन् स्वरूपत्वमेवेति। किञ्च अण्डमसृजन् ब्रह्माण्डस्य योऽस्रष्टा इत्यर्थः। ब्रह्माण्डस्रष्टा स्वरूपांऽभिमान रहितो देवकीनन्दन रूपेण सर्वात्मब्रह्मत्वसमस्त भगवत् स्वरूपाभिमानः, नतु व्रजेन्द्रकुमाररूपेण। किञ्च, योऽनुग्रहता, उग्रा हता येन स न, नहि असुरहन्तृ हननेन कर्मस्थापके स्वरूपे यशोदेयस्याभिमानः। यद्वा, यस्यानुग्रह हेतोर्महदमादयोऽण्डं निजजन्मकारणत्वेनासृजन् बहुतरतपोभिः परमेश्वर प्रसाद्य वृन्दावने अण्डजरूपता वरोलब्ध इत्यर्थः। यस्त्वं पुरुषस्य प्राकृतमनुष्यस्येव विधा ज्ञानप्रकारा यस्य, अतिमुग्धरूपः। अन्वेति अनुवर्त्तते। सदा रसज्ञगोपीकामपीड़ितो गोप्यं सद् ब्रह्मस्वरूप मन्यद् वा ब्रह्ममयसद्‌यस्य महाविशुद्धस्वभावाविष्टजनस्य, त्वं कथम्भूतः? रमतइति रसः, रमयतीति वा। अयादिषुमध्ये परमुत्कृष्टम्, अयो ज्ञान स्वरूपं ब्रह्म तदादिषु पुमर्थेषु एषु शेषमृतं सत्यम्, अत्र प्रतिपालय। समस्त सत्य पुरुषार्थेषु आनन्दचमत्कारन्यूनतया निरस्तेषु शिष्टं राधाकण्ठभूषण सेवारसरूपं सत्यं पुरुषार्थोत्तमं श्रुतीनामस्माकं तत्त्वज्ञानोदयेन तिरोभवा द्रक्षेत्यर्थः॥

नित्यगोपी बोधनन्तु—ते तव, असुभृतो राधाया अनुविधा अनुवर्त्तिन्यो यदि सर्वात्मभावेनेमास्तर्हि (ऋतं च सुनृतावाणी) दृतये तव आदराय इव जीवन्ति, इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। ग्राहितामानाया श्रीराधिकायां तत् प्रसादनाय हि त्वया तत् सख्योऽनुनीयन्ते, दानमानादिना चाभ्यर्थ्यन्ते। ताश्च तां मानयित्वा वैदग्धीमधुरसङ्गमेनोभयो विहारमतिविचित्रं पश्यन्त्योऽति रससागरे निमज्जन्तीति त्वत्कृतादरेण च ताः सर्वोत्तमपदवीं प्राप्नुवन्तीति

आह-यस्य तवानुग्रहादत्र वृन्दावनेऽण्डमपि तवमहदारणीयं मह इव चरति, महत् मूर्त्तिमांस्त्वदुत्सव इव भवतीत्यर्थः। किञ्च, अत्र वृन्दावने पूर्ववद् यस्य यस्या वा अनुग्रहादहमाप्राकृत देहाहङ्कारेण, अदयो निर्दयोऽपि, अत् विषय भोगस्तदर्थमय इत स्ततो भ्रमन्नपि असृजत् वस्तुतः किमपि वहिर्म्मुख कर्म न कुर्वन् भवति। तेन न लिप्यते, देहपात एव परम शुद्धरसमय पदवीं प्राप्नोतीत्यर्थः। यद्वा, परदृष्ट्या परं वहिर्म्मुखो दृश्यते स्वमात्मानं तथा न पश्यतिवस्तुतोऽप्राकृत चिद्रसघनविग्रहो जात एव, वृन्दावन सम्बन्ध महिम्नेति यद्वा, न विद्यते सृजत् स्रष्टा यस्मात् स भगवान्नारायणस्तत्तुल्यमहिमा भवतीत्यर्थः यस्त्वमत्र श्रीवृन्दावने पुरुषविधोऽति कामान्धप्राकृत पुरुषतुल्यः कामान्धत्वाकारमात्रेण साम्यम् ? वस्तुतस्तेषां जड़ दुःखात्मकं तत्त्व पूर्ण परमानन्दमहारसमयमिति। अन्वय सदा अन्त्येव (समीपे एव) न तु मनाक् विच्छेदसहिष्णुः, रमः सदा रममाणश्च। अस धातुर्दीप्तौः, दीप्यते इति असः सती उत्तमा असता दीप्तता यस्य, यद्वा, अत्र वृन्दावने राधाविलास निकेतने तदनुग्रह भजने सतोऽसतो वा सर्वस्य त्वमन्वयोऽनुवर्त्ती। सतोऽसतश्च रमयिता आनन्दयितेति वा अथ अतो हेतोः, अन्नमयं शरीरं मनो वा तेनादीयमानेषु मध्ये परम्, अन्यत् सर्वमस्माकमृतं गतं तद्रसलोभेनेहलोक परलोकचेष्टाः सर्व संत्यक्ता इत्यर्थः। अवशेषं वर्त्तते त्वत् प्रीतिमात्रमेव एपु शिष्टं वर्त्तत इत्यर्थः ॥१७॥

श्रुतिरूपा कहती है—शुद्ध कृष्ण रसाविष्ट भक्तगण समस्त भक्त की निन्दा करते हैं, असुभृत जीवित मानवगण यदि श्रीराधा के साथ शुद्ध क्रीड़ा रस विलास से क्रीड़ारत तुम्हारे, अनुविधा अनुरूप उल्लास कर भजन प्रकार को जानकर हृदय में तत्कालीन रस पोषानुकूल आचरणकारी होते हैं, तब ही उन सबका जीवित होना सार्थक होता है, अन्यथा फूँकनी की भाँति वृथा जीवन धारण होता है। अथवा यदि वे प्राण धारण करते हैं, या पूर्ण विशुद्ध तदनुरागमयी राधिका है, उनके अनुवर्त्तिजनगण ही विश्वादरविषयभूत श्रीराधा सखीगण के समान ही आदर के पात्र होते हैं, उन सबके सारूप्य को प्राप्त करते हैं। कारण आप महद् अहङ्कार प्रभृति को महान् हिरण्यगर्भ, अहः श्रीरुद्र, हन्ति हरतीति हा विच् संहारकर्त्ता, जिससे

नाश सम्भव नहीं है, माँ लक्ष्मी इन सबको अदय महाभाव प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील होने पर भी उसको प्रदान कर कृष्ण कृपा नहीं करते हैं। योग्यता के अनुसार हो जाती है, योग्यता उन स्वरूप का ही नाम है। और भी अण्डमसृजन् ब्रह्माण्ड का जो जन अस्रष्टा हैं। ब्रह्माण्ड स्रष्टा स्वरूप अभिमान रहित, देवकीनन्दन रूप में सर्वात्म ब्रह्मत्व समस्त भगवत् स्वरूपाभिमान है, ब्रजेन्द्र कुमार रूप नहीं है। और भी जो जन अनुग्रहत, उग्रों की हत्याकारी भी नहीं, कारण असुर हन्ता हनन रूप कर्म स्थापक स्वरूप में यशोदानन्दनाभिमान नहीं है। यद्वा, जिनके अनुग्रह से महद् अहं तत्त्व प्रभृति अण्ड को निज-निज जन्म कारण रूप में सृजन करते हैं। बहुतर तपस्या के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न कर वृन्दावन में अण्डज रूपता का वर को उन्होंने प्राप्त किया, आप पुरुष प्राकृत पुरुष मनुष्य के विधा समान ज्ञानशील अति मुग्ध रूप हैं। अनु शब्द, अनुवर्त्तन अर्थ में प्रयुक्त है। सदा रसज्ञ गोपी काम पीड़ित आप हैं, अथच महा विशुद्ध स्वभावाविष्ट हैं, आप किस प्रकार हैं? रमणकारी व रमण करने वाले हैं। अयादि के मध्य में परम उत्कृष्ट स्वरूप हैं, अय, ज्ञान स्वरूप ब्रह्म हैं, उन सब पुमर्थों में से आप ही परम उत्कृष्ट पुरुषार्थ हैं। इन सबको सत्य रूप में 'अव' प्रतिपालन करो, समस्त सत्य पुरुषार्थ में आनन्द चमत्कार की न्यूनता के कारण उसको परित्याग कर एकमात्र वेदादि शास्त्र विहित राधाकण्ठ भूषण सेवा रस रूप सत्य उत्तम पुरुषार्थ का ज्ञान हम सब श्रुतियों का हुआ है, तत्त्व ज्ञानोदय होकर उसका तिरोभाव न हो जाय, उससे आप उसकी रक्षा करें ॥१७॥

नित्यगोपी बोधन—ते 'तुम्हारे असुभृत प्राण' सर्वस्व श्रीराधा के अनुवर्त्तिनी यदि सर्वात्मभाव से ये सब होते हैं, तब (ऋतं सुनृता सत्य वाणी) तुम्हारे आदर के लिए ही जीवन प्राप्त होकर रहती हैं, इव शब्द उत्प्रेक्षा अर्थ में प्रयुक्त है। श्रीराधिका मानवती होने पर उसको प्रसन्न करवाने के लिए तुम उनकी सखियों के समीप अनुनय विनय प्रार्थना करते रहते हो, दान मान प्रभृति से भी सम्मान अभ्यर्थना करते हो, सखीगण श्रीराधिका को मना कर वैदग्धी मधुर सङ्गम सम्पादन करती हैं, इससे उभय की अति विचित्र विहार होता है, उसे देखकर वे सब अति रस सागर में निमज्जित

हो जाती है, इस प्रकार तुम्हारे समादर लाभकर वे सब सखी सर्वोत्तम पदवी को प्राप्त करती हैं। उसको कहती हैं—

तुम्हारे अनुग्रह से उस वृन्दावन में अण्ड भी महद् होता है। यद्वा जिस श्रीराधा के अनुग्रह से इस वृन्दावन में अण्ड भी तुम्हारे महदादरणीय होकर मह के समान विचरण करता है, महद् मूर्त्तिमान् तुम्हारे आनन्दप्रद उत्सव के समान होता है। किञ्च इस वृन्दावन में पूर्ववत् जिसका एवं जिसकी, अनुग्रह से प्राकृत देहाहङ्कार से अदय निर्दय होकर भी, अत् विषय भोग, उसके लिए 'अय' इतस्तत घूमता हुआ भी संसार प्राप्त नहीं करता है, वस्तुतः कुछ भी वहिर्मुख कर्म नहीं करता है, उससे वह लिप्त नहीं होता है, देह पात होने पर ही शुद्ध रसमय पदवी को प्राप्त करता है। यद्वा, अपर की दृष्टि से वह वहिर्मुख दिखता है, किन्तु वह अपने को वैसा नहीं पाता है, वस्तुतः अप्राकृत चिद्रसघन विग्रह होता है, यह सब ही वृन्दावन सम्बन्ध की महिमा से सम्भव है। अथवा जिनका स्रष्टा नहीं है, वह भगवान् नारायण हैं, उनके समान महिमा होती है। तुम भी इस वृन्दावन में पुरुषविध अति प्राकृत पुरुष के तुल्य कामान्ध हो, कामान्धत्व आकार मात्र से ही दोनों में समता है। वस्तुतः प्राकृत कामान्ध का जड़ दुःखात्मक भोग है, और तुम्हारा पूर्ण परमानन्द महारसमय का आस्वादन है। 'अन्वय' सर्वदा अन्तिक में समीप में हो रहते हैं, कभी भी ईषत् विच्छेद सहन नहीं करना पड़ता है, सर्वदा रमण परायण भी हो। अस् धातु का दीप्ति अर्थ है, दीप्यते प्रकाशित होता है, इसलिए अस है। सती, उत्तमा असता दीप्तता जिसका प्रकाश है। अथवा इस वृन्दावन राधा विलास निकेतन में तुम्हारे अनुग्रह रूप भजन में प्रकाशशील अप्रकाशशील, सबके तुम अनुवर्त्ती हो सबका आनन्द दान तथा रमण प्रदान भी करते हो। अतएव अथ अत तु अर्थक शब्द है, अन्नमय शरीर, मन भी सब ही तुम्हारे अनुग्रह से श्रेष्ठ परम होते हैं, अन्य सब लोक उस रस आस्वादन लोभ से इहलोक परलोक का सब त्याग करते हैं। तुम्हारी प्रीति मात्र अवशेष रहती है। वेदादि शास्त्रों का एकमात्र निर्णय भी भगवत् प्रीति ही है ॥१७॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसुकूर्पदृशः,
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयोदहरम् ।
तत उदगादनन्त तवधाम शिरः परमं,
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१८॥

सान्वयव्याख्या

ऋषिवर्त्मसु (ऋषीणां सम्प्रदायमार्गेषु) ये कूर्पदृशः (स्थूल दृष्टयः ते) उदरं (उदरालम्बनं मणिपुरस्थं ब्रह्म) उपासते (ध्यायन्ति) आरुणयः, परिसर पद्धतिं (परितः सरन्ति प्रसरन्तीति परिसराः नाड्यः तासां पद्धतिं मार्गं प्रसरण स्थानमित्यर्थः) हृदयं (हृदयस्थितं) दहरं (सूक्ष्मं उपासते) अनन्त ! ततः (हृदयात्) परमं (उत्कृष्टं) तव (परमात्मनः) धाम (उपलब्धिस्थानं सुषुम्णाख्यं) शिरः उद्गात् (उदसर्पत्) यत् समेत्य (प्राप्य) पुनः इह कृतान्त मुखे न पतन्ति ॥१८॥

श्रीसनातन सम्मताव्याख्या—ऋषिवर्त्मसु (ऋषियोग्य भक्ति मार्गेषु) ये कूर्पदृशः (सूक्ष्मदृष्टयः वशिष्ठाद्याः ते) उदरं (माथुरमण्डलस्य उदर स्थानीयं मधुवनं) उपासते, आरुण्यः (अनुरागिनस्तु) परिसर पद्धतिं (परितः सरन्तीति परिसराः निर्झरादयः तेषां पद्धतिं आगतस्थानं) दहरं (कुञ्जादिभिर्गह्वरं) हृदयं श्रीवृन्दावनं उपासते) अनन्तः। ततः (अनन्तरं) शिरः (शिरोभूतं) परमं (श्रेष्ठं) तव धाम (निवासस्थानं) उदगात्, यत् समेत्य पुनः इह कृतान्तमुखे (दैवमुखे) न पतन्ति (दैववशगाः न भवन्तीत्यर्थः) ॥१८॥

स्थूल दृष्टि सम्पन्न ऋषिगण उदरालम्बन मणि पूरस्थ ब्रह्म का ध्यान करते हैं, और आरुणि ऋषिगण नाड़ी के प्रसरण स्थान हृदय स्थित सूक्ष्म ब्रह्म का ध्यान करते हैं। हे अनन्त ! हृदय से उत्कृष्ट परमात्म स्वरूप आपकी उपलब्धि स्थान सुषुम्णा नाड़ी मस्तक के प्रति उद्गत हुई है, जिस स्थान को प्राप्त होने पर पुनर्बार मृत्यु प्रवाह में गिरना नहीं पड़ता है ॥१८॥

श्रीसनातन सम्मतव्याख्या—ऋषि योग्य भक्तिमार्ग के मध्य में जो सब सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न श्रीवशिष्ठ प्रभृति हैं, वे सब माथुर मण्डल के उदर

स्थानीय मधुवन में उपासना करते हैं, अनुरागिगण परिसर के आगत स्थान व कुञ्जादि गह्वर युक्त श्रीवृन्दावन में उपासना करते हैं। हे अनन्त ! इसके बाद ही शिरोभूत श्रेष्ठ भवदीय निवास स्थान उद्गत हुआ है, जिसको प्राप्त कर लेने के बाद पुनर्बार दैववश नहीं होना पड़ता है ॥१८॥

पञ्चम श्रुति अभिमानिनी देवतागण स्तव करते हैं—श्रुतिः (१) उपाधि आलम्बनम् उपासनम्। उदरं ब्रह्म इति शार्कराक्षा उपासते। हृदय ब्रह्म इति आरुणयः 'ब्रह्म ह एव ता' इतः ऊर्द्ध तु एव उदसर्पत् 'तच्छिरः आश्रयतः' वैश्वानर अग्नि—अर्थात् जठरानल रूप में अवस्थित ब्रह्म उदर में अधिष्ठित हैं। शार्कराक्ष ऋषिगण उदर ब्रह्म की इस प्रकार उपासना करते हैं। आरुणिगण हृदय ब्रह्म की उपासना इस प्रकार से करते हैं, उदर के ऊर्द्धदेश हृदय परब्रह्म की उपलब्धि स्थान है, इसलिए हृदय ब्रह्म रूप की उपासना करते हैं। वे सब उदर व हृदय की उपासना कर उदर व हृदय रूप ब्रह्म हो जाते हैं। वह ब्रह्म उसके स्थान को मस्तक आश्रय करते हैं। मस्तक में चक्षु श्रोत्रादि करण निज-निज स्थान में पृथक्-पृथक् रूप में अपने को निक्षेप कर दर्शनादि कार्य सम्पन्न करते हैं। ऋषिगण स्थूल दृष्टि सम्पन्न होकर उदरालम्बन मणिपुरस्थ ब्रह्म का ध्यान करते हैं, यह प्रथम प्रवेशिका उपासना है, आरुणिगण हृदय में उपासना कर सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न कहलाते हैं। पायुदेश में मूलाधार नामक चक्र है, सुषुम्ना नाड़ी मूलाधार से निसृत होकर हृदय से होकर ब्रह्मरन्ध्र को अर्थात् ब्रह्म लोक को गई है। उसके बाद ही हे अनन्त ! आपका धाम अर्थात् उपलब्धि स्थान है, सुषुम्ना परम श्रेष्ठ ज्योतिर्म्मय मूर्द्धा से उद्गत होती है। अर्थात् मूलाधार से आरम्भ कर हृदय के पथ पर ब्रह्मरन्ध्र में उद्गत होती है। आपका धाम कैसा है ? जिसको प्राप्त कर लेने से पुनर्बार मृत्युरूप संसार में आना नहीं पड़ता है। प्रमाण श्रुति—(१) शतं च एका च हृदयस्य नाड्यः तासाम् मूर्धानम् अभिनिः सृत्य एका। तया ऊर्द्धम् आयन् अमृतत्वम् एति, विष्वक् अन्या उत्क्रमणे भवन्ति एकोत्तर शत नाड़ी हृदय के साथ सम्बन्धान्वित हैं, उसके मध्य में एक नाड़ी सुषुम्ना मूर्द्धा पर्यन्त विस्तृत है। उस नाड़ी से गमन करने पर उपासक अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। अन्य नाड़ी नानागति सम्पन्न हैं, उससे

संसार होता है। इसकी प्रथम उपाधि आलम्बन उपासना कही जाती है ॥१८॥

श्रुतिरूपा आहुः—हे अनन्त ! अनापेक्षिक स्वरूप गुणशक्त्यादि परिच्छेद रहित श्रीव्रजराज कुमार ! राधिका प्राणनाथ ! ये ऋषीणां श्रीराधिका प्रियसखी भावेन विशुद्ध रसमय-त्वद् भजन परिपाटी-सम्यग-भिज्ञास्तेषां वर्त्मसु कूर्पदृशस्तद् ग्रहणासमर्थ दृष्टय इत्यर्थः। उत्कृष्टा अरा यस्य तदुदरं कालचक्रं संसारचक्रमेवोपासते उदरम्भरय इतिवा, परितः सरन्ति परिसराः संसारिणस्तेषां पद्धतिं चक्रवदनवस्थितां देवतान्ता-द्युपासकाः कामिन इत्यर्थः। आरुणयः-अरुणस्य सूर्यस्य पुत्राइव तेजस्विनः सत्त्वगुण प्रधाना दहरं सूक्ष्मं ब्रह्म उपासते। कथम्भूतं दहरम्? हृत सर्वं हरतीति तादृगयं ज्ञानस्वरूपं, ततो ब्रह्म स्वरूपात् तवधाम वैकुण्ठाख्यं श्रीमूर्त्तिर्वा शिरः श्रेष्ठा, इह पुनः पुनस्तव धाम परमं श्रीविग्रहाद् अपि उत्कृष्टं यद्धाम समेत्य सम्यक् शुद्ध भावेन प्राप्य कृतान्तमुखे न पतन्ति, तत्त्वानुसन्धानेन निरंकुशप्रवृत्तरतिप्रवाहसङ्कोचकेन न ग्रसन्त इत्यर्थः।

नित्यगोप्य आहुः—हे अनन्त ! निःसीमगुणरूप रसादिनिधे ! ये गोपीजनाः अयन्ते प्राप्नुवन्ति कृष्णारसं ता गोप्य इति वा (विजन्त) ऋषीणां विशुद्धमहाभाव विशारदानां ललितादीनां श्रीराधिका सखीनां वर्त्मसु श्रीकृष्ण सुख साम्राज्यसार सर्वस्व प्राप्ति मार्गेषु ऐकान्तिक राधा तदात्म्यभावप्रणयपूररूपेषु कूर्पदृश्यताश्च, तव धाम श्रीविग्रहम् उदर मुत्कर्षेण राति ददाति श्रीकृष्णसुखोत्कर्षप्रदातृ इत्यर्थः। उपासते भजन्ति, उदः प्रेम्णो रादानं येन, पूर्णमधुर प्रेमाहि तत्र नोपलभ्यते, सुखचमत्कारस्य तु न्यूनत्वात् यद्वा-ललितादि वर्त्मदर्शिन्यो गोप्यस्तत् प्रेमणा उन्दन्ति क्लिद्यन्ति, उन्दिक्लेदने धातुः, ता राधामेव इयृति गच्छन्ति, यस्तव वपु-स्तत्, उपासते परं भावयन्ति कदामिलिष्यतीत्याशया, नतु स्वाच्छन्देयन प्राप्तुं शक्नुवन्ति। अरुणस्य सूर्यस्य पुत्री यमुना आरुणिस्तत्तुल्या वा अविच्छिन्नाः श्यामरसमहा प्रवाहाः श्रीकृष्णसुखप्रकाशवहुला वा दहरं प्रति सूक्ष्मं समस्तरसिकगोपीनामप्यहृद राधाया वक्षस्थलं तदयते प्राप्नोति, तद्रूपं राधावक्षःस्थली नित्य भूषण नीलमणिहारायितमित्यर्थः। कथम्भूतम्? ततोऽन्य गोपीहृदयरूपात् परमसत् यत् यत् उदगात् प्रकटं

परमाशोभा सुखसम्पत्ति र्वा यत्र यल्ललितादिवर्त्म राधा हृदयवर्त्ति कृष्णरूपं वा समेत्य प्राप्यशिरः कृष्णसङ्गप्रत्याशया शीर्यमाणाः सन्तत कृतान्तस्य मृत्योर्मुखे पतन्ति, विरहेण मृतप्राया भवन्ति इत्यर्थः ॥१८॥

श्रुतिरूपा कहती है—हे अनन्त! अनापेक्षिकस्वरूप गुणशक्त्यादि परिच्छेदरहित श्रीव्रजराज कुमार! राधिका प्राणनाथ! ऋषियों के मध्य में जो सब ऋषि, श्रीराधिका प्रियसखी भाव से विशुद्धरसमय तुम्हारे भजन परिपाटी को सम्यक् रूप से जानते हैं, उनके पथ में कूर्पदृश अर्थात् उस मार्ग को न ग्रहण करने वाले जो लोक होते हैं, उस मार्ग को देखने में असमर्थ होते हैं, उत्कृष्ट अर है, जिसका, उसका उदर, कालचक्र, संसारचक्र है, उसकी उपासना वे लोक करते हैं, वे लोक उदरम्भर होते हैं। परित सर्पन्ति को परिसर कहा जाता है, वे संसारी होते हैं, उनकी पद्धति चक्र की भाँति अनवस्थित होती है, वे लोक देवतान्तर उपासक होते हैं, और सकामी होते हैं। आरुणयः—अरुण, सूर्य उनका पुत्र की भाँति तेजस्वी सत्त्व प्रधान ऋषिगण दहर-सूक्ष्म ब्रह्म की उपासना करते हैं। दहर किस प्रकार है?—हृत् सबको हरण करता है, इस प्रकार स्वरूप ही ब्रह्म है, उस ब्रह्म स्वरूप से भी तुम्हारे धाम वैकुण्ठ अथवा तुम्हारी श्रीमूर्त्ति शिरः श्रेष्ठ है, तुम्हारे धाम परम को, जो श्रीविग्रह से भी उत्कृष्ट धाम है, समस्त शुद्धभाव से प्राप्तकर, पुनर्बार कृतान्तमुख रूप संसार में वे लोक गिरते नहीं हैं। कृतका, प्रेमानुबन्ध का अन्त है जिसमें, ऐसा सर्वात्मत्व केवल ब्रह्मत्व ज्ञान द्वारा संसार में गिरते नहीं हैं, तत्त्वानुसन्धान द्वारा निरंकुश प्रवृत्त रति प्रवाह संकुचित होने पर वे लोक मृत्यु से ग्रस्त नहीं होते हैं ॥१८॥

नित्यगोपी कहती हैं—हे अनन्त! निःसीम गुण रूप रसादि निधि! जो सब गोपीजन कृष्णरस को प्राप्तकर चुकी हैं, वे सब गोपीगण ऋषियों के विशुद्ध महाभाव विशारद ललितादि श्रीराधा सखियों के मार्ग में श्रीकृष्ण सुखसाम्राज्यसार सर्वस्व प्राप्ति मार्ग में ऐकान्तिक राधा तादात्म्य भाव प्रणयपूर रूप में कूर्पदृष्टि सम्पन्न होते हैं, वे सब तुम्हारे धाम श्रीविग्रह को उदर उत्कर्ष से राति देते हैं, श्रीकृष्ण सुखोत्कर्ष प्रदाता हैं,

उपासना करते हैं। उद, प्रेम का, रा, दान जिससे होता है, पूर्ण मधुर प्रेम वहाँ पर नहीं मिलता है, सुख चमत्कार की न्यूनता है। यद्वा, ललितादि के मार्ग अवलम्बनहीन गोपीगण उन्दति-क्लेश को प्राप्त करती हैं, उन्दि क्लेदन में धातु है। उन राधा को प्राप्त करते हैं, जो तुम्हारे वपु है, उसकी उपासना करती हैं, भावना करती हैं, कब मिलेंगे, केवल इसी आशा के कारण स्वाच्छन्दय से प्राप्त करने में असमर्थ हैं। अरुण, सूर्य की पुत्री यमुना आरुणि है, उसके समान अविच्छिन्न श्यामरस महा प्रवाह, श्रीकृष्ण सुख के प्रकाश बहुल, दहर, सूक्ष्म समस्त रसिक गोपियों के भी अगोचररूप हृत् श्रीराधा के वक्षःस्थल को अयते प्राप्त करते हैं, उस प्रकार राधा वक्षःस्थली के नित्य भूषण नीलमणि हार स्वरूप को प्राप्त किये हैं।

किस प्रकार है—उससे अन्य गोपी हृदय रूप से परमसत् जो-जो उदगान प्रकट हैं, परम शोभा सुख सम्पत्ति जहाँ है, ऐसा जो ललितादि का वर्त्म राधा हृदयवर्त्ति कृष्ण रूप को समेत्य प्राप्तकर, शिरः कृष्ण सङ्ग प्राप्ति की आशा से मूर्च्छित होते हैं, निरन्तर कृतान्त मृत्यु के मुख में हैं, विरह से मृतप्राय होते हैं। इससे श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं—इसका निर्णय हुआ॥१८॥

स्वकृत विचित्र योनिषु विशन्निव हेतुतया।
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः॥
अथ वितथास्वमुष्ववितथं तव धामसमं।
विरजधियोऽनुयन्त्यभिविपण्यव एकरसम्॥१९

सान्वय व्याख्या

स्वकृत विचित्र योनिषु (स्वयं कृतासु उच्चनीच मध्यमासु योनिषु अभिव्यक्तिस्थानेषु कार्येषुदेहादिषु) हेतुतया (उपादानतया) विशन् इव स्वकृतानुकृतिः (स्व कृताः योनीरनु करोतीति तथोक्तः सन्) अनलवत् (अग्निः इव) तरतमतः (न्यूनाधिक भावेन) चकास्सि (अवभाससे) अथ

अत: अभिविपन्यव: (अभित: विगत व्यवहारा: ऐहिकामुष्मिककर्मफल रहिता इत्यर्थ:) विरजधिय: निर्म्मलमतय: (वितथासु मिथ्याभूतासु अमुषु समं) अविशेषं, वितथं (सत्यं) एकरसं (सन्मात्रं) तव धाम (स्वरूप) अनुयन्ति जानन्ति ॥१६॥

श्रीसनातन सम्मताव्याख्या—(वृन्दावनादि प्रसङ्गेन काश्चित् वत्सवत्सपालहरणे श्रीभगवत: ततस्तत्तद्रूपतामुद्दिश्यन्त्य: भक्त्यैक गम्यतामाहु:) स्वकृत विचित्र योनिषु (स्वकृतासु क्रीड़ार्थमत्र स्वयं आविर्भावितासु विचित्रासु बहुविधासु वत्सपादि रूपासु योनिषु आकृतिषु हेतुतया (उपादान कारणतया) विशन् (तद्रूपो भवन् इत्यर्थ:) इव स्वकृता-नुकृति: (स्वकृतासु न कृता अनुकृति: मायया तद्रूपविड़म्बनं येन तथाभूत: सन्) अनलवत् चकास्सि, अथ (तद्रूपताविष्कारानन्तरमेव) अमुषु (वत्स-पाद्याकृतिषु) वितथासु (अतत् प्रकारासु सर्वत्र तु त्वद्रूप लक्षणहीनासु सत्स्वपीत्यर्थ:) विरजधिय: (निर्मलमतय: अतएव) अभिविपण्यव: (परम भक्ता:) समं (मा परम शोभा तत्सहितं) एकरसं (मुख्यरसं तत्तदसाधारण लीलारसिकमित्यर्थ:) तव धाम (श्रीमूर्त्तिं) अवितथ (अवाधितं तत्तदाकृति-भिरनाच्छन्नमित्यर्थ:) अनुयन्ति (जानन्ति, तत्तद्रुपस्त्वमेवासीति परिचिन्वन्तीत्यर्थ:) ॥१६॥

जिस प्रकार अग्नि स्वयं समभावापन्न होने पर भी दहन योग्य काष्ठ के आकारानुसार न्यूनाधिक रूप में प्रकाशित होती है, उस प्रकार परब्रह्म आप पूर्व से ही विद्यमान होने के कारण मुख्य प्रवेश की असम्भावना हेतु निजकृत विचित्र योनि में (प्रकाशन स्थान में) उपादान कारण रूप में प्रवेश करके ही जैसे स्वकृत योनि के अनुकरण कर न्यूनाधिक भाव में प्रकाशित होते हैं, इस कारण से ऐहिक एवं पारलौकिक कर्मफल में अनभिलाषी निर्म्मल बुद्धिसम्पन्न व्यक्तिगण मिथ्याभूत इस योनि समूह में समभावापन्न, सत्य एवं सन्मात्र भवदीय स्वरूप को अवगत होने में समर्थ होते हैं ॥१६॥

श्रीसनातन सम्मतव्याख्या—श्रीवृन्दावनादि के प्रसङ्ग में कुछ व्यक्ति वत्स व वत्सपाल हरण विषय में श्रीभगवान् के तद्रूपता के विषय को

उल्लेख कर भगवान् भक्तैकगम्य हैं, इसको कहते हैं–आप यहाँ पर क्रीड़ा करने की अभिलाष से स्वयं आविर्भूत बहुविध वत्सपादि रूप आकृति में उपादान कारण रूप जिस प्रकार तद्रूपवान् होकर ही स्वकृत है, उस आकृति निवह में मायावलम्बन पूर्वक तद्रूपताश्रय न कर ही अग्नि की भाँति शोभित होते हैं, तद्रूपता का आविष्कार के अनन्तर ही इस वत्सपादि की आकृति सर्वत्र तद्रूप लक्षणहीन होने पर भी निर्मलमति सम्पन्न परम भक्तगण परम शोभा विशिष्ट तत्तद साधारण लीला रसिक भवदीय श्रीमूर्त्ति को तत्तदाकृति द्वारा अनाच्छन्न रूप में जानने में समर्थ होते हैं। अर्थात् आपको ही तत्तद्रूपवान् रूप में जान पाते हैं। इससे श्रीमूर्त्ति ध्यान की आवश्यकता सूचित हुई है ॥१६॥

षष्ठ श्रुत्यभिमानिनी देवतागण स्तव कहते हैं।

प्रश्न—जीव की भाँति उदारादि सम्बन्ध यदि ईश्वर का होता है, एवं ईश्वर के देह में योनि भेद हेतु तारतम्य अर्थात् न्यूनाधिक भाव भी होता है, तब किस विशेषण से ईश्वर उपास्य हो सकते हैं ? एवं राम, कृष्ण, हरि हर आदि नामाक्रान्त किस व्यक्ति की उपासना करेंगे ?

उत्तर—एकः देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च। (१) 'एकः'—मूर्त्तिभेदशून्यः। (२) 'देव' ज्ञानघन, अतः अजड़। (३) 'सर्वभूतेषु ब्रह्मादि स्थावर पदार्थ में अवस्थित, किन्तु 'गूढ़' अनादि निजशक्ति द्वारा आच्छन्न (४) 'सर्वव्यापी' अपरिच्छिन्न। (५) 'सर्वभूतान्तरात्मा' सर्वभूतों की अन्तरात्मा। (६) 'कर्माध्यक्षः' सर्व कर्मों का साक्षी, कर्मकर्त्ता नहीं। (७) 'सर्वभूताधिवासः सर्वभूतों का अधिष्ठान। (८) 'साक्षी' सर्वकर्म कर्त्ताओं का साक्षी। (९) 'चेताः' चित् स्वभाव। (१०) 'केवलः' दृश्यवर्जितः अद्वितीय। (११) 'निर्गुणः' ज्ञानादि गुण वर्जित। आप इस प्रकार होकर भी स्थूल सूक्ष्म शरीर में अवभासित नहीं होते हैं। अतएव अप्रच्युत ऐश्वर्य सम्पन्न होकर भी प्रच्युत ऐश्वर्य रूप में उपासित होते हैं।

सर्वशास्त्रपुराणेषु यो देवानाम् नामधा एक एव (श्रुति)

सकल शास्त्र एवं पुराणों में देवगण के अनेक नाम हैं, सत्य है, किन्तु वस्तुतः एक ही है—

ब्रह्माणं केशवं रुद्रं भेदभावेन मोहिताः। पश्यन्ति एकं न जानन्ति पाषण्डोपहताः जनाः, नास्तिक व्यक्तिगण ही ब्रह्मा, केशव, रुद्र को पृथक् पृथक् रूप में देखते हैं, किन्तु एकतत्त्व हैं, यह नहीं जानते हैं।

स्वामिचरण—

स्वनिर्मितकार्येषु तारतम्य विवर्जितम्।
सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तं भजामहे॥

स्वनिर्मित देह में तारतम्य विवर्जित सर्वानुस्यूत सन् मात्र भगवान् का भजन करूँ॥१९॥

श्रुतिरूपा आहुः—स्वकृतासु विचित्र योनिषु चित्रं परमाश्चर्यं वस्तु भगवत्स्वरूपम् ब्रह्म चित्रम् विशेषेण चित्रं वृन्दावन विलासिनी रतिलम्पटाकारम्, तस्याभिव्यक्तिस्थानेष्वन्नः करणेषु, विचित्रशब्देन विशुद्ध करणस्य हेतुतया फलोपधानेन परिपूर्ण ब्रह्मघन रूपत्वेन सर्वसत्तास्फुरणानन्द हेतुतया सर्वत्र विद्यमानत्वेन वा विशन्निवेति तेषु चान्नः करणेषु तारतम्येन च स्वकृतं भावमनुकरोति, यस्य यो भावो दत्तस्तदनुरूपं निज विग्रह प्रकटयन्नित्यर्थः। यद्वा स्वस्मिन् तैः कृतो योऽनुरागस्तमनु करोति,—यस्य यथानुरागस्तथा प्रकाशमान इत्यर्थः। अनलवत् काष्ठयोग्यतावशात् अमूषु त्वद्रूपस्य त्वत्प्रेम्णो-वाऽभिव्यक्तिषु वितथासु मिथ्याकल्पासु सर्वोत्कृष्टत्व ज्ञानस्य भ्रमत्वात् तव राधाप्रियतम धाम श्रीमूर्त्तिरवितथं सकल भगवत् स्वरूपात्कृष्टत्वज्ञानस्यान्यथा भावात्, समं प्रमायुक्तं सर्व स्वरूपात्कृष्टत्वबुद्धेः प्रमात्वेन युक्तम्, मा लक्ष्मीः, साच परमा राधैव मा शोभा श्रीराधैव, परम शोभावत्त्वं च राधा प्रियरूप एव। विरजधियः, रजोऽनुरागो विशिष्टानुरागयुक्तोधियोऽनुवर्त्तन्ते, धाम कथम्भूतम्? एको मुख्यरसोयत्र। अभिविपण्यवः, विगत लौकिक वैदिक व्यवहाराः अति शुद्धभावाविष्टा इत्यर्थः॥१९॥

नित्यगोप्यस्तु आहुः—स्वीयाः कृताया विचित्रयोनयो वृन्दावनस्थ स्थिर-चर-शरीराणि तेषु त्वं विशन्निव रूप लावण्यादिभिरन्तः प्रविशन्निव हेतुतया पूर्वमपितेषु वर्त्तमानत्वपादार्विभाव तिरोभावपरस्तरतम स्ततश्च-कास्सि, तत्रापि प्रेम तारतम्यसत्वादमू वपि वितथासु तत् प्रेमसुखोत्कर्ष चरम काष्ठा ज्ञानस्य मिथ्यात्वात् तवधाम अवितथं प्रेमसुखोत्कर्षचरम-काष्ठाया अन्यथाभावाद् विरजधियो महानुरागिण्यो राधानुचर्योऽनुयन्ति राधानुगताः सत्यो जानन्ति। एको मुख्यो रसो यत्र, शृङ्गाररसेपि राधानुगतस्यैव मुख्यत्वात्। अभिविपण्यवो देह गेहादि व्यवहार शून्याः ॥१९॥

श्रुतिरूपा कहती है—निज कृत विचित्र योनि में 'चित्र परमाश्चर्य वस्तु भगवत् स्वरूप है। ब्रह्म है, विशेष रूप से चित्र है, वृन्दावन विलासिनी रति लम्पटवार, उसकी अभिव्यक्ति स्थान, अन्तःकरण में विचित्र शब्द के द्वारा विशुद्ध मधुर प्रेम को कहा जाता है। उसमें आप प्रविष्ट होने की भाँति अभिव्यक्त होते हैं, स्वरूप योग्यता अन्तःकरण में है, फल युक्त होकर परिपूर्ण ब्रह्मघन रूप में आविर्भूत होते हैं, सकल सत्ता स्फुरणानन्द होने के कारण, सर्वत्र विद्यमान होने से ही प्रविष्ट की भाँति प्रतीति होती है, उन अन्तःकरणों में तारतम्य से कहीं पर स्वकृत भाव को प्रकट करते हैं। जिसको जो भाव प्रदत्त हुआ है, उसके अनुरूप ही निज विग्रह को प्रकट करते हैं, जिसका जिस प्रकार अनुराग है, उसके अनुरूप ही प्रकाशमान है। काष्ठ की योग्यता से ही अनल के प्रकाश में तारतम्य होता है, उन सबमें भी आपकी अभिव्यक्ति प्रेम तारतम्य से होता है मिथ्या स्वरूप में सर्वोत्कृष्टत्व ज्ञान भी भ्रमरूप ही होता है। आपकी राधा प्रियतम धाम-श्रीमूर्त्ति अवितथ है, सकल भगवत् स्वरूपोत्कृष्टत्व ज्ञान स्वाभाविक रूप में होता है, समम् प्रमायुक्त है, सर्वस्व रूपोत्कृष्टत्व बुद्धि अति प्रामाणिक है, माँ लक्ष्मीः, वह परमा श्रीराधा ही है, माँ, शोभा श्रीकृष्ण की शोभा श्रीराधा ही है, परम शोभावान् होना श्रीराधा प्रिय होना ही है, विरजधियः रजः शब्द का अनुराग अर्थ है, विशिष्ट अनुराग युक्त बुद्धि का ही अनुवर्त्तन होता है।

धाम किस प्रकार है ? जहाँ पर एक मुख्य रस विराजित है, अभिविपण्यव: विगत लौकिक वैदिक व्यवहार समूह, अति शुद्ध भावाविष्ट हैं ।

नित्यगोपी कहती है—निज रूप में आपने वृन्दावन के स्थावर जङ्गम रूप शरीर का प्रकट किया है, उसमें आप विशिष्ट होने की भाँति रूप लावण्य प्रभृति द्वारा अन्त:स्थल में प्रविष्ट होने के समान प्रतिभात होते हैं, इसके पहले से ही आप सर्वत्र वर्त्तमान हैं, आविर्भाव, तिरोभाव होकर तारतम्य से प्रकाशित होते हैं। उसमें भी प्रेम का तारतम्य है, अतएव उन सब प्रेम युक्त वस्तु में भी आपके प्रेमसुखोत्कर्ष चरम काष्ठा ज्ञान होना अलीक है, आपका धाम अवितथ है, प्रेमसुखोत्कर्ष की चरम काष्ठा उसमें ही है, व्रिरजस्त्रिय:, महानुरागिणी राधानुचरी-गण ही जानती हैं, राधानुगता से ही उसका ज्ञान होता है । जहाँ पर एक ही मुख्य रस है, शृङ्गार रस में भी राधानुगत रस का ही मुख्यत्व है, कारण उससें अभिविपण्यव: देह गेहादि व्यवहार शून्यत्व है ॥१९॥

स्वकृत पुरेष्ववहिरन्त संवरणं,
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं,
भवतउपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिता ॥२०

सान्वय व्याख्या

अमीषु स्वकृत पुरेषु (स्वकर्मोपार्जित देहेषु, भोक्तृत्वेन वर्त्तमानं) अवहिरन्तर सम्वरणं (कार्यकारणरूपावरणशून्यं) पुरुषं (जीवं) अखिल-शक्तिधृत: (सर्वशक्त्याश्रयस्य पूर्णस्य) तव अंशकृतं (तद्रूपमित्यर्थः) वदन्ति कवय:, इति (एवं) नृगतिं (नु जीवस्य गतिं तत्त्वं) विविच्य (विशोध्य) विश्वसिता: (कृत विश्वासा: सन्त) भुवि (मर्त्यलोके) निगमावपनं निगमोक्तकर्मणां क्षेत्रं, सर्वकर्मार्पणविषयमित्यर्थः) उपासते (अर्च्चन वन्दनादिभि: सेवन्ते ॥२०॥

श्रीसनातन सम्मतव्याख्या—न केवलं गोकुलाविष्कृत वत्सापादिरूपं त्वत् स्वरूपतयापरिछिन्दन्ति, किन्तु तत्र तत्राविष्कृतं तत्तद्रूपमपीत्याहु:)

अमीषु स्वकृतपुरेषु (स्वकृतेषुपुरेषु निवासेषु वदरिकाश्रम नीलाचल पाण्डुरङ्गाख्येषु सन्तं) पुरुषं (नारायण जगन्नाथ विठलरूपं पुरुषत्रयं) तव अंशकृतं अवहिरन्तरसम्वरणं (सुप्रवटं यथास्यात्तथा) वदन्ति (अथवा अमीषु स्वकृत पुरेषु स्वैःभक्तैः कृतेषु पुरेषु वृहद्वन वृन्दावनादिस्थित व्रज पुरेषु अवहिरन्तर सम्वरणं पुरुषं बलदेवप्रद्युम्नानिरुद्ध रूपं व्यूहत्रय लक्षणं तव अंशकृतं अंशेन आविर्भावं वदन्ति, यद्वा अमीषु स्वकृत पुरेषु अवहिरन्तर सम्वरणं न विद्यते वहिः वन शैलादिषु अन्तरेषु व्रजगृहादिषु च सम्वरणं यस्य तथोक्तं पुरुषं श्रीवलदेवं तव अंश कृत अवतार विशेषं वदन्ति) कवयः (सर्वज्ञाः ब्रह्मादयः) इति (परमैश्वर्यान्) भुवि (माथुरभूमौ विराजमानस्य) अखिल शक्तिधृतः (अनन्यसाधारण सर्वशक्तीः सम्प्रति प्रकटयतः इत्यर्थः) भवतः नृगतिं (मनुष्यलीलां विविच्य (सर्वोत्कर्ष पदत्वेन विमृश्य) विश्वसिताः (अत्रैव लब्धविश्वासाः सन्तः) निगमावपनं (सर्व श्रुतीनां तात्पर्यविशेषं) अभवं (भवभयहरं) अङ्घ्रिं (श्रीमत्पादपद्मं उपासते।

इस स्व कर्मोपार्ज्जित देह में भोक्ता रूप में वर्त्तमान, कार्यकारण रूप आवरण शून्य जीवात्मा सर्वशक्त्याश्रय पूर्ण आपका ही अंशकृत है, इस प्रकार कविगण मानते हैं, उक्त कविगण—इस प्रकार जीव तत्त्व को विशोधन करके विश्वस्त होकर मर्त्त्यलोक में निगमोक्त कर्म का क्षेत्र व भवनिवर्त्तक भवदीय श्रीचरण-कमल युगल की अर्चना व वन्दना प्रभृति द्वारा सेवा करते रहते हैं ॥२०॥

श्रीसनातन सम्मतव्याख्या— केवल आपका ही स्वरूप को मानकर गोकुल में आविष्कृत वत्सपादि रूप को जाना जाता है, यह नहीं है, किन्तु उस स्थान पर आविष्कृत तत्तद्रूप को भी जाना जाता है, उसीको कहते हैं इस स्वकृतपुर में अर्थात् वदरिकाश्रम नीलाचल, पाण्डुरङ्ग नामक निवास स्थान में वर्त्तमान नारायण, जगन्नाथ विठ्ठल स्वरूप पुरुषत्रय को आपका अंशकृत हैं, कविगण सुप्रकट रूप में ही इस प्रकार कहते हैं। अथवा इस भक्तगण कृतपुर में अर्थात् वृहद्वन वृन्दावनादिस्थित व्रजपुर

में बाहर अन्तर अनभिव्यक्ति रहित श्रीबलदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध रूप व्यूहत्रय लक्षण पुरुषत्रय को आपके अंश रूप में कविगण मानते हैं। यद्वा इस स्वकृतपुर वनशैलादि व्रजगृहादि में सम्बरण रहित पुरुष श्रीबलदेव को अंश रूप में कविगण कहते हैं। उक्त कविगण, अर्थात् सर्वज्ञ श्रीब्रह्मादि पारमैश्वर्य हेतु मधुर भूमि में विराजमान एवं सम्प्रति अनन्य साधारण सर्वशक्ति प्रकटनकारी आपकी मनुष्य लीला को सर्वोत्कर्षपदत्व रूप में विवेचन कर विश्वास के साथ सर्व श्रुति का तात्पर्य विशेष रूप व भवभय हारी भवदीय श्रीचरण-कमल युगल की उपासना करते रहते हैं। मर्त्तयलोक में श्रीभगवत् चरण की उपासना ही एकमात्र कर्त्तव्य है, सप्तम श्रुत्यभिमानिनी देवगण स्तव करते हुए कहते हैं।

प्रश्न—शरीर उपास्य होते हैं, भगवान् शरीरी होने पर उनमें उपाधिकृत दोष का प्रसङ्ग होगा ?

उत्तर—अविद्याकाम कर्म हेतु संसारी जीव भगवद् नहीं होता है इसको समझाते हुए श्रुतिगण उक्त दोष का निराकरण करती हैं, अतएव अप्रच्युत ज्ञानैश्वर्य सम्पन्न भगवान् में उपाधिकृत तारतम्य रूप दोष की सम्भावना ही कहाँ है ? प्रमाण श्रुति—

(१) स य श्च अयम् पुरुषे ! य श्च असौ आदित्ये। स एकः। परम-व्योमे में आकाशादि अन्नमयान्त कार्य को सृजन कर उसमें अनुप्रविष्ट जो वह ही पुरुष है। जो आदित्य में वर्त्तमान है, वह कौन है ? वह एक ही पुरुष है।

(२) अरे अयम् आत्मा अनन्तरः आबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः एव। यह आत्मा अनन्तर शून्य, बाह्यशून्य, पूर्वज्ञान स्वरूप है।

(३) 'तत्त्वमसि' वह तुम ही हो।

प्रश्न—यज्ञकर्त्ता पुरुष की स्तुति ईश्वर स्वरूप तत्त्वमसि वाक्य के द्वारा की गई है ?

उत्तर—नहीं। यज्ञकर्त्ता की यह स्तुति नहीं हैं।

प्रश्न—इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

उतर—कृतावतार राम, कृष्णादि श्रीविग्रह के चरण का भजन ही उक्त ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। प्रमाण श्रुति इस प्रकार है—

(१) यस्य देवे पराभक्ति, र्यथा देवे तथागुरौ तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। जिस व्यक्ति का परमेश्वर में फलाभिसन्धान शून्य अनुराग होता है, जिस प्रकार परमेश्वर में ठीक उसी प्रकार गुरु के प्रति यदि भक्ति होती है, तब ही श्वेताश्वतर ऋषि कथित पदार्थ की स्फूर्ति उन महात्मा की होती है। अतएव जो लोक ब्रह्म विद्यार्थी है उनके लिए कर्त्तव्य होगा कि वह देवता और गुरु में एक ही प्रकार अविचला निरुपाधि भक्ति करे।

'अमीषु स्वकृत पुरेषु' स्वकर्म्मोपार्जित नरादि इस देह में वर्त्तमान 'पुरुष' भोक्ता रूप में वर्तमान पुरुष को आपका अंश रूप में वर्णन करते हैं, किन्तु वास्तविक आप निरंश हैं। श्रुतिः—(१) निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्।

प्रश्न—देहाच्छन्न व अज्ञानाच्छन्न पुरुष का भगवद् रूपत्व कैसे सम्भव होगा ?

उत्तर—पुरुष वस्तुतः अवहिरन्तर संवरणं वहि—कार्य देह, अन्तर, कारण अज्ञान, संवरण, आवरक कार्य कारण आवरण शून्य है। कारण देह एवं अज्ञान की पृथक् सत्ता नहीं है, पुरुष को स्वाभाविकी स्वरूपता का नाश कार्य कारण नहीं कर सकते हैं। इति 'नृगतिं' इस प्रकार जीव की गति अर्थात् तत्व व स्वरूप को, 'कवयः' कविगण 'विविच्य' जानकर अन्य किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं कर सकते हैं, 'निगमावपनं' निगमोक्त कर्म का क्षेत्र-सर्व कर्मार्पण अर्थात् जिसमें कर्म अर्पित होने पर मुक्ति होती है, भवत अङ्घ्रि वह ही आपके चरण हैं, 'भुवि अभवं' मर्त्यलोक में भवनिवर्त्तक है, विश्वसिता इस प्रकार विश्वास करके ही 'उपासना' करते हैं, अर्थात् आपकी अर्चनवन्दनादि द्वारा उपासना करते हैं, भुवि मर्त्यलोक में यह ही उचित है।

श्रुति—चरणं पवित्रं विततं पुराणं,
येन पूतः तरति दुष्कृतानि।
तेन शुद्धेन पवित्रेण पूतेन,
अति पाप्मानम् अरातिं तरेम॥

लोकस्य द्वारम् अर्चिष्मत्। भ्राजमानं। महस्वत्। अमृतस्य बहुधा दोहमान। चरणं लोके सुधितां ददातु।

श्रीकृष्ण के चरण प्रवित्रकारी हैं, विस्तृत भूःभुवस्वर को अतिक्रम करके ही वर्त्तमान है, सनातन है। जिसके द्वारा पवित्र होकर पातकी भी पाप को अतिक्रम करता है, उस पवित्र चरण द्वारा पूत होकर वैरी पाप को अतिक्रम करेंगे। यह श्रीचरण, लोक को सुधाधारा का दान करें। वैकुण्ठ के प्रदीप के द्वारा उद्भासित करें। ब्रह्म तेजो मण्डल युक्त है, लोक में अनेक प्रकार धर्म अर्थ काम मोक्ष भक्तिरूप धारा भक्तगण को कामधेनु की भाँति तृप्त करती है, इस प्रकार श्रीहरिचरण का मैं भजन करूँ।

स्वाभिचरण—

त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृत बन्धनम् त्वदङ्घ्रि सेवामादिश्य परानन्द निवर्त्तय। हे ईशान! सत्य है, मैं आपका अंश हूँ। किन्तु अज्ञान ने मुझको आबद्ध किया है। हे परमानन्द! आपके श्रीचरण की सेवा का आदेश प्रदान कर माया कृत बन्धन को विदूरित करो॥२०॥

श्रुतिरूपा आहु—स्वकृतानि स्वांशेन प्रकृतिनियन्तृरूपेण कृतानि पुराणि समष्टि व्यष्टि शरीराणि येषां हिरण्यगर्भादीनां तेष्वन्तर्यामित्वेन वर्त्तमानं पुरुषं सुष्ठु अकृतेषु नित्येषु चिदानन्दमयेषु शरीरेषु चतुर्भुजादि रूपेष्वभिमानित्वे च वर्त्तमान पुरुषम्, नविद्यते वहिरचेतनदृश्यप्रपञ्चोऽन्तर्दृष्ट चेतनप्रपञ्चो यत्र सः संवृणोति सर्वद्वैतसंवरणः, कारणदस्थः प्रकृत्याद्या-विर्भावको नारायण स्तं च पुरुषं द्रष्टृदृश्य प्रपञ्चरूपं संवरण माया वहिरन्तरयो द्रष्टृदृश्ययोस्तत्त्वस्याच्छादकं मायाख्यं वा तद्रहितं वा पुरुषं पुरुषोत्तममित्यर्थः। नारायण रूपेनैव माया प्रवर्त्तकः पुरुषोत्तम देवकी

नन्दनस्यास्यविशेषः। तत्र वहिर्द्वैतप्रपञ्चमात्मनन्तरं परंब्रह्म न विद्यते यत्र अस्फुरणमेवासत्ता सम्यक् वरणं प्रेमा यस्मिस्तं पुरुषं गोपवेषं यादवेन्द्रं व्रजवृन्दावन प्रेमावेशात् संस्कार शेष यादवत्वाहंमानं पुरुषं तव शुद्धगोपाल रूपस्यांशकृतं शक्तिगुणानन्दाद्यशेन शक्त्यादि सम्पूर्णं वदन्ति। इति एवं प्रकारेण नृणां गतिं पुरुषार्थं विविच्य विवेकेन ज्ञात्वा नितरां गच्छति कृष्णो अन्तःकरणं येन तस्य महाप्रेम्ण आवपनं भाण्डं स्थान-मित्यर्थः। अङ्घ्रि मुपासते भुवि श्रीवृन्दावने भवत्याविर्भवति विशुद्ध महाप्रेमा यस्मिन्। विशति प्रविशति रूपेण सर्वेषां मन इति विश्वोऽनन्त कन्दर्परूप विलासनिधिः कृष्णः सितोवद्धः प्रेमरसनया यैः प्राप्तः।

नित्य गोप्यस्तु आहुः—पुरुषम्-उषति दहत्यन्तः करणम्, उरुकामः, पूर्यते इति (पूर्) पूर्णकामो यस्याः, न कृष्णचन्द्र राधाया अन्यस्य पूर्णः कामरसः तां श्रीराधां स्वकृतपुरेष्वात्मवत् प्रेमास्पदीकृतेषु शरीरेषु शोभनोऽकृतः सहज भावा येषु तादृशेषु वृन्दावनस्य स्थिरचर शरीरेषु च स्वस्मै प्राणधन स्वरूपाय तुभ्यमेव त्वदर्थमेव कृतं शरीरं येषां विशुद्ध प्रेमैक सर्वस्वेष्वित्यर्थः। ते नव अंशकृतं त्वद् भागकारिणीं वदन्ति अमी सर्वेसम्यग् बुद्धिमन्तः इति राधैव हि त्वां पूर्णं प्राप्ता, अन्यत्वांशमात्र मित्यर्थः, तदपि तदनुग्रहादिति भावः राधां कथम्भूताम्? यत्र वहिरन्तरं किमपि न स्फुरति, तादृश सम्यग् वरणम्, प्रेमात्मिकामित्यर्थः। इति एवं प्रकारेण नराणां व्रजवृन्दावन गतानां जीवनानां सर्वेषां गतिं कृष्णं तत् वा विविच्य विवेकेन राधारसाविष्ट स्वरूपमेव निश्चित्य भवतोऽङ्घ्रि मुपासतेऽस्मद्विधाः पुरुषमित्यस्य विशेषणं निगमावानमिति नितरां गच्छन्तीति निगमाः सर्वात्मभावेन महाप्रेम्णा नागरेन्द्र सङ्गरसं प्राप्नुवन्ति ता गोपीरवति पालयति यः श्रीकृष्णस्तेन स्तूयते रूपविलास वैदग्ध्यादिना सर्वगोप्युत्तमत्वेन तां राधां भुविवृन्दावने विश्वः श्रीकृष्णः सदा हृदि प्रविष्टत्वात् विशत्येव क्षणे-क्षणे अन्यान्य रूप शोभादिचमत्कारवत् स्वरूपेण, नतु कदाचित् अपि निर्गच्छति हृदयात् प्रविशति वा सततं रति विलास समुत् कण्ठया श्रीराधिकया सह निकुञ्जाभ्यन्तरमिति विश्वः श्रीकृष्णचन्द्रः, स सितोवद्धः प्रेम्णा याभिः तेन वा वद्धाः, श्रयते वर्द्धते

सौन्दर्यादिचमत्कारं विगतं तादृशं रूपं यस्मादेतादृशोऽसित: श्रीकृष्णो यासाम्, न विद्यते विशुद्ध प्रेमाविर्भावकं रूपं यस्मात् तादृशमित्यर्थः ॥२०

श्रुतिरूपा कहती है—'स्वकृतानि' निज अंश के द्वारा प्रकृति नियन्ता रूप में आविष्कृतसमष्टि व्यष्टि रूप समूह हैं, उसको हिरण्यगर्भ कहा जाता है, उन हिरण्यगर्भ प्रकृति में अन्तर्यामी रूप में विद्यमान को ही पुरुष कहा जाता है, इस प्रकार 'अकृत' नित्य चिदानन्दमय चतुर्भुजादि शरीर में भी अभिमानी रूप में वर्त्तमान को पुरुष कहा जाता है। उनमें अचेतन दृश्य प्रपञ्च एवं अन्तर्दृष्ट चेतन प्रपञ्च भी नहीं रहते हैं, समस्त द्वैत पदार्थ को भी आत्मसात् कर लेते हैं। कारणावस्थ प्रकृति का आविर्भावक श्रीनारायण हैं, उन नारायण रूप पुरुष को और द्रष्टा दृश्य रूप प्रपञ्च को माया के बाहर अन्तर, द्रष्टा दृश्य जो भी पदार्थ है, उसका आच्छादक माया नामक शक्ति है, अथवा माया रहित जो पदार्थ है, उसमें विद्यमान को पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम कहते हैं। श्रीनारायण रूप में ही माया प्रवर्त्तक हैं। वह नारायण भी पुरुषोत्तम देवकीनन्दन के अवस्था विशेष हैं। उनमें द्वैत प्रपञ्चमात्र व अन्तर परमब्रह्म की सत्ता नहीं है, यहाँ पर अस्फुरण रूप ही असत्ता का अर्थ जानना होगा। प्रेम को ही जिन्होंने सम्यक् रूपेण अपनाया है, ऐसे पुरुष को गोपवेश को, यादवेन्द्र को व्रज प्रेमावेश के कारण संस्कार के अवशेष से यादवत्वाभिमानी पुरुष को शुद्ध गोपाल रूप के अंशकृत रूप में कविगण मानते हैं, अर्थात् शक्ति गुण आनन्दादि अंश द्वारा शक्त्यादि द्वारा सम्पूर्ण रूप से आविष्कृत हैं, इस प्रकार ब्रह्मादि कविगण कहते हैं। इस प्रकार पुरुषार्थ की गति की विवेक द्वारा जानकर ही अन्तःकरण पूर्णरूप से श्रीकृष्णचन्द्र में संलग्न होती है, अनन्तर वह चित्त उन व्रजीय श्रीकृष्ण को ही एकमात्र प्रेमाधार मान लेता है, श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण के श्रीचरणारविन्द की सेवा करते हैं, अर्थात् उनके चरणारविन्दों में विशुद्ध प्रेमाविर्भाव होता है, जिनके रूप को देखकर ही सबके मन प्रविष्ट हो जाते हैं, उनको विश्व कहा जाता है, ऐसे विश्व, अनन्त कन्दर्प विलासनिधि कृष्ण को भी जिन्होंने प्रेमरसना संबंध चुके हैं ॥२०॥

नित्यगोपी कहती है-पुरुषम्, उष्. पुर. शब्द से अन्तःकरण दहनशील काम जिनमें परिपूर्ण रूप में है, श्रीराधा को छोड़कर अपर से श्रीकृष्ण-चन्द्र में पूर्ण कामरस नहीं होता है। ऐसी श्रीराधा के प्रति जिन्होंने सहज आत्मभाव स्थापन किया है, ऐसे निजकृत आत्मवत् प्रेमास्पदीकृत अनेक शरीर हैं, इन सब शरीर वृन्दावन के समस्त स्थावर जङ्गम ही होते हैं, इन सब शरीरधारीगण प्राणधन स्वरूप आपके लिए ही शरीर धारण करते हैं, और विशुद्ध प्रेम सर्वस्वा स्वभाव के होते हैं, जो सब उक्त प्रकार कहते हैं, वे सब ही बुद्धिमान् होते हैं। श्रीराधा ही आपको परिपूर्ण रूप में प्राप्त किये हैं, अन्यत्र आप अंशमात्र से प्राप्त होते हैं, वह भी राधा के अनुग्रह से ही सम्भव होता है। वह राधा किस प्रकार है? जिसके बाहर अन्तर में आपको छोड़कर और कुछ भी स्फूर्त्ति नहीं होती है।

इस प्रकार जिन्होंने वरण किया है, अर्थात् सम्पूर्ण प्रेमात्मिका ही है, इस प्रकार व्रजवृन्दावनगत समस्त जीवों की गति स्वरूप कृष्ण को एवं उनके प्रेम को जानकर, अर्थात् वह भी राधारसाविष्ट स्वरूप ही है, ऐसा निश्चय कर ही हम सब आपके चरणों की उपासना करते हैं। पुरुष का ही विशेषण निगमावपन शब्द है, नितरां गच्छन्ति इस अर्थ में निगम शब्द होता है। सर्वात्मभाव से महाप्रेम से नागरेन्द्र श्रीकृष्ण का सङ्गरस को जो सब गोपी प्राप्त करती हैं। उन सब गोपियों का पालनकारी श्रीकृष्ण है। उनमें से श्रीराधा की स्तुति श्रीकृष्णचन्द्र रूप विलास वैदग्धी प्रभृति व्यापक उत्तम सामग्री द्वारा करती हैं। भौमवृन्दावन में श्रीकृष्ण ही विश्व हैं, सर्वदा सबके हृदय में प्रविष्ट हैं, क्षण-क्षण में अन्यान्य रूप शोभादि चमत्कार स्वरूप के द्वारा ही प्रविष्ट होकर रहते हैं। कभी भी हृदय से बाहर नहीं होते हैं। अथवा सतत् रति विलासरस समुत्कण्ठित श्रीराधिका के साथ निकुञ्ज मध्य में प्रवेश करते हैं, इसलिए श्रीकृष्ण को विश्व कहा जाता है। उन कृष्णचन्द्र को जिन्होंने प्रेम रज्जु से बन्धन किया है, इससे गोपियों की सौन्दर्य चमत्कारिता असमोर्द्ध वर्द्धित होती है, और पूर्ण रूप चला जाता है, इस प्रकार असित नील-मणि श्रीकृष्ण ही उन सबके प्राण सर्वस्व हैं, जिनको छोड़कर विशुद्ध

प्रेम का आविर्भावक कोई भी पदार्थ नहीं हैं। उनकी उपासना कविगण विशस्त होकर ही करते हैं ॥२०॥

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो,
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते,
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥२१॥

सान्वय व्याख्या

ईश्वर ! केचित् (विरलाः भक्तिरसिकाः) दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय (दुरवगमं दुर्बोधं यत् आत्मतत्त्वं तस्य निगमाय ज्ञापनाय) आत्ततनोः (आविष्कृत श्रीमूर्त्तेः) तव चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः (चरितमेव महामृताब्धिः तस्मिन् परिवर्त्तः अवगाहः तेन परिश्रमणाः गतश्रमाः) ते (तव चरण सरोज हंस कुलसङ्ग विसृष्टगृहाः (चरण सरोजे हंसा इव रममाणाः ये भक्ताः तेषां कुलं तेन यः सङ्गः तेन विसृष्टाः गृहाः, यैः तथोक्ताः, यद्वा चरण सरोजयोः ये हंसाः श्रीशुकाद्याः तेषां कुलं शिष्योपशिष्यपरम्परा तस्य सङ्गेन विसृष्टं गृहं यैः तथोक्ताः च सन्तः) अपवर्गं, (मोक्षसुखं) अपि न परिलषन्ति (इच्छन्ति, किमुत अन्यत् सुखम्) ॥२१॥

हे ईश्वर ! दुर्बोध आत्मतत्त्व ज्ञापन करने के लिए आप निज मूर्त्ति को प्रकट करते हैं, आपके चरित रूपी महा मृताब्धि में अवगाहन से विगतश्रम होकर आपके चरण-कमल युगल में हंस के समान रममाण भक्तगण के सान्निध्य प्राप्तकर सज्जनगण गृह सुख को परित्याग करते हैं। भक्ति रसिकगण मोक्ष सुख को भी नहीं चाहते हैं, अन्य सुख की कथा ही क्या है ? वे सब केवल श्रवण कीर्त्तनात्मिका भक्ति की प्रार्थना करते हैं ॥२१॥

अष्टम श्रुत्यभिमानी देवगण स्तव करते हैं—आप आत्मतत्त्व ज्ञापन के लिए ही मूर्त्ति प्रकट करते हैं।

प्रश्न—श्रुति में ज्ञान साधन की कथा है. भक्ति का विषय वर्णित नहीं है, अतएव भक्ति तुच्छ है, ज्ञान साधन (१) 'तम्' एतत् वेदानुवचनेन यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन । स्वाध्याय, यज्ञ, तपस्या, दान, सन्न्यास द्वारा परतत्त्व को जानने की इच्छा करते हैं ।

उत्तर—इस प्रकार कहना ठीक नहीं है, भक्ति ही एकमात्र उत्कृष्ट पदार्थ हैं, आत्मतत्त्व अतिशय दुर्बोध्य पदार्थ है, आत्मतत्त्व ज्ञापन के लिए आप स्वीय मूर्त्ति को प्रकट करते हैं. भक्ति रसिक व्यक्ति के सङ्ग मे सज्जनगण भक्ति सुख से पूर्ण होकर पूर्व सिद्ध गृह सुख की उपेक्षा करते हैं. आपके चरण सरोज में रममाण भक्त के सङ्ग से ही गृहत्याग हो जाता है । श्रुतिगण मुक्ति की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शन करते हैं—

(१) यं सर्वे देवाः नमन्ति मुमुक्षवः ब्रह्म वादिनश्च । सकल देवगण अर्थात भगवद् भक्तगण जिस परमेश्वर का भजन करते हैं, जिनका भजन मुमुक्षुगण एवं ब्रह्मवादी मुक्त पुरुषगण करते हैं ।

(२) भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य नृसिंह तापनी में कहे हैं, मुक्ताः अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते । मुक्त पुरुषगण लीला हेतु विग्रह धारण कर श्रीभगवान् का भजन करते हैं ।

(३) "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाः अप्युरुक्रमे कुर्वन्त्यहैतुकी भक्ति" आत्माराम अहङ्कार वर्जित मुनिगण अहेतुकी भक्ति उरुक्रम भगवान् में करते हैं। स्वामिचरण कहते हैं—त्वत् कथामृत पाथोधौ विहरन्तो महामुदः कुर्वन्ति कृतिनः केचित् चतुर्वर्गं तृणोपमम् । आपके कथामृत समुद्र में विचरण कर महामोद प्राप्त होने पर चतुर्वर्ग को भक्तगण तृण की भाँति अति तुच्छ मानते हैं ।।२१।।

श्रुतिरूपा आहुः—हे ईश्वर ! ऐश्वर्योत्कर्षपरमसीमन् ! अन्यत्रै-श्वर्यमापेक्षिकं तव, विशुद्धप्रेमैकशक्तिविलासिन् दुरवगमं महामवज्ञै र्महाभक्तै रपि दुर्बोधं यदात्मतत्त्वं निज रहस्य रूपं रागानुरागविवशम् । आत्मा—श्रीमूर्त्तिस्तत्तत्त्वं परमानन्दसाम्राज्यसारत्वानुभवान्यथारहितं स्वरूपमित्यर्थः । नितरां गमनायानुभवाय प्रपञ्चान्तः प्रकटश्रीवृन्दावने

मायया स्वाश्रितशक्त्या तादृशभाव योग्य-जीवानुग्रहाय दर्शित स्वरूप-स्येत्यर्थः। चरितमेव महामृतम्, अमृतं परमानन्दं तस्य महत्त्वमनापेक्षिक उत्कर्ष स्तदेवाब्धिस्तत्र परितो वर्त्तनं तेन परिश्रमणाः, शुद्ध प्रेमनिष्ठा, प्रकर्षेण विना श्रमेण अनायासेन श्रीकृष्णप्रेम्णाकृष्टस्य-स्वतएव दर्शन स्पर्शनाद्यानन्द साम्राज्योदयात्। केचित् विरला, अपकृष्टो वर्गो धर्मार्थ काममोक्षलक्षणो यस्मात् तेऽपि देवकीनन्दन पर्यन्त भगवत् स्वरूपैकान्त-प्रेमाणं नाभिलषन्तीत्यर्थः। चरण सरोजस्य हंसा आनन्दादयुत्कर्ष विवेचका स्तेषां कुलैर्यः सङ्गः सङ्गति वा सङ्ग आसक्ति स्तेन विसृष्टं गृहं गृह्यमाणं सम्यगनुभूयमानं मिश्रप्रेममयं शुद्ध मधुरेतरग्ममयं च कृष्णस्वरूपं यैः। यद्वा, सङ्गेन कर्त्रा सम्यक् शुद्ध कृष्णानुरागि शरीरान्तरादपि विशिष्टतया सृष्टं गृहं शरीरं ग्राहकं वहिरन्तरिन्द्रियं च येषाम्। आविर्भून श्रीराधा प्रियसख्यालंकृत देहेन्द्रियादय इत्यर्थः।

नित्यगोप्यस्तु आहुः—दुरवगमात्मा अतिनिगूढानुरागत्वात् नेतीत्येव वदति, प्रति पदञ्च वैमुख्यमेव नाटयति, मानञ्च हेतुमेव तदैव दृढं कुरुते, अतस्तनुसारेण विवशीकर्त्तुमात्ता गृहीता धृता राधायास्तनुर्येन तादृशस्य तव महारसमयचरित समुद्रावगाहेन परिश्रमणामानापनोदवाद्यायास रहिता. केचितद् विधराधापरिजना अपवर्गोऽपि नेच्छन्ति, अपकृष्टोऽन्यः प्रियतमो वर्गोऽस्य तादृशमपि तव स प्रेमातिशयरतिविलासं नेच्छन्तीति वार्थः। तव चरण सरोजयोर्हंसकुलं राधैकान्तसख्येन समस्ततद्रगाद् विविच्य रसविशेष सह निपुणललितादिसङ्गेन विविधप्रकारेण सृष्ट निर्मितं गृह केलिकुञ्ज मन्दिरं यैरिति ॥२१॥

श्रुतिरूपा गोपी कहती हैं—हे ईश्वर ! ऐश्वर्योत्कर्षपरमसीमन् अन्यत्र आपेक्षिक ऐश्वर्य तुम्हारा है, विशुद्ध प्रेमैक शक्ति में विलासकारी हो, दुरवगम, महासर्वज्ञ महाभक्तगण द्वारा भी दुर्बोध, आत्मतत्त्व, निज रहस्य रूप राधानुराग विवशता को प्रकट करने के लिए ही आत्मा, श्रीमूर्त्ति, उसका तत्त्व, परमानन्दसाम्राज्यसारत्वानुभव स्वरूप है। उसका अनुभव कराने के लिए प्रपञ्चान्तर्गत प्रकट श्रीवृन्दावन में स्वाश्रित शक्ति द्वारा उस प्रकार भाव योग्य जीवों के प्रति अनुग्रह करने के लिए ही

निज स्वरूप को तुमने प्रकट किया है। तुम्हारे चरित ही महामृत है, अमृत, परमानन्द, उसका महत्व भी इसके आगे नहीं है, इस प्रकार उत्कर्ष मण्डित चरितामृताब्धि है, उसमें सर्वतोभावेन अनुशीलनरत भक्तगण क्लेश से मुक्त हो जाते हैं, शुद्ध प्रेम निष्ठा के उत्कर्ष से विनाश्रम से ही अनायास ही श्रीकृष्ण प्रेम में आकृष्ट हो जाते हैं, स्वत: ही दर्शन स्पर्शनादि आनन्द साम्राज्य का उदय होता है। कुछ विरलजन धर्म अर्थ काम मोक्ष स्पृहा को भी तुच्छ करने वाले, देवकीनन्दन से लेकर समस्त भगवत् स्वरूप के प्रति प्रेम की इच्छा नहीं करते हैं, वे लोक तुम्हारे चरण सरोज के हंसगण आनन्दादि उत्कर्ष विवेचकगण के सङ्ग से आसक्ति से विसृष्ट-गृह—सम्यक अनुभव द्वारा गृहीत मिश्र प्रेममय शुद्ध मधुरेतर रसमय श्रीकृष्ण स्वरूप को भी परित्याग करते हैं। किम्वा सङ्ग से प्राप्त सम्यक् शुद्ध कृष्णानुरागि शरीरान्तर से विशिष्ट रूप से सृष्ट गृह शरीर, ग्राहक बहिरिन्द्रिय अन्तरिन्द्रिय को भी परित्याग करते हैं, उन सबके श्रीराधा प्रिय सख्यभाव से अलंकृत देह इन्द्रिय प्रभृति होते हैं ॥२१॥

नित्यगोपी कहती हैं—अति निगूढ़ानुराग के कारण दुरवगमात्मा तुम्हारे तत्त्व को जानने के लिए बाहर सदा नहीं कहती हैं, प्रत्येक व्यवहार में विमुखता का अभिनय करती हैं, मान स वारण ही दृढ़ हो जाता है, अतएव तनुस्पर्श करने के लिए अपना विवशभाव को प्रकट कर श्रीराधा के तनु का स्पर्श करते हो, इस प्रकार तुम्हारे महारसमय चरित समुद्र में अवगाहन कर मानापनोदन के लिए आयास शून्य होकर हमारे तरह राधा के परिजनगण अपवर्ग को भी नहीं चाहते हैं, सम्भोगेच्छु तुम्हें भी नहीं चाहते हैं, एकान्त में तुम्हारे स प्रेमातिशय रति विलास को भी नहीं चाहते हैं, तुम्हारे चरण सरोज के हंसकुल को श्रीराधा के एकान्त सख्य से समस्त रस की विवेचना कर रस विशेष के साथ निपुण ललितादि के सङ्ग से विविध प्रकार से रचित गृह केलि कुञ्ज मन्दिर को परित्याग करते हैं ॥२१॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत् प्रियव,

च्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।

न वत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो,
यदनुशया भ्रमन्तुरुभये कुशरीरभृतः ॥२२॥

सान्वयव्याख्या

त्वदनुपथं (भवदनुवर्त्तित्वात् भवत्सेवौपयिकं) इदं कुलायं (कौ पृथिव्यां लीयते इति कुलायं शरीरं) आत्मसुहृत् प्रियवत् (आत्मा च सुहृच्च प्रियश्च तद्वत्) चरति (स्वाधीनतया वर्त्तते इत्यर्थः) अहोवत (कष्टं) तथा उन्मुखे (अभिमुखे) हितेप्रिये आत्मनि च त्वयि न रमन्ति (ये सख्यादिना न भजन्ति) असदुपासनया (देहाद्युपलालनेन) आत्महनः (आत्म घातिनः प्रमादिनः ते जना इत्यर्थः) यदनुशयाः (यस्यां असदुपासनायां अनुशयः वासना येषां यथोक्ताः) कुशरीरभृतः (नीचदेह धारिणः च सन्तः) उरुभये बहुभयसंकुले संसारे) भ्रमन्ति (परिवर्त्तन्ते) ॥२२॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—(एवमसमोर्द्धभक्तिमाहात्म्ये प्रस्तुते काश्चित् श्रुतयः कांश्चित् यादवानपि भक्तिहीनान् आलोच्य तान् शोचन्त्यः आहुः) त्वदनुपथं (यादवत्वात् भवत् सेवोचितं) कुलायं (कुलंत्वत् प्रभवं यदुकुलं अयते समेतीति कुलायं यदुकुलोद्भवमित्यर्थः) इदं (अपरोक्षं शरीरं) आत्म सुहृत् प्रियवत् आत्मनः स्वस्य सुहृत्प्रियवत् परमानु कूलत्वेन इत्यर्थ) चरति (वर्त्तते इत्यर्थः) वत (कष्टं) अहो (आश्चर्यं) तथा (तथापि) उन्मुखे (अभिमुखहिते) आत्मनि (स्वविषये) हिते (हितकरे) प्रियेच (अपि त्वयि न रमन्ति (प्रसेन शतधन्वादयः स्तुतिं कुर्वन्ति, केवलं ते असदुपासनया (असतः धनादेः उपासनया) आत्महनः (आत्मघातिनः) यदनुशयाः (यत्र धनादौ अनुशयः वासना येषां तथोक्ताः) कुशरीरभृतः (त्वद् भजनाभावात् कुत्सितदेहं पुष्णन्तः च सन्तः उरुभये महतित्रासे, भ्रमन् (त्वत्त्वः धन प्राणादि नाश शङ्कया सदा नये भग्ना वर्त्तन्ते इत्यर्थः ॥२२॥

आपका भजनोपयोगी यह पाञ्चभौतिक देह आत्मा सुहृत् एवं प्रिय के समान स्वाधीन रूप में वर्त्तमान है, हाय कैसी दुःख की बात है। तथापि सम्मुखवर्ती, हित, प्रिय एवं परमात्म स्वरूप आपका भजन जो

लोक सख्यादि भाव से भजन नहीं करता है, देहादि के लालन पालन में रत रहता है, वे आत्मघाती जनगण केवल देहादि के लालन पालन वासना सम्पन्न होने के कारण नीचदेह धारण कर बहु भय संकुल ससार में परिभ्रमण करते हैं। अतः अभक्त निन्दनीय है ।।२२।।

नवम श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तव करते हैं—श्रुति (१) आरामस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ।

ग्राम, नगर, स्त्री, पुत्र अन्नादिरूप आत्म क्रीड़ा-स्थान को सब लोक देखते हैं, आत्मा को कोई नहीं देखता है ।

(२) न तं विदाथ य इमां जजान अन्यत् युस्माकम् अन्तरं बभूव ।

विश्वकर्मा मनुष्य को हितकर उपदेश प्रदान करते हैं, तुम सब उनको नहीं जानते हो, जो यह सब प्राणियों के जनक हैं, अतएव वह तुम सबसे दूर में अवस्थित हैं। यदि इस आत्म तत्त्व को जानकर सत्य रूप से उनकी उपासना करते हो तब तुम सबकी संसृति नहीं होगी।

(३) 'नीहारेण प्रावृता जल्प्या: च असुतृप: उक्थशास: चरन्ति' जो लोक जल्प में प्रवृत्त है, अर्थात् जो लोक प्राण तर्पणकारी विषयी है, जो लोक कर्मफल शास्त्रावलम्बी हैं, वे सब अविद्यावृत होकर संसार में भ्रमण करते हैं।

(४) असूर्या नाम ते लोकाः इत्यादि—

स्वामिचरण—

त्वयि आत्मनि जगन्नाथ मन्मनः रमताम् इह ।
कदा मम ईदृशं जन्म मानुषं संभविष्यति ॥

हे जगन्नाथ ! आत्मा मेरा मन तुम्हारे प्रति रत हो, कब मेरा इस प्रकार मनुष्य जन्म होगा ।।२२।।

श्रुतिरूपा आहुः—उन्दति प्रेम्णा आर्द्रीभवति सा राधा तस्या उन्मुखमेव मुखं यस्य सदासन्मुखवर्त्ति राध इत्यर्थः सैव मुखं प्राप्त्युपायो यस्य पूर्णरसमयस्वरूपस्य—राधानन्यभावं विनाऽनुभवितु मशक्यत्वात्। हिते सदानुकूले, नहि राधा प्रातिकूल्यमन्य गोपीसङ्गप्रसङ्गमात्ररूपमपि

कर्त्तुं कृष्णः शक्नोति । प्रियवत् इति प्रियस्तस्मिन्, राधायामेव ह्यधिका-धिकां प्रीतिं सदा वहतीति राधा स्मृतिमात्रेणान्यासु प्रीतिशैथिल्यात् । आत्मनि राधाया आत्मवद् वर्त्तमाने, नहि राधा श्रीकृष्णस्य क्षणविच्छेदे आत्मवती भवति, अचेतनैव स्यादित्यर्थः । एतादृशे त्वयि न रमन्ति इत्याश्चर्यं, रमन्ते इति रमा ललिताद्या स्तद्वदाचरन्तीति वा । असन्तो विशुद्धभाव तन्मय कृष्ण तत्प्रिय स्वरूपासत्त्व वादिन स्तेषामुपासनया आत्महनस्त्वद् द्वेषाल्लब्धैकान्त भक्तेरपिच्युता भवन्ति, पुरुषार्थान्तराच्च भ्रश्यन्तीत्यर्थः । यस्य श्रीकृष्णस्य राधयासह विहारिणस्तवानुशया विहृत्य तव शयनानन्तरं शयाना इत्यर्थः । यदेक वासना इति वा ललितादयो भ्रमन्ति व्याकुला भवन्ति, इतस्ततः स्त्वदर्थं भ्रमन्तीति वा कथम्भूताः ? वंशीनादः स एव शरः कामिनी मनोमृगवेधक यस्यास्ति स कुशरी काम स्तस्माद् भयेन ईरः कम्पस्तद् भृतः उरुर्भीर्यस्य स उरुभः कृष्णस्तंयाति वंशीनाद श्रवणेनातिव्याकुलतया यस्यांदिशि शब्दस्तामेव धावित्वा याति उरुभया श्रीराधा, तदर्थं तद्दुःखेन दुःखिता इत्यर्थः ।

नित्य गोप्यस्तु आहु —श्रीराधिकैकान्तसख्य रहित गोपी निन्दन्ति इदं कुलायं शरीरमस्मा स्मात्म सुहृच्छ्रीराधिका तस्याः प्रियजनवद् वर्त्तते, यत् स्त्वदनुपथं त्वत्पन्थानमनुसृतं तदनु गतीति यावत् । कुः शब्दः कृष्णे-स्तादिर्मुरलीध्वनिर्वा, तेनलीयते तल्लीनं भवति, प्रेमा इत्यर्थः । तथापि त्वयि श्रीकृष्णचन्द्रे आत्मनि अस्मा स्मात्मभूतायां श्रीराधिकायाञ्च न रमन्ति त्वयि कथम्भूते ? उमुन्खे हिते प्रिये च, राधायामेव मुखं यस्य, सैव वशीकरणद्वारं यस्य, हिते अनुकूलेराधारसरसिकायामेव प्रिये अधिक प्रीतिकरे च एनाश्च असती अनुत्कृष्टा या उपासना तया स्वातन्त्र्येण कृष्ण सङ्ग सुखेच्छेत्रानुकर्षः, अतएव आत्महनो विरहदुःखेनात्मघातिकाः कुशरीर भृत सद्यः कुशरी कामस्तेन कम्पभूतः, यस्मिन् श्रीकृष्णे वासनावत्य उरुभये वनप्रदेशे भ्रमन्ति परं नतु राधासुखानुगवशीकृतस्य सङ्गं प्राप्नुवन्तीति ॥२२॥

श्रुतिरूपा गोपी कहती है—उन्दति, प्रेम से द्रवित होती है, वह राधा है, उस राधा के प्रति उन्मुख होकर सदा सम्मुखवर्त्तिराय है,

श्रीराधा है, पूर्णरसमय स्वरूप की प्राप्ति का मुख उपाय है, उन स्वरूप का अनुभव श्रीराधा के प्रति अनन्य भाव को छोड़कर नहीं हो सकता है, हिते सदानुकूल में ही सम्भव है, श्रीराधा का प्रातिकूल्य, अन्य गोपी सङ्ग प्रसङ्गमात्र का आचरण कृष्ण कर नहीं सकते हैं। प्रियवत् ममत्व उसमें ही है, श्रीराधा में अधिक प्रीति सदा ही रखते हैं, राधा की स्मृति मात्र से ही अन्यत्र प्रीति की शिथिलता होती है। आत्मनि, श्रीराधा की आत्मा की भाँति वर्त्तमान है, श्रीराधा श्रीकृष्ण के क्षण काल विच्छेद से आत्मवती नहीं होती है, अचेतन ही होती है। इस प्रकार तुम हो, तुम्हारे प्रति आसक्त नहीं होती है, यह आश्चर्य की बात है। रमण रत ही रमा है, ललितादि उस प्रकार ही आचरण करती है, असन्त, विशुद्धमात्र एवं विशुद्ध भावमय कृष्ण हैं, उनके प्रिय स्वरूप को अस्वीकार करने वाले व्यक्ति उपासना के द्वारा भी आत्मघाती होते हैं, उनके प्रति विद्वेष से एक भक्ति प्राप्तकर भी उससे स्खलित होते हैं, पुरुषार्थान्तर से भी गिर जाते हैं।

श्रीराधा के साथ तुम 'कृष्ण' विहार करते हो एवं अनुशया विहृत्य तुम्हारे शयन होने के बाद ही वे सब शयन करती हैं। एक वासना क्रान्त ये सब होती हैं। ललितादि भ्रमन्ति, व्याकुल हो जाती है, इतस्तत तुम्हारे लिए भ्रमण करती रहती है, किस प्रकार है ? कु—वंशीनाद, वह ही शर है, कामिनी मनोमृग को विद्ध करने के लिए एकमात्र अस्त्र है, ऐसा अस्त्र जिसका है, वह कुशरी है, काम है उसके भय से ईर, कम्प, उसको धारण करते हैं, उरुभीयस्य, स उरुभः, श्रीकृष्ण को प्राप्त करती हैं, वंशीनाद श्रवण कर व्याकुल हो जाती है, और जिस दिक् से शब्द आता रहता है, उस शब्द को प्राप्त करने के लिए दौड़कर राधा जाती है, उरुभया श्रीराधा इसके लिए उसके दुःख से दुःखिता होकर रहती है ॥२२॥

नित्यगोपी कहती है—श्रीराधा के साथ जिनका एकान्त सख्य भाव नहीं है, जिनकी निन्दा करती है, इदं कुलायं हमारे यह शरीर, हमारे आत्म सुहृद श्रीराधा हैं, उनके प्रियजन के समान है, कारण उनके

प्रति अनुरागी होकर उनके पदवी का अनुसरण रत है 'कु' शब्द, कृष्ण मुरली ध्वनि अर्थ में प्रयुक्त है, उसमें तल्लीन होना ही प्रेम है, तथापि तुम कृष्णचन्द्र आत्मा हो और राधा भी हमारी आत्मा है, रत नहीं होते हैं, तुम किस प्रकार हो ? उन्मुख हो, प्रिय हो, हित स्वरूप हो, श्रीराधा की ओर तुम्हारा मुख है, श्रीराधा ही तुम्हारे वशीकरण द्वार हैं, हित में अनुकूल में श्रीराधारस रसिक के प्रति तुम्हारी अधिक प्रीति होती है। अपर उपासना असती अनुत्कृष्टा होती है, उस उपासना के द्वारा स्वतन्त्रता से श्रीकृष्ण सङ्ग सुखेच्छा ही रहती है, अतः उसका उत्कर्ष नहीं है, अतएव वे सब आत्मघाती होते हैं, विरह दुःख से आत्मघाती होते हैं, कुशरीरभृत, सद्य कुशरी काम होता है, उससे कम्पित होते हैं, श्रीकृष्ण के प्रति रमणेच्छा से उरुभय रूप वन प्रदेश में भ्रमण करते रहते हैं, भ्रमण ही भ्रमण होता है, किन्तु श्रीराधा सङ्ग से वशीभूत कृष्ण को प्राप्त होना असम्भव होता है ॥२२॥

> निभृत मरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजो हृदि य,
> न्मुनय उपासते तदरयोपि ययुः स्मरणात् ।
> स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो,
> वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥२३

सान्वयव्याख्या

निभृतमरुन्मनोक्षदृढयोगयुजः (निभृतानिमरुत् प्राणवायुश्च मनश्च अक्षाणि इन्द्रियानि च यैस्ते, दृढं योगं युञ्जन्तीति ते, ते च ते च तथोक्ताः) मुनयः हृदि यत् (तत्त्वं) उपासते, अरयः (शत्रवः) अपि स्मरणात् तत् ययुः (प्रापुः) उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः (उरगेन्द्रः अनन्तः तस्य भोगस्येव भुजदण्डयोः मध्ये विषक्ता धीर्यासां तथोक्ताः) स्त्रियः (गोप्यः तथा समदृशः) (समं अपरिच्छिन्नं त्वां पश्यन्त्यः) अङ्घ्रि सरोजं सुधाः (अङ्घ्रि सरोजं भवतः पादपद्मं सुष्ठु दधतीति तथोक्ताः) वयं (श्रुत्यभिमानिन देवताः) अपि (तत् प्राप्ताः, यतः सर्वे) ते (तव) समाः (कृपाविषयतयातुल्याः ॥२३॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—काश्चित् श्रुतयः गाढ़ानन्दप्रकर्ष कृतेन चापलेन मुखरीकृताः श्रीभगवति स्वेषामेवभावमाधुर्यप्रदर्शनाय भक्ति हीनानां प्राप्यमाहुः, निभृत मरुन्मनोक्षदृढ़योगयुजो मुनयो हृदियत् (ब्रह्माख्यं तत्त्वं उपासते) उपासनया प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। अरयः अपि स्मरणात् तत् ययुः (प्राप्ताः) उरगेन्द्र भोग भुजदण्डे विषक्तधियः स्त्रियः नित्य प्रेयस्यः गोपिकाः श्रीराधादयः इत्यर्थ) ते तव अङ्घ्रि सरोज सुधाः (श्रीचरणकमल स्पर्शमाप्तु यानि उपागते) समाः श्रीनन्दव्रज गोपित्व प्राप्त्या नित्य प्रेयसीभिः गोपीभिः तुल्याः वयं अपिसमदृशः (त्वद्भावा नुगत भावाः सत्यः, अङ्घ्रि सरोजसुधाः ययिम इत्यर्थ) ॥२३॥

मन, प्राण, इन्द्रिय संयम पूर्वक दृढ़ योग युक्त मुनिगण हृदय में उपासना द्वारा जिस तत्त्व को प्राप्त करते हैं, शत्रुगण निरन्तर अनिष्ट चिन्ता से आपका स्मरण कर प्राप्त करते हैं, और अनन्त के शरीर की भाँति आपके भुजदण्ड के मध्य में विषक्त बुद्धि सम्पन्न (अर्थात् अपरिच्छिन्न रूप में अवलोकनकारी) कामासक्त गोपीगण एव अपरिच्छिन्न रूप में अवलोकनकारी श्रुत्यभिमानी देवता हम सब भी आपके चरणारविन्द को प्राप्त किये हैं, कारण आपके निकट सब ही व्यक्ति समान हैं ॥२३॥

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—कुछ श्रुतिगण गाढ़ानन्द प्रकर्षकृत चपलता से मुखरीकृत होकर श्रीभगवान् के प्रति स्वीय भाव माधुर्य प्रदर्शन के निमित्त आप भक्तिहीन व्यक्तियों का भी प्राप्य कहते हैं—प्राण, मन एवं इन्द्रिय संयम पूर्वक दृढ़ भक्ति योगयुक्त मुनिगण हृदय में जिस ब्रह्म तत्त्व की आराधना करते हैं, अरिगण भी सर्वदा अनिष्ट चिन्ता में मग्न होकर आपका स्मरण कर उस तत्त्व को प्राप्त करते हैं। और सर्पराज के सदृश भवदीय भुजदण्ड के मध्य में विषक्त बुद्धि सम्पन्न श्रीराधा प्रभृति नित्य प्रेयसी गोपीगण भवदीय श्रीचरण कमल स्पर्श माधुर्य का भजन करते हैं, एवं श्रीनन्दव्रज में गोपित्व प्राप्ति हेतु नित्य प्रेयसी गोपिकागण के सदृश हम सब भी उन सबके भावानुगत भाव के होकर भवदीय श्रीचरण कमल युगल की अर्चना करते रहते है ॥२३॥

स्मरण ही तत्त्व लाभ करने का एकमात्र उपाय है—दशम श्रुत्यभिमानिनी देवतागण स्तव करते हैं, याज्ञवल्क्य स्वभार्या मैत्रेयी को कहते हैं—

(१) न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनः तु कामाय सर्वंप्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः, मैत्रेयि ! आत्मनः वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं इदं सर्वं विदितम् । अरे मैत्रेयी ! पति के काम के लिए पति प्रिय नहीं है, किन्तु आत्म काम के लिए पति प्रिय होता है, उस प्रकार स्त्री पुत्र धनादि काम के लिए स्त्री पुत्र धनादि प्रिय नहीं है, किन्तु आत्म प्रियता के लिए ही सब प्रिय होते हैं, उस आत्मा का साक्षात्कार करो। सर्वप्रथम आचार्य एवं आगम से उस विषय का श्रवण करो, पश्चात् तर्कादि द्वारा मनन करो, अनन्तर निदिध्यासन कर ध्यान करो। इस प्रकार श्रवण, मनन निदिध्यासन द्वारा आत्म दर्शन होता है, आत्म दर्शन से ही सब कुछ जाना जाता है। श्रीशुकदेव की वाणी भी उक्तानुरूप है, तस्मात् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यः स्मर्त्तव्यश्चेच्छता भयम् । अतएव भारत! जो जन अभयेच्छु है, वह सर्वात्मा भगवान् ईश्वर हरि का श्रवण कीर्त्तन स्मरण करे। स्वामिचरण कहते हैं—

चरण स्मरणं प्रेम्ना तव देव सुदुर्ल्लभम् ।
यथा कथञ्चित् मम भूयात् अहर्निशम् ।।

हे देव ! नृहरे ! तुम्हारे श्रीचरण सुदुर्ल्लभ है, प्रेम के साथ उसका स्मरण अहर्निशि जिस किसी प्रकार से मेरा हो ! मेरी यही प्रार्थना है।।२३

श्रुतिरूपा आहुः—मुनयोमननशीलास्त्वां गोपालवेशेन व्रजवृन्दावन स्थिरचरप्रेमाविष्टमपि सर्वात्मकपरब्रह्मघनत्वेन जानन्तो महाप्रगाढ़ योगेन चिन्मात्रैकरसपरब्रह्मणि प्रथमं चेतः समावेश्य तत्र तद् घनं व्रजवृन्दावनाख्यं धाम संस्मृत्य तत्र स्वेष्ट पार्षद रूपेण सप्रेम भरं यत् स्वरूप मुपासते त्वत् सेवापराइत्यर्थः। तदेवारयो वकाघशङ्खचूड़ादयो दृढ़

भावना योगात् प्रापुः स्त्रियः स्वैरयादयः, कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः "इत्युक्तः" सकलाद्भुत सौन्दर्येण काममोहिता अपि यदेवापुः, वयमपि त्वदङ्‌घ्रि सरोजस्य सुधाः सुष्ठु सम्यक्तत्त्वावबोधेन प्रेममूल प्रायस्य धारिकाः सुष्ठु रसपान कर्त्र्यो वा समामुन्यादिभिः समाः शुद्ध भावाभावेन शुद्धप्रेमरस विलासि स्वरूपानुभवाभावात्। तत्र कथम्भूतस्य ? समदृशः समम् सर्वात्मकं परब्रह्मात्मत्वेन पश्यतः, सममेकरूपं सर्वं वा, समा ब्रह्मत्वेनैकरूपादृष्टि र्यस्येति वा, शुद्धभावमयेषु तु त्वं न ब्रह्म। मा शुद्धप्रेम सम्पत्तिः, मा मितिः परिच्छेदः शुद्धप्रेमवत् एव त्वं पश्यसि, तैरेव च दृश्यते, परिच्छिन्नं यशोदाकिशोर मेवात्मत्वेन पश्यतः परिच्छिन्न व्रज-वृन्दावनस्य शरीराभिमानिभि र्दृश्यसे। तस्य मुन्यादयो वयमपि च समाः शुद्धरूपेण व्यवहाराभावस्य समानत्वात् ॥२३॥

नित्य गोप्यस्तु आहुः—निभृते निजनश्रीवृन्दावननिकुञ्जोदरे मरुन्मनोऽक्षाणि दृढ़ानि यत्र (निकुञ्जे) तादृश योगः प्राणस्य तादृशता सुरत संग्रामखेलनाशैथ्र्यराहित्याभावः मनोदृढ़ता रतत्वानुत्साहाभावः अक्षदृढ़ता तच्चेष्टाशैथिल्याभावः, तस्या राधाया हृदि वक्षसि यद् विलास विशेषाप यनमानं तत्र स्वरूपम्, अरयो विपक्ष नायिका श्चन्द्रावल्या-दयोऽपि प्रापुः स्मरणादेव, नतु साक्षात्—ऐकान्तिक सख्याभावात्। समौ राधां त्वाञ्च समस्नेह विषयौ। सममेकरूपं वा केलि सम्पद्युक्तौ महा-शोभायुक्तौ वा पश्यन्त्यो वयमपि समा राधा तादात्म्यभावावेशेन त्वत् सङ्गसुखसम्पद्युक्ताः स दृश्यो वा राधया तत् सङ्ग सुखभोगा इति तव चरणसरोजं सुष्ठु धारयन्त्यः क्रीड़ा श्रान्तौ संवाहयन्त्य इत्यर्थः। चरण सरोजं युवयोरिति वा तद्रसं वा सुष्ठु पिबन्त्यः ॥२३॥

श्रुतिरूपा कहती है-मननशील मुनिगण, गोपालवेश से व्रजवृन्दावन स्थिरचर प्रेमाविष्ट होने पर भी तुम्हें सर्वात्मक परब्रह्म घनत्व रूप में जानकर महा प्रगाढ़ योग से चिन्मात्रैक रस परब्रह्म में प्रथम चित्त को समाविष्ट करके, उसमें परमब्रह्मघन व्रजवृन्दावन नामक धाम को स्मरण कर वृन्दावन में निज इष्ट पार्षद रूप में प्रेम के आतिशय्य से जिस स्वरूप की उपासना करते हैं, तुम्हारी सेवा परायण व्यक्तिगण ही वैसा करते

हैं। उस प्रकार वक, अघशङ्ख चूड़ प्रभृतियों ने भी दृढ़ भावना योग से उस स्वरूप को प्राप्त किया है, और आकाशस्थ देवीगण भी अपनी निविस्खलन को भूलकर भी उन स्वरूप में मुग्ध हो गये थे। सकल सौन्दर्य से काम मोहित होकर उस स्वरूप को प्राप्त किये, हम सबने भी तुम्हारे चरण की सुधा को सम्यक् रूप से जानकर प्रेम से प्राप्त किया, शुद्ध प्रेमास्वादन की योग्यता न होने से मुनिगण में शुद्धभाव की विद्यमानता नहीं है, अतः शुद्धप्रेमरस विलासि स्वरूप का अनुभव उन सबको नहीं होता है। तुम किस प्रकार हो? समदृश हो, सम सर्वात्मक परब्रह्मात्म रूप में देखते हो, सम एक रूप ही सकल है, समा, ब्रह्मत्व रूप में एक दृष्टि है, शुद्ध भावमय में तुम ब्रह्म नहीं हो, मा, शुद्धप्रेम सम्पत्ति, मा, मिति, परिच्छेद, तुम शुद्धप्रेम वाले को पृथक्-पृथक् रूप में देखते हो, शुद्धप्रेम वाले भी तुम्हें उस प्रकार देखते हैं, परिच्छिन्न यशोदा किशोर रूप में अपने को जानते हो, परिच्छिन्न व्रजवृन्दावनस्थ शरीराभिमानिगण तुम्हें उस प्रकार ही मानते हैं, मुनिगण एवं हम सब भी एक श्रेणी के हैं, शुद्धरूप में व्यवहार का अभाव हम दोनों में होने के कारण हम दोनों में समता है।

नित्यगोपी कहती हैं—निभृत विजन श्रीवृन्दावन निकुञ्ज में मरुत् मन, इन्द्रिय समूह दृढ़ योग परायणता, सुरतसंग्रामक्रीड़ा में अतिशय शौर्य प्रकाश मनोदृढ़ता, रतिक्रीड़ा में प्रखर उत्साह, अक्ष इन्द्रियगण की दृढ़ता, रति चेष्टा की अशिथिलता, श्रीराधा के वक्षस्थल में विलास विशेष के लिए प्रयत्न परायण ही तुम्हारा स्वरूप है। अरिगण विपक्ष नायिका चन्द्रावली प्रभृति भी तुम्हें प्राप्त करती है, किन्तु स्मरण से ही, साक्षात् रूप से नहीं। एवं कुछ श्रीराधा की सखी श्रीकृष्ण सङ्ग के लिए लालसावती होने पर भी श्रीराधा के साथ तुम्हारे सङ्गम को देखकर सुखी होती हैं, उसकी अवस्था वैसी होती है, अर्थात् स्मरण से ही श्रीकृष्ण सङ्ग प्राप्त करती है, साक्षात नहीं ऐकान्तिक सख्यभाव से ही वैसा सम्भव होता है। उन सबका भाव श्रीराधा और कृष्ण में समस्नेह विषयक है, सम एक रूप केलि सम्पद् युक्त एवं महाशोभा युक्त राधा एवं श्रीकृष्ण तुम

दोनों होते हो, इस प्रकार को देखकर हम सब भी समा हैं, राधा तादात्म्य भावावेश से ही तुम्हारे सङ्ग सम्पद् से युक्ता हैं, सदृश्य होते हैं। राधा के साथ तुम्हारे सङ्ग सुख से समान सुखी होते हैं, अतएव तुम्हारे चरण युगल को धारण कर हम सब उसका सम्वाहन करती हूँ। और सुरत क्रीड़ाश्रम को अपनोदन करती हूँ। तुम दोनों के युगल चरणों का ही सम्वाहन करती हूँ। और अति पवित्र उज्ज्वल शृङ्गाररस को पान करती हूँ ॥२३॥

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं,
यत उदगादृषिर्यमनुदेवगणा उभये।
तर्हि न सन्नचासदुभयं नच कालजवः,
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥२४॥

सान्वय व्याख्या

बत ! (अहो भगवन् !) इह (अस्मिन् जगति) अवर (अर्वाचीनोत्पत्ति विनाशवान्) कः नु अग्रसरं (पूर्वसिद्धं त्वां) वेद (जानाति) न कोऽपीत्यर्थः।) यतः (त्वत्त्वः) ऋषिः (ब्रह्मा) उदगात् (उत्पन्नः) यत् (ब्रह्माणं) अनुउभये (आध्यात्मिकाः आधिदैविकाः) देवगणा (उत्पन्नाः अतः त्वां विना सर्वे अर्वाचीनाः) यदा अवकृष्य (सर्वं उपसंहृत्य) शयीत तर्हि (तदा) न सन् (स्थूलं आकाशादि) न असत् (सूक्ष्मं महदादि) उभयं (सदसद्भ्यां आरब्धं शरीरं) च नच कालजवः (तन्निमित्त भूतं कालवैषम्यं) तत्र न किं (इन्द्रिय प्राणादि) अपि शास्त्रं तत्त्वज्ञापकं च न, एतत् सर्वं किमपि न वर्त्तते इत्यर्थः) ॥२४॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—(तासां महामोहनस्य वेणुमाधुर्यं वर्णनेन श्रीकृष्णं काश्चित् स्तुवन्ति) नु (भो भगवन् !) अवरजन्मलयः, अवरस्य प्राकृतस्य जन्मनःलयो यस्य स प्रत्यासन्न चिद्रूपदेहलाभः इत्यर्थः। कः (पुमान्) अग्रसरं (अग्रे पुरतः शब्दरूपेण सरति गच्छतीति अग्रसरं वेणुः तं) वेद (जानाति), न कोऽपीत्यर्थः। बत (आश्चर्ये) यतः (वेणोः)

ऋषि: (मन्त्रः, मोहन नादरूप: नाद: इत्यर्थ) उदगात् (स्वयमेव अभ्युत्थित: श्रीकृष्णस्य वंशी कदाचित् स्वयमपि शब्दायते इति प्रसिद्धि) यं (वेणो: मोहनः मन्त्ररूपं नादं) अनु (लक्ष्यीकृत्य) उभये श्रीब्रह्मादय: श्रीगरुड़ादय: श्रीवैकुण्ठ नित्य परिषदा: च) देवगणा: (श्रीवृन्दावनोपरि गगने) उदगु: यदा शास्त्रं (गन्धर्वविद्या शास्त्रं) अवकृष्य समानीय स्वस्मिन् समावेश्य) तत्र त्वदधरविम्वे शयीत (परशक्त्या त्वया निवेश्यो भवेत्) तर्हि न सत् प्रियजनकुलं) न असत् (विद्वेषीकुलं) उभयं (भक्ति द्वेषरहितं) मध्यस्थं ज्ञानि कर्मिकुलं यद्वा—न सत् चेतनकुलं न असत् अचेतनकुलं पाषाणादि उभयं च न च काल जव: (कालस्य वेग:) न किं अपि अन्यत् नदीमरुतादीनां वहनादिकमपीत्यर्थ:, सर्वमेव जगत् वेणु नादाम्बुधौ मज्जतीति-भाव: ॥२४॥

हे भगवन् ! इस जगत् में आधुनिक सृष्ट एवं विनाशशील कौन व्यक्ति पूर्वसिद्ध आपको जान सकेगा। कोई भी नहीं। कारण आपसे ही ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। ब्रह्मा से आध्यात्मिक, आधिदैविक ये द्विविध देवगण उत्पन्न होते हैं, सुतरां आप व्यतीत ये सब ही पूर्वसिद्ध नहीं है, केवल आप ही पूर्वसिद्ध हैं। जब आप समस्त पदार्थ को उपसंहार कर शयन करते हैं, तब सत् स्थूल आकाशादि, असत्-सूक्ष्म महदादि तत्त्व, उभय-सत् एवं असत् इससे आरब्ध शरीर, उसके लिए काल वैषम्य, इन्द्रिय प्राणादि एवं उसका प्रकाशक शास्त्र प्रभृति कुछ भी नहीं रहते हैं ॥२४॥

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—कुछ श्रुतिगण उनकी महामोहनशील वंशी माधुर्य वर्णन द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति करते हैं, भो भगवन् ! कोई भी व्यक्ति प्रत्यासन्न चिद्रूपदेह प्राप्त करके भी आपकी वंशी की महिमा को अवगत होने में समर्थ होता है ? कोई भी व्यक्ति कभी भी नहीं, कैसी आश्चर्य की बात है। जिस वेणु से मोहन मन्त्र रूपनाद स्वयं उत्थित होता है, प्रसिद्धि है कि किसी-किसी समय में श्रीकृष्ण की वंशी स्वयं ही बज उठती है, एवं जिस वंशी के मोहन मन्त्र रूप नाद को लक्ष्य कर श्रीब्रह्मा प्रभृति एवं वैकुण्ठ के नित्य परिषद् श्रीगरुड़ प्रभृति द्विविध

देवगण श्रीवृन्दावन के उपरिस्थ गगन में उदित हुए थे। और जब वेणु' गन्धर्व विद्या शास्त्र को अपने में समाविष्ट कर आपके अधरविम्व में आपके द्वारा निवेशित होती है, तब सत् प्रियजनकुल अथवा चेतनकुल, असत्-विद्वेषिकुल अथवा अचेतनकुल, उभय भक्ति द्वेष रहित मध्यस्थ ज्ञानी कर्मिकुल, कालवेग, अपर नदी मरु प्रभृति के प्रवाहादि, जगत् के निखिल पदार्थ ही भवदीय वंशीनाद रूप समुद्र में निमग्न हो जाते हैं।२४

ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है—एकादश श्रुत्यभिमानिनी देवगण स्तव करते हैं—

(१) "यतो वाचः निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" मन के साथ वाणी जिनको प्राप्त न कर निर्विकल्प अद्वय आनन्द आत्मा से निवृत्त होती है, उन ब्रह्म के आनन्द को जानने पर कोई व्यक्ति किसी से भय प्राप्त नहीं होता है।

(२) "को अद्धावेद को इह प्रावोचत् कुत् आयाता कुत इयं विसृष्टिः, अर्वाग् देवा, अस्य विसर्जनेन न अथ को वेद यत आबभूव" उन परमात्मा को साक्षात् कौन जान सकता है? कौन उनको कहेगा! अर्वाचीन ब्रह्मादि देवगण इस जगत् की सृष्टि करने में समर्थ नहीं हैं। अतएव कौन उनको जानेगा, जिनसे यह सब हुये हैं।

(३) "अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनं देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वादधाति" यह परमात्मतत्त्व स्वरूप से अविचलित अद्वितीय, उनसे भी वेगवान् अर्थात् मन उनके पीछे पड़ा रहता है। इस परमात्मतत्त्व का चक्षुरादि इन्द्रिय एवं उसके अधिष्ठातृ देवगण दर्शन कर नहीं पाते हैं, कारण—मन के आगे वह चलते रहते हैं, आप स्थिरतर होने पर भी वागेन्द्रिय प्रभृति को अतिक्रम कर गमन करते हैं, मातरिश्वा अर्थात् वायु जिनसे 'अपः' प्राणियों की चेष्टा लक्षण कर्म शक्ति को प्राप्त करती है, अर्थात् वह ब्रह्म अनिर्वचीय हैं, इत्यादि श्रुतिगण भगवतत्त्व को दुर्ज्ञेय मानकर भक्ति को विशेष रूप से वर्णन करती हैं। अर्वाक् सृष्टिगत देहादि उपाधि हेतु जीव भगवतत्त्व से दूर में अवस्थित होता है, काल प्रभाव से जीव मलिनसत्त्व प्रधान हो

जाता है। उसका भगवज्ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार ही नहीं रहता है। श्रुति कहती है—(१) न तं विदाथ य इमा जजान अन्यत् युष्माकम् अन्तरं बभूव। जिन्होंने यह सब पदार्थ की सृष्टि की है, उनको तुम सब नहीं जानते हो, आप तुम सबसे अधिक दूर में हैं, प्रलय समय में यद्यपि दूर में नहीं रहते हैं, अथापि तब गुरुशास्त्रादि रूप साधना भाव के कारण भगवत्तत्व ज्ञान होना असम्भव होता है, कारण आपका ज्ञान सर्वथा दुर्घट है, अतएव आपकी शरणागत होकर श्रवण कीर्त्तन से ही भक्ति सुलभ है।

स्वामिचरण कहते हैं—क्व अहं बुद्धयादि संरुद्धः क्वच भूमन् महः, तव दीनबन्धो दयासिन्धो भक्तिं मे नृहरे दिश। हे भूमन्! हे अपरिच्छिन्न व्यापक! बुद्धयादिरुद्ध मैं कहाँ हूँ। और 'महः स्वरूप वाणी आदि के अगोचर आप कहाँ हैं। आपको जानने की किसी प्रकार सम्भावना नहीं है, अतएव हे दीनबन्धो! दयासिन्धो नृहरे! मुझको भक्ति प्रदान करो ॥२४॥

श्रुतिरूपा आहुः—न विद्यते वरं वरणीयं यस्मात् तद् भवदेकान्त भक्तिरूपं तस्य जन्मना लयो भगवद् विषये चित्तलयो यस्य तादृशोऽपि को वा त्वां वेद? कथम्भूतम्? अग्रसर मेकान्त भक्तेरपि नाना प्रकारायाः, अग्रसर मेकान्तभक्तिमात्रेणागम्यमित्यर्थः। इह वृन्दावने वर्त्तमानऋषि-र्ब्रह्मा। यतस्तत्र एव तवानुग्रहादेव उदगात् उत्कृष्टतया परं ज्ञानवान्, परं गोपालवेश यमनु ब्रह्मणः पश्चात् तदनुग्रहात् देवगणा अपि उत्कृष्टतया परं ज्ञानवन्तः नतु साक्षात् व्रजवृन्दावनस्था इव तत् सुखमनुभूतवन्तः गोपवेश विग्रहो लीला च तदनुरूपा परमचमत्कारवतीत्येव ज्ञातवन्तः नतु शुद्धगोपालस्वरूपं तल्लीलां च शुद्धरूपलीलायामपि विशेषमाह यदा सर्वमवकृष्यसर्वान्यदृष्टिमाकृष्य भवान् राधया सह निकुञ्जतल्पे शयीत, तदा सद् ब्रह्म तदात्मकः कोऽपि तन्न जानाति, असत् ब्रह्मात्मता रहितः शुद्धभाव मयोऽपि न वेद, न च उभयं ब्रह्मता व्रजवृन्दावन गत पार्षदता च उभयात्मकोऽपि न जानाति, न च काल जव, कालः श्यामसुन्दरः कृष्णस्तदर्थमेव जवो गमनं तत्र-तत्र यस्य तादृश गोपीजनोऽपि न वेद।

शास्त्रमपि किमपि भगवद्रहस्य प्रतिपादकमपि सर्वज्ञमपि न वेद। किं बहुना ? शासनाच्छास्त्रम्। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि" इति श्रुतेः। विश्वशास्तृ किमपि भगवत् स्वरूपमपि यन्न वेद ॥२४॥

नित्यगोप्यस्तु आहुः—अग्रसरं त्वाम् अग्रत एव सर्वेषां सरत्यभिसरति सङ्केत कुञ्जवनम्, इह व्रजे वृन्दावने वा को वेद ? न कोऽपि। कुतः? आवृणोतीति आवरं तमस्तस्य जन्मना बुद्धेर्लयो तस्य तवाभिसरणोच्छायामेव तमोहतदृष्टिता सर्वस्य भवतीत्यर्थः। ऋषिर्विदग्धराधिकापि यं त्वा मुत्कृष्टतया केनाप्यलक्षतयैवागात्, सङ्केतकुञ्जमितिशेषः। यतो यत्नात् यतो हेतो र्वा, वर जन्मलय इति वा। यदा पुनरवकृष्यातिकामातुरतया सखीमध्यात् राधां निकुञ्जगर्भं प्रत्याकृष्य शयीतः, तदा न सत् (अहं अमुकस्य पुत्रः, प्राणेभ्योऽपि अधिकः, सा मे माता, मदेकजीवना, ते मम सखायः इत्यादि विशेष विज्ञानं नास्ति, न च सुषुप्त इव ज्ञानमात्राभावः न वा उभयं स्वप्नः, न च कालजवो रात्रिदिनज्ञानम् नवा किमपि शास्त्रमनुशासनकर्त्तृ मान्यवर्गानुशासनमिति ॥२४॥

श्रुतिरूपा गोपी कहती है–जिससे और कोई वरणीय नहीं हैं, यह तुम्हारी एकान्त भक्ति है, उसका जन्मनालय, भगवद् विषय में चित्त का लय, उसको कौन जानता है ? किस प्रकार ? अग्रसर, एकान्त भक्ति भी अनेक प्रकार है, अग्रसर एकान्त भक्ति मात्र से भी अगम्य है। इस वृन्दावन में वर्त्तमान ऋषि ब्रह्मा भी तुम्हारे अनुग्रह से ही उदगात् परम उत्कृष्ट रूप से जान पाये हैं, परम–गोपालवेश को, यमनु ब्रह्मा के पश्चात् तुम्हारे अनुग्रह से देवगण भी उत्कृष्ट से परतत्त्व को जान गये हैं, किन्तु साक्षात् वृन्दावनवासी जनगण के समान सुख का अनुभव नहीं हुआ है, गोपवेश विग्रह लीला गोपवेश के अनुरूप सब ही परम चमत्कार रूप हैं, यह उन्होंने जाना है, किन्तु शुद्ध गोपस्वरूप को और उसकी लीला को नहीं जाना है, शुद्धरूप लीला का जो विशेष है, उसको कहते हैं—जब आप सकल अन्य दृष्टि को समेंट कर राधा के साथ निकुञ्ज तल्प में शयन करते हैं, उस समय सद् ब्रह्म को तदात्मक कोई भी व्यक्ति उसको नहीं जानते हैं, असत् ब्रह्मात्मता रहित शुद्धभावमयजन भी उसको नहीं जान

पाता है, न च उभयं, ब्रह्मता, व्रजवृन्दावन गत पार्षदता, उभयात्मकजन भी उसको नहीं जान पाता है, न च काल जवः, काल, श्यामसुन्दर कृष्ण उनके लिए जव गमन करने वाले उस प्रकार गोपीजनगण भी नहीं जानते हैं, शास्त्रमपि—भगवद्रहस्य प्रतिपादक सर्वज्ञ होकर भी नहीं जान पाते हैं, अधिक तो कहना ही क्या है ? शासन के कारण ही शास्त्र नाम होता है, इस अक्षर के प्रशासन में ही हे गार्गि ! सब कुछ विधृत हैं, विश्व शास्ता कोई भी भगवत् स्वरूप भी उसको नहीं जानते हैं ।

नित्यगोपी कहती है—अग्रसरं त्वाम्-सबसे आगे सङ्केत कुञ्जवन को जाने वाले तुम्हें इस वृन्दावन में कौन जानता है ? कोई नहीं जानता है, कैसे ? तुम्हारी अभिसार की इच्छा से ही सबकी दृष्टि तमः से आच्छन्ना हो जाती है, ऋषि–राधिका भी दूसरे के अगोचर से अच्छी तरह तुम्हारे पास आ जाती है, सङ्केतकुञ्ज में यत्न से अथवा जिस कारण से वर जन्म लय होते रहते हैं । जिस समय तुम सखी के मध्य से श्रीराधिका को आकर्षण कर कामातुर होकर निकुञ्ज गर्भ में ले जाकर शयन करते हो, उस समय 'न सत्य मैं अमुक का पुत्र हूँ, प्राण से भी अधिक है, वह मेरी माँ है, मैं उनके जीवन प्राण हूँ । सखागण भी हैं, इत्यादि विशेष अनुभव नहीं रहता है, सुषुप्त अवस्था की भाँति ज्ञान मात्र का अभाव नहीं कहा जा सकता है, दोनों स्वप्न ही हैं, ऐसा भी नहीं कहा जाता है, काल जब दिन-रात का ज्ञान भी नहीं रहता है, न तो किसी प्रकार अनुशासन कर्त्ता मान्यवर्ग का अनुशासन ही रहता है ॥२४॥

जनिमसतः सतोमृतिमुतात्मनि ये च भिदां,
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता,
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥२५॥

सान्वयव्याख्या

असतः (जगतः) जनिं (उत्पत्ति) ये च (वैशेषिकादयः वदन्ति, ये च पातञ्जलादयः असतः एव ब्रह्मत्वस्य उत्पत्ति वदन्ति) सतः (एव विंशति

प्रकारस्य दु:खस्य) मृतिं (नाशं, मोक्षं ये नैयायिका: वदन्ति) उत (अपि, ये च सांख्यादय:) आत्मनि भिदं (भेदं वदन्ति, ये मीमांसका:) विपणं (कर्म्मफल व्यवहारं) ऋतं (सत्यं) स्मरन्ति (वदन्ति) ते (सर्वे) आरुपितै: आरोपितै: भ्रमैरेव न तत्त्व दृष्टया उपदिशन्ति। (वस्तुत:) त्रिगुणमय: पुमान् इति (अनेन हेतुना, या भिदा (भेदादि सा) यत् (यस्मात्) त्वयि (तद्विषये) अबोधकृता (अज्ञान विजृम्भिता) तत: (तस्माद् हेतो: अबोधात परत्र (असङ्गे) अवबोधरसे (ज्ञानघने पुंसि) स: (अबोध:) न भवेत् (न सम्भवति, इत्यर्थ: ।।२५।।

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—ये च असत: जनिं, सत: (गोकुलस्य मृतिं, उत (किञ्च) आत्मनि (त्वयि) भिदां (श्रीजगदीश्वरात् भिन्नत्वं) विपणं (व्यवहार मात्रं) ऋतं नित्यं) स्मरन्ति, ते आरुपितै: आरोपितै: अज्ञानै: उपदिशन्ति, यत् (यत:) तत: (पुरुषात्) परत्र अवबोधरसे (ज्ञानघने गोवर्द्धनोद्धारणेन व्रजपालके) त्वयि (त्रिगुणमय: पुमान् इति भिदा (भेद: अपि) अबोधकृता (अज्ञानविजृम्भिता अत:) स: न भवेत् ।२५

वैशेषिकगण कहते हैं—परिदृश्यमान् जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, पातञ्जलगण असत् से ही ब्रह्मत्व की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं, नैयायिकगण एक विंशति प्रकार दु:ख नाश को ही मोक्ष मानते हैं, साङ्ख्य प्रभृति आत्मा में भेद स्वीकार करते हैं, मीमांसकगण कर्मफल व्यवहार को सत्य मानते हैं, वे सब ही आरोपित भ्रम से भ्रमित हैं, किन्तु कोई भी व्यक्ति तत्त्व दृष्टि द्वारा वस्तु की उपलब्धि करके नहीं कहते हैं, वास्तविक पक्ष में त्रिगुणमय पुरुष होने के कारण जो भेदादि की कल्पना होती है, उसका मूल भी आपके विषय में ज्ञानाभाव है, इसलिए अज्ञानातीत ज्ञानघन पुरुष आप हैं, आपमें उक्त अज्ञान कभी नहीं हो सकता ।२५

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—जो लोक असत् की उत्पत्ति एवं सत्, गोकुल की मृति, परमात्म स्वरूप आपमें भेद की कल्पना एवं व्यवहार मात्र को सत्य मानते हैं, वे सब केवल ही आरोपित अज्ञान से अन्ध होकर ही कहते हैं, किन्तु तत्त्व दृष्टि के द्वारा उपलब्धि करके नहीं कहते हैं कारण पुरुषातीत ज्ञानघन गोवर्द्धनोद्धरण हेतु व्रजपालक आपमें त्रिगुणमय

पुरुष इस प्रकार भेद की कल्पना करना अज्ञान मूलक होने से वह असम्भव ही है ।।२५।।

जब आचार्यगण के मत में सुस्पष्ट भ्रम है, तब ज्ञान साधन के प्रति अनुराग अनुचित है। द्वादश श्रुत्याभिमानि देवगण स्तुति करते हैं, उपदेष्टा आचार्यगण में भ्रमाधिक्य की विद्यमानता हेतु स्वरूपानबोधात्मक ज्ञान सुप्राप्य नहीं है ।

वैशेषिक—'असत: जनिम्' परमाणु आदि असत् पदार्थ से द्वयणुक सत् की उत्पत्ति मानते हैं। श्रुति विरोध इस मत में इस प्रकार हैं—(१) सत् एव सौम्य इदम्-अग्र आसीत् । हे सौम्य ! श्वेतकेतो ! नाम रूपात्मक विकृत जगत् सृष्टि के पूर्व में निर्विशेष निरञ्जन नित्य निरवयव वेदान्तोपपाद्य ब्रह्म ही थे ।

पातञ्चल—'असत: जनिम्' असत् अर्थात् असत् की जनिम् उत्पत्ति होती है, ताम्र प्रभृति धातु सुवर्ण न होने पर भी रसायन प्रक्रिया द्वारा सुवर्ण हो सकते हैं, उस प्रकार जीव ब्रह्म न होने पर भी भक्ति योग के प्रभाव से ब्रह्म हो सकता है। गीता के साथ विरोध-नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:, असत् की उत्पत्ति नहीं होती है, सत् का नाश भी नहीं होता है ।

नैयायिक मत में—'सत मृतिम्' सत: अर्थात् षड़िन्द्रिय शब्द रूप, गन्ध, स्पर्श, रस एवं सङ्कल्प, षड़ूर्म्मि-बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा मृत्यु, शरीर, वैषयिक सुख, दुःख यह एक विंशति तत्त्व का दुःख की मृति ज्ञान प्रभाव से नाश को मुक्ति रूप कहते हैं ।

श्रुति विरोध—(१) अथ य: अकाम: निष्काम:, आप्तकाम: आत्मकाम: ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' जिनकी किसी प्रकार अभिलाष नहीं है, जो निर्गत काम है, पूर्णकाम आत्मा ही कामना का विषय है, ऐसा पुरुष-आत्मा को निर्विशेष, अद्वैत, ज्योति स्वरूप देखता है। वह देहवान् होने पर भी ब्रह्म होकर शरीर विनष्ट होने के बाद ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।

(२) यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा: ये अस्य हृदि श्रिता: अथ मर्त्योऽमृत: भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ।

(३)जब हृदिस्थित सर्वकाम सर्व प्रकार से निर्गत होते हैं । तब मनुष्य इस शरीर में ही अमृत होता है, एवं देहान्त में ब्रह्म प्राप्त होता है।

(४) सांख्य—'आत्मनि च भिदां' आत्मा अनेकविध है, सांख्य कहते हैं । श्रुति विरोध—

(१) एकम् एव अद्वितीयम् । एकम् स्वजातीय, चेतन वस्त्वन्तर रहित 'अद्वितीयम्' विजातीय द्रव्यान्तर रहित ।

(२) नेह नानास्ति किञ्चन, इस जगत् में अनेक कुछ भी नहीं हैं, एक ब्रह्म ही है ।

(३) 'एक एवहि भूतात्मा भूतेभूते व्यवस्थित:' एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् एक परमेश्वर सर्वभूत में अवस्थित हैं, एक उपाधि होने के कारण एक रूप में प्रतिभात होते हैं, अनेक उपाधि होने पर अनेक प्रकार से प्रतिभात होते हैं, जिस प्रकार बहुयोजन व्यापक जलाशय में प्रतिविम्बित चन्द्र एक रूप में दृष्ट होता है, घट, शराब में प्रतिविम्बित चन्द्र अनेक प्रतीत होता है । मीमांसक-मत में, विपणं ऋतम्, यज्ञादि फल स्वर्गादि अविनाश्य एवं परम पुरुषार्थ है ।

श्रुति विरोध—(१) तद् यथा इह कर्मचित: लोक: क्षीयते एवम् अमुत्र पुण्यचितो लोक: क्षीयते । कर्मोचित लोक जिस प्रकार क्षय होता है उस प्रकार पुण्यार्जित लोक भी विनष्ट होता है ।

(२) समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नो हि अनीशया शोचति मुह्यमान: । देहाभिमान पुरुष माया द्वारा मुग्ध होकर इस प्रकार चिन्ता करता है ।

(३) अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना: स्वयंधीरा पण्डितम्मन्यमाना: जङ्घन्यमाना: परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा: । वे लोक अविवेकी होते हैं, हम सब बुद्धिमान् हैं, इस प्रकार मानकर ज्वर रोगादि अनर्थ द्वारा पीड़ित होकर भ्रमण करते हैं, वे लोक मूढ़ व्यक्ति से उपदिष्ट होते हैं, जिस प्रकार अन्ध पुरुष का पथ प्रदर्शक अन्ध होता है । उक्त उपदेश समूह आरोपित हैं, तत्त्व दृष्टि से नहीं, आत्मा त्रिगुणात्मक नहीं है,

भेद भी अज्ञान कृत है। पुरुष में वस्तुतः अज्ञान नहीं है, आत्मा ज्ञान घन में सदा प्रतिष्ठित हैं। स्वामिचरण के मत में—

मिथ्या तर्क सुकर्कशेरित महाबादान्धकारान्तरे,
भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दहिमंस्त्यज्ज्ञानवर्त्मास्फुटम् ।
श्रीमन्माधव वामन त्रिनयन श्रीशङ्कर श्रीपते,
गोविन्देति मुदा वदन् मधुपते मुक्तः कदास्यामहम् ॥

हे अमन्दमहिमन् ! अतीव उत्कृष्ट मिथ्यातर्कसुकर्कश उच्चारित महा बाद अन्धकार में भ्रमण परायण हेतु मन्द मतिजन ज्ञान पथ को परिस्फुट रूप से जानने में समर्थ नहीं हैं, अतएव हे मधुपते ! श्रीमन् माधव ! वामन ! त्रिनयन ! श्रीशङ्कर ! श्रीपते ! श्रीगोविन्द ! प्रीति पूर्वक इस प्रकार नामोच्चारण कर संसार मुक्त हो जाऊँगा ॥२५॥

श्रुतिरूपा आहुः—असतः पूतना कंस बकादेरपि त्वत् पार्षदरूपेण जनिं स्मरन्ति, सतोऽपि जयविजयादे मृ ति नाशं स्मरन्ति । आत्मनि ब्रह्म द्वितीयरूपे भिदां वैकुण्ठे सेव्य सेवकादि रूपेण भेदं स्मरन्ति, ऋत-मद्वय ब्रह्म विगत व्यवहार मात्र निर्विशेषरूपं च स्मरन्ति, 'पुमान् जीव स्त्रिगुणमयः ईशस्य मायया त्रिगुणाधिष्ठाता' इति भिदा त्वदबोधकृता, विशुद्धत्वत् स्वरूपा (भगवज) ज्ञान कृता इत्यर्थः । ते सर्वे त्वयि व्रजराज कुमारे आरोपितै भ्रमैरेवोपदिशन्ति, इति भिदा त्वयि न, यतोऽबोधकृता । परत्र त्वदन्यस्वरूपे स भवेत् । न ज्ञानैक स्वरूपे । त्वन्तु गोपकिशोर स्वरूपः । यद्वा त्वयि कथम्भूते ? ततः परत्र । असुरहन्ता न त्वम्, न च तस्य स्व पार्षद प्रदः, नवा त्वत् प्रियजनस्य भ्रंशः, न वा तव त्वदीयानां वा ब्रह्म विशेपत्वेनात्म विज्ञानम्, नवा तव त्वदीयानां च विशेषमाह—भानरहितावस्था प्रकाशः कदापि न वा त्वं त्वदीयाश्च प्रकृति गुण संसर्गं कदापि भजन्ते—शुद्धप्रेमैक रसमयत्वात् ।

नित्य गोप्यस्तु आहुः—ये असतो राधायां पुर्वमविद्यमानस्य भावस्ये-दानीं जनिं वदन्ति चन्द्रावल्याश्च सतो भावस्य राधा परिचयेन नाशं वदन्ति आत्मनि श्रीकृष्ण विग्रहे बाल्य, पौगण्ड कैशोर भिदाश्च ये

स्मरन्ति, विपणं व्यवहारश्च कृष्णस्य तवास्मदीश्वरी कण्ठ भूषणस्य व्यवहारान्न सत्यं वदन्ति ते भ्रमैरेवोपदिशन्ति। पुमान् त्वं त्रिगुणमयो बाल्य पौगण्ड किशोर गुणमय इति भिदा च त्वत् स्वरूपज्ञान कृता, राधायां त्वयि नित्य एव भावः, चन्द्रावल्यां पूर्वमपि न निर्भरः प्रेमा, राधाप्रियश्चसदाकिशोर एव व्यवहारान्तरानभिज्ञश्च, राधा सहितस्य गुणा एव तस्य नान्या इति त्वयि नापरत्र आश्चर्य किशोरचन्द्रे भवः। प्रेमा तन्मयबोध एव रसो यस्य, प्रेमैव बोधो यस्य स च रस रूपश्च। अवसन्ना बोधा ज्ञानान्तराणि यत्र एतादृश्यरसरूप इति वा ॥२५॥

श्रुतिरूपागोपी कहती है—असत पूतना, कंस, बकादि असुरगण तुम्हारे पार्षद रूप में जन्म प्राप्त करते हैं। सत् होकर भी जय विजयादि की मृति (नाश) होती है, ब्रह्म द्वितीय रूप आत्म स्वरूप वैकुण्ठ में भी सेव्य सेवक रूप भेद वर्त्तमान है, ऋत अद्वय ब्रह्म, विगत व्यवहार मात्र निर्विशेष रूप है, पुमान् जीव त्रिगुणमय है, ईश्वर मायिक गुण त्रयका अधिष्ठाता है, यह भेद अज्ञानकृत है, तुम्हारे विशुद्ध स्वरूप को न जानने से ही हुआ है। वे सब व्रजराज कुमार में आरोप द्वारा भ्रम से उपदेश करते हैं। तुम्हारे में वास्तविक भेद नहीं है, कारण भेद, अज्ञान से कहा जाता है, परत्र तुम्हारे अन्य स्वरूप में भी सम्भव नहीं है, ज्ञानमात्र स्वरूप में तो कहना ही क्या है? तुम तो गोपकिशोर स्वरूप हो, अथवा किस प्रकार हो? उससे पर हो, असुर हन्ता तुम नहीं हो, न तो उन सबको पार्षद गति प्रदान ही करते हो, और तुम्हारे प्रियजन का भी नाश नहीं है, तुम्हारे और तुम्हारे जनो का भी ब्रह्म विशेष रूप में आत्म विज्ञान भी नहीं होता है, तुम्हारी एवं तुम्हारे निज जन की कभी भी ज्ञान रहितावस्था नहीं होती है। कभी भी तुम और तुम्हारे जन प्रकृति गुण संसर्ग का भजन कभी नहीं करते हैं, सबके सब शुद्ध प्रेमैक रसमय स्वरूप हो।

नित्यगोपी कहती है—राधा में पहले जो भाव विद्यमान नहीं था वह भाव भी सम्प्रति दिखाई देता है, जो भाव चन्द्रावली में है, वह भी श्रीराधा के परिचय से नाश हो जाता है, आत्म स्वरूप श्रीकृष्ण विग्रह

में बाल्य पौगण्ड किशोर रूप भेद का स्मरण जो होता है, विपण, व्यवहार भी होता है, तुम कृष्ण हो, और मदीश्वरी का कण्ठ भूषण हो, इसमें भी जो लोक व्यवहारान्तर का विवरण कहते हैं, वह सब भ्रम से ही होते हैं। तुम पुरुष हो, त्रिगुणमय बाल्य पौगण्ड कैशोर गुणमय भेद भी तुम्हारे स्वरूप को जानने के कारण ही होता है। तुम्हारे में और राधा में नित्यभाव है, चन्द्रावली में पहले भी निर्भर योग्य प्रेम नहीं है। राधा प्रिय स्वरूप तो सदा ही किशोर है, व्यवहारान्तर को जानते भी नहीं राधा सहित गुण ही है, अन्य नहीं है, इस प्रकार तुम्हारे में सम्भव है, अपरत्व नहीं आश्चर्य किशोर चन्द्र में 'अवः' प्रेमा, प्रेमात्मक बोध ही रस है, प्रेम ही ज्ञान है, और रस रूप भी है, जहाँ पर ज्ञानान्तर है ही नहीं इस प्रकार रस रूप है ॥२५॥

सदिवमनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्,
सदभि मृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः।
नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया,
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयाऽवसितम् ॥२६॥

सान्वय व्याख्या

ननु यदि असन्नोत्पद्यते यदियं त्रिगुणमयः पुरुषः न भवति तर्हीदं प्रपञ्च जातं पुरुषश्च पृथक् नास्तीत्युक्तं स्यात् कथं तर्हि तयोः सत्त्वेन प्रतीतिरिति अत आह-मनः (मनोमात्र विलसितं) त्रिवृत् (त्रिगुणात्मकं) आमनुजात् (पुरुषमभिव्याप्य) इदं (विश्वं) असत् (एव) त्वयि (अधिष्ठानभूते) सदिव विभाति, आत्मविदः (आत्मतत्त्वज्ञास्तु) अशेषं इदं (भोक्तृ भोग्यात्मकं विश्वं) आत्मतया सत् अभिमृशन्ति (जानन्ति, आत्म कार्यत्वात् न पृथक् इत्यर्थः) हि (यतः) कनकस्य विकृतिं (कुण्डलादिकं) तदात्मतया कनक रूपत्वेन, कनकार्थिनः) न त्यजन्ति (परिहरन्ति, किन्तु स्वीकुर्वन्त्येव, अतः स्वकृतं इदं (विश्वं) अनुप्रविष्टं (पुरुषं च) आत्मतया अवसितं निश्चितं ॥२६॥

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—(अथान्या: काश्चित् गोवर्द्धन स्वरूप प्रियस्थान कथन प्रसङ्गे सर्वस्यैव श्रीभगवत् प्रियस्थानस्य सत्यताप्रति पादनेन तं स्तुवन्ति) मनुजात् आ (मनुष्यमभिव्याप्य स्थावर पर्यन्तं इदं विश्वं असत् मन: (मन: सदृशं अस्थिरं) तापत्रयावृतं आप त्वयि (अवतीर्णे इत्युह्य सत् सर्वोत्तमं) इव विभाति आत्मविद: (आत्मनि त्वां जानन्त: महात्मान: इदं अशेषं (मथुरा द्वारकादिकं तव स्थान) आत्मतया (चिद्रूप-तया हेतुना) सत् (सत्यं) अभिमृशन्ति (जानन्ति हि (यत:) कनकस्य विकृतिं (कुण्डलादिकं तदात्मतया कनकरूपत्वेन, कनकार्थिन:) न त्यजन्ति (न जहति, अत:) स्वकृतं (स्वयमेवाविर्भावितं) अनुप्रविष्टं (अचिन्त्याद्-भुतशक्तिना त्वया निरन्तर कृत प्रवेशं) इदं (त्वदीयस्थान आत्मतया अवसितं निश्चितं)।

मनोमात्रविलसित त्रिगुणात्मक यह मनुष्य अवधि समुदाय विश्व असत् होने पर भी अधिष्ठान भूत आ ामें सत् के समान प्रकाशित होते रहते हैं। और तत्त्व वेत्तागण यह भोक्तृ भोग्यात्मक अशेष विश्व को आत्मता के कारण सत् रूप को जानते हैं, कारण सुवर्ण प्रार्थी व्यक्तिगण, सुवर्ण की विकृति कुण्डल प्रभृति को सुवर्णत्व हेतु परित्याग न करके ही ग्रहण करते हैं, इस कारण से स्वकृत यह विश्व एवं विश्व में अनुप्रविष्ट पुरुष आत्म भिन्न अपर नहीं है, यह निश्चित है, अर्थात् यह समुदाय ही आप हैं, यह ही सिद्धान्त सिद्ध है ॥२६॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—और कुछ व्यक्ति गोवर्द्धन स्वरूप प्रिय स्थान के कथन प्रसङ्ग में श्रीभगवान् के समस्त प्रिय स्थान की सत्यता प्रतिपादन द्वारा श्रीभगवान् की स्तुति करते हैं। मनुष्य अवधि स्थावर पर्यन्त यह समुदाय विश्व असत् मन के समान अस्थिर एवं ताप-त्रय युक्त होने पर भी आप अवतीर्ण होने के पश्चात् सर्वोत्तम रूप से शोभित हैं, और तत्त्वज्ञ महात्मागण श्रीमथुरा, द्वारका सकल धाम को चिद्रूप होने के कारण सत्य मानते हैं, कारण स्वर्ण प्रार्थिजनगण स्वर्ण की विकृति कुण्डल प्रभृति को स्वर्ण होने के कारण ही परित्याग नहीं करते हैं, इस हेतु यह भवदीय धाम समूह आपके द्वारा आविर्भावित एवं आप

उसमें निरन्तर अवस्थान रत होने से यह सुतरां भवन्मय (अर्थात्) (यह आप ही) हैं यह निश्चित है ॥२६॥

प्रपञ्च एवं जीव मनो विलास मात्र है—

त्रयोदश-श्रुत्यभिमानी देवता स्तुति करते हैं—

प्रश्न—प्रपञ्च यदि उत्पन्न नहीं होता, पुरुष यदि त्रिगुणमय है, तब प्रपञ्च एवं पुरुष आत्मा से पृथक् नहीं है, कहना होगा। तब उन दीनों की पृथक् सत्ता की उपलब्धि कैसे होती है? उत्तर में कहते हैं,—(मनः) मनोमात्र विलसित एवं 'त्रिवृत्' त्रिगुणात्मक है।

'असत्' प्रपञ्च जात यद्यपि असत् है, तथापि 'सत्' 'इव' सत् की भाँति 'विभाति' प्रतीति होती है। क्यों प्रतीति होती है? 'त्वयि' तुम अधिष्ठान रूप में हो, इसलिए यह सब अधिष्ठान रूप तुम्हारे में प्रतीत होते हैं, अधिष्ठान की सत्ता से ही सत् के समान प्रतीति होती है।

क्या केवल इदङ्कारास्पद घटादि सत्ता का भान होता है? कहते हैं, 'आमनुजात्' आत्मा से लेकर अर्थात् असत् आत्मा का भी भान होता है, अहङ्कारास्पद जीव की पृथक् सत्ता की प्रतीति मनोविलास मात्र है। श्रुति (१) असतः अधिमनः असृजत। मनः प्रजापतिम् असृजत्। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनसि एव परमं प्रतिष्ठितः यत् इदम् किञ्च। अव्याकृत परमेश्वर से समष्टि रूप में मन उत्पन्न हुआ, मन ने प्रजापति को सृजन किया ब्रह्मा ने प्रजा की सृष्टि की, अतएव दृश्यमान जो कुछ वस्तु है, सब मनोभावापन्न अव्याकृति में प्रकृष्ट रूप से अवस्थित हैं।

आत्मज्ञ पुरुष की भी विश्व सत्ता की स्फूर्त्ति होती है? अतएव असत् किस प्रकार से सम्भव होगा? कहते हैं—'आत्मविदः' आत्मज्ञ व्यक्तिगण 'अशेषम् इदम्' भोक्तृभोग्यात्मक विश्व को आत्मतया आत्मरूपा हेतु सत् अभिमृशन्ति सत् में जानते हैं। विश्व, आत्मा का कार्य होने के कारण आत्मा से पृथक् नहीं है, जो कार्य जिस उपादान से होता है उसको उपादान से ही कहा जाता है, 'कनकस्य विकृति' कनक की विकृति कुण्डलादि हैं, कनकार्थी व्यक्ति उस विकृति को कनक बुद्धि से ग्रहण करता है, कारण तदात्मतया कनकरूपता उसमें है, अतएव आत्म ग्रहण

'स्वकृतम्' आत्मा ही इसका उपादान एवं अनुप्रविष्ट यह है विश्व 'आत्मतया परमात्म स्वरूप में 'अवसितम्' निश्चय करते हैं। स्वामिचरण कहते हैं—

यत् सत्त्वतः सत् आभाति जगत् एतत् असत् स्वतः सदा भासं असत्सि अस्मिन् भगवन्तम् भजामि तम्। यह जगत् 'स्वतः' असत् अर्थात् स्वरूप में असत् होने पर भी तुम्हारी सत्ता से सत् की भाँति प्रतीत होता है। इस असत् संसार में सदा प्रकाशमान भगवान् का मैं भजन करूँ॥२६

श्रुतिरूपा आहुः — त्वयि त्वद्विषये त्रिवृन्मनः त्रिभिर्द्वारिका, मथुरा, व्रजविलासरूपेण तव वर्त्तनम् ईदृङ्मनो मननमसदेव भाति आमनुजात् भूत, भवद् भावि समस्तार्थ मननात् मनुरीश्वरस्तस्माज्जातो हिरण्यगर्भ स्तमभिव्याप्य सर्वे एव जानन्ति, य एव द्वारकायां स एव मथुरा गोकुलयोरिति। वस्तुतस्त्वं शुद्धप्रेमरसशक्ति विलासि व्रजेश्वरीगर्भ सम्भवोऽत्यएव। तर्हि किं तत्त्रयैक्यं मिथ्यैव तथा च पुराणादि विरोधः? तत्राह सदिति। इदमशेषं स्थानत्रयविहार स्वरूपं सदेव जानन्ति। कुतः आत्मतया सर्वात्मभूतं यदद्वितीय परिपूर्ण स्व प्रकाश चिदानन्दैक रस परब्रह्म तन्मयतया। ब्रह्ममयत्वेऽपि विशेषमाह, कनकस्य विकृति विशिष्टा अतिमनोहरा कृति निर्माणं यस्य तत् कुण्डलादिनैवत्यजन्ति, कनकं त्यक्त्वापि बहुतरसंस्थान विशेषरागिणोऽङ्गद कुण्डलाद्येव गृह्णन्ति। तत्र तत्रापि महात्त्वान्तरूप चमत्कारा वेशोपाद्यतेति।

नित्यगोप्यस्तु आहुः—त्रिषु पितृ-मातृ सुहृदादिषु चन्द्रावल्यादि गोप सुन्दरीषु श्रीराधायाश्च वर्त्तमानं मनस्त्वयि असदपि सदिव भाति, श्रीराधायामेव हि मनः परमासक्त्या वर्त्तते, अन्यत्र वहिरेव, इदमशेषमपि सत् उत्कृष्टमेवान्यतः सर्वतः प्रेमविलासात्। तत्र हेतु आत्मतया तवात्मतया श्रीमूर्तितया तदवस्थत्वेनेत्यर्थः। किञ्च, सर्वासु अवस्थास्वन्तः श्रीराधाविष्टमेव तवान्तः करणम्, नहि तदवस्थाः कनकस्य विकृतिः पुत्तलिका तत्तुल्यां राधिकां त्यजन्ति सर्वं व्यवहारेष्वपि त्वदन्तः श्रीराधा न त्यजतीत्यर्थः। तदात्मतया राधायामेवात्मा यस्य तत्त्वेन राधात्मकतया वा राधाविष्टरूपमेव हि धर्मि धर्मास्त्वन्ये साक्षात् परम्परया वा तस्यैव सर्वशक्तितश्च प्रेमशक्तिरेव परीयसी, आनन्दाविर्भावक त्वात्

आनन्दस्यैव परमोपादेयत्वात् (तै० २।७।१) कोह्येवान्यात् इति श्रुतेः, तत्रापि शुद्धाप्रेमशक्तितो महानन्दरसाविर्भाववत्त्वात् तत्राप्यादिभावात्मिका अतिपरमा, तत्रापि राधैकान्त सख्यभावेन परमकाष्ठा अतो राधाभावमग्न रूप एव धर्मीति। इदं राधारसाविष्टं तव स्वरूपमेव स्वकृतं स्वस्मिन् कृतमवस्थाभेदमनुप्रविष्टमवसितम्, निश्चितमस्माभि, आत्मतया धर्मितया ॥२६॥

श्रुतिरूपा कहती है—त्वयि, तुम्हारे विषय में त्रिवृन्मन द्वारका मथुरा व्रजविलासि रूप में तुम्हारी स्थिति इस प्रकार मनन असत् होने पर भी सत्य रूप से प्रतिभात होता है, आमनुजात्-भूत वर्त्तमान भविष्यत् समस्त मननशीलता हेतु मनु ईश्वर हैं, उससे उत्पन्न हिरण्यगर्भ है, उनसे लेकर सब ही जानते हैं, जो ही द्वारका में है, वह ही मथुरा गोकुल में भी है, वस्तुतः तुम शुद्ध प्रेमरस शक्ति विलासी व्रजेश्वरी गर्भोत्पन्न अन्य ही हो। तब क्या उन तीनों की एकता मिथ्या है, ऐसा होने पर पुराणादि के साथ विरोध होगा। उत्तर में कहते हैं—यदिति यह अशेष स्थान के विहार को सत् ही जानते हैं, कैसे ? आत्मतया-सर्वात्मभूत जो अद्वितीय परिपूर्ण स्वप्रकाश चिदानन्दैक रस परब्रह्म है, उस रूप से जानते हैं। ब्रह्ममय होने पर भी कुछ विशेष है, वह इस प्रकार है, कनक की विकृति विशिष्ट अति मनोहर निर्माण युक्त कुण्डलादि को परित्याग नहीं करते हैं, किन्तु कनक को परित्याग करके भी अनेक प्रकार विचित्र संस्थान युक्त के प्रति अनुरागी व्यक्तिगण अङ्गद को ही लेते हैं, उसमें ही महान् अवान्तर रूप एवं चमत्कार आवेश प्राप्त होने की सामग्री मिलती है ॥२६॥

नित्यगोपी कहती हैं - त्रिषु, पिता, माता सुहृद् प्रभृति में एवं चन्द्रावली आदि गोपसुन्दरी प्रभृति में श्रीराधा में वर्त्तमान मन तुम्हारे में वर्त्तमान मन तुम्हारे में असत् होने पर भी सत् की भाँति दिखाई देता है, श्रीराधा में ही मन, परमासक्ति से रहता है, अन्यत्र बाहर भाव से ही रहता है, यह सब ही सत् उत्कृष्ट ही है, किन्तु प्रेम विलास ही सर्वश्रेष्ठ है, उसमें हेतु-आत्मतया, तुम उसमें ही स्वीय मूर्त्ति में अवस्थित होते हो।

और भी सब अवस्था में ही तुम्हारी अन्तःकरण राधाविष्ट होकर ही रहती है, उस अवस्था को अन्तःकरण छोड़ती नहीं है, राधा ही कनक की विकृति पुत्तलिका है, उसको कैसे छोड़ सकती है ? सब व्यवहार में ही तुम्हारा अन्तर श्रीराधा में पड़ा हुआ रहता है, कभी भी नहीं छोड़ता है। तदात्मतया राधा में ही जिसकी आत्मा है, राधात्मक होकर रहते हो, राधा रसाविष्ट ही धर्मी है, अन्य सब धर्म हैं, यह कहीं साक्षात् रूप से और परम्परा से होता है। सर्वशक्ति से राधा शक्ति ही सब प्रकार से वरीयसी है, और आनन्द ही परमोपादेय पदार्थ है। तैत्तिरीयकोपनिषद् में को ह्येवान्यात् प्रकरण में इसका विशद् विवरण है। उसमें भी शुद्धाप्रेमशक्ति से ही महा रसानन्द का आविर्भाव होता है, उसमें आदि भावात्मिका अति परमा है। उसमें भी राधा के साथ सख्यभाव में उसकी पराकाष्ठा है, अतएव राधा भाव मग्न रूप ही धर्मी है। यह राधा रसाविष्ट तुम्हारा स्वरूप है, इसको हम सबने निज कृत अवस्था में मन को प्रवेश कराकर ही निश्चय किया है। आत्मतया शब्द का अर्थ है, धर्मी रूप से ॥२६॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया,
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्यशिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां,
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥२७

सान्वय व्याख्या

ये अखिल सत्त्व निकेततया (अखिलानि सत्त्वानि निकेतो यस्य सः तथा तस्य भावः तथा, सर्वभूतावासतया इत्यर्थः) तव (त्वां इत्यर्थः) परिचरन्ति, ते उत (एव) अविगणय्य (तिरस्कृत्य) निर्ऋतेः (मृत्योः) शिरः (अभक्ताः) विबुधान् (शास्त्रज्ञान्) अपितान् (अभक्तान्) पशून् इव गिरा (वाक्यरूपरज्ज्वा) परिवयसे (त्वं बध्नासि) त्वयिकृत सौहृदाः (कृतं सौहृदं प्रेम यैस्तथोक्ताः) खलु (निश्चितं) पुनन्ति (आत्मानं अन्यान् अपि पवित्रयन्ति, न इतरे) ॥२७॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—(ननु कंसाद् भयेन वने निलीय वसतो मे किमियमनिस्तुति: क्रियते इत्याशङ्क्य कंसात्ते भयं तावत् दूरे अस्तु साधारणा अपि त्वत् सेवका: मृत्योरपि न बिभ्यतीत्याहु:) अखिल सत्त्व निकेत ? (हे सम्पूर्ण शुद्ध सत्त्वाश्रय !) ये (जना:) तथा (प्रसिद्धया त्वत् प्रेयस्या सह) तव (त्वामित्यर्थ:) परिचरन्ति ते उत अविगणय्य निर्ऋते: शिर: पदा आक्रमन्ति (मृत्योरपि न बिभ्यतीत्यर्थ:) ये विमुखा (अभक्ता:) विबुधान् अपितान् पशून् इव गिरा परिवयसे, त्वयिकृते सौहृदा: (प्रेमवन्त: कालिन्दी प्रभृतय:) खलु निश्चितं पुनन्ति (भुवनानि पवित्रयन्ति ।।२७।।

जो जन सर्वभूतावासत्वरूप में आपकी सेवा करते हैं, वे सब ही मृत्यु को तिरस्कार कर मृत्यु के मस्तक पर पदाघात कर सकते हैं, अर्थात् मृत्यु को अति तुच्छ मानकर मुक्त हो सकते हैं। और जो लोक अभक्त हैं, वे लोक शास्त्रज्ञ होने पर भी आप सबको पशु की भाँति वाक्य रज्जु के द्वारा बन्धन करते हैं, वस्तुत: भगवद्भक्त व्यक्तिगण ही अपने को एवं अन्य को पवित्र करते हैं, अभक्तगण अपने को पवित्र करने में असमर्थ हैं ।।२७।।

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—हे गोपीभाव प्राप्त श्रुतिगण, कंस के भय से वन में पलायनरत मुझको तुम सब क्यों स्तुति कर रही हो ? कृष्ण के इस प्रकार कथन का अनुमान कर श्रुतिगण कहती हैं, कंस से आपकी भय की बात दूर है, आपके भक्त लोक मृत्यु से भयभीत नहीं होते हैं। हे सम्पूर्ण शुद्ध सत्ताश्रय ! प्रसिद्ध भवत् प्रेयसी के साथ आपका भजन जो लोक करते हैं, वे लोक ही मृत्यु को तिरस्कार कर उसके मस्तक पर पदाघात करते हैं। अर्थात् मृत्यु से भीत नहीं होते हैं। और जो लोक अभक्त हैं, पण्डित होने पर भी उन सबको आप पशु के समान वाक्य रज्जु से आबद्ध करते हैं। और आपकी प्रिया श्रीकालिन्दी प्रभृति निश्चय ही भुवन समूह को पवित्र करती रहती हैं ।।२७।।

प्रश्न—(१) सत्यं ज्ञानं अनन्तम् ब्रह्म। ब्रह्म सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप हैं। (२) नेह नानास्ति किञ्चन। अनेक नहीं हैं, आप एक ही हैं। (३) मृत्यो: स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति।

भेद दर्शनकारी व्यक्तिगण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उक्त श्रुतियों से सच्चिदानन्द भगवान् प्रतिपादित हुए हैं, अतएव उक्त भगवद् ज्ञान सुलभ होने पर भक्ति की आवश्यकता क्या है ?

उत्तर—उपासनारत व्यक्तिगण ही मृत्यु से उद्धार प्राप्त होते हैं, एवं आत्मा को तथा अन्य को पवित्र करने में समर्थ हैं, आपकी वैसी क्षमता नहीं है। श्रुति इस प्रकार है—

(१) तस्य वाक्तन्तिः नामानि दामानि। तस्य इदम् वाचा तन्त्या नामभिः दामभिः सर्वं सितम् 'तस्य' ईश्वर के 'वाक्य' वेद रूप वाक्य 'तन्ति' बन्धन के लिए महारज्जु 'नामानि दामानि' ब्राह्मणादि नाम 'दाम' अर्थात् बन्धन साधन है, 'नामभिः दामभिः' दाम स्थानीय ब्राह्मणादि नाम द्वारा। इदं सर्वं ये सव 'सितम्' बद्धः। अर्थात् अमुक तुम ऐसा करो। इस प्रकार आज्ञा से बद्ध है। श्रुतिगण आत्मा को प्रतिपादन करती है, एवं इससे प्रत्यक्ष ज्ञान भी उत्पन्न होता है। किन्तु असद् भावना विपरीत भावना हेतु वह ज्ञान तिरोहित होता है, इसलिए मलिन चित्त में वह ज्ञान परोक्षमात्र ही होता है, एवं उस परोक्ष ज्ञान की शक्ति साक्षात् संसार भ्रम नाश करने के लिए समर्थ नहीं है। किन्तु भगवान् की परिचर्या द्वारा जिसका चित्त सम्यक् रूप से अमल हुआ है, उनकी प्रसन्नता से अपरोक्ष ज्ञान प्राप्तकर अनायास ही मोक्ष करतलगत होता है। श्रुति इस प्रकार है—

(१) य इह स्थातुम् अपेक्षते सर्वैश्वर्यं ददाति। यत्र कुत्रापि म्रियेत तत् तस्य देहान्ते देवं परमब्रह्म तारकं व्याचष्टे येन अमृतो भूत्वा स अमृतत्त्वं गच्छति, जो उपासक इस जगत् में रहना चाहता है, उसको श्रीनृसिंहदेव सब ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। वह उपासक की मृत्यु यदि म्लेच्छ प्रदेश में भी होती है तो श्रीनृसिंहदेव प्रणव प्रदान करते हैं। परब्रह्म कथन हेतु श्रोता अमृत होकर कैवल्य प्राप्त करता है।

(२) न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यः, न मेधया न बहुना श्रुतेन, यम् एव एषः वृणुते तेन लभ्यः। यह आत्म लाभ, शस्त्राध्ययन से बहुश्रुत होने पर भी नहीं होता है, जो उपासक अनन्य भाव से उपासना करता है

वह भजन हेतु आत्म लाभ करता है, अन्य साधन से नहीं है, अथवा हरि परितुष्ट होकर जिसको आत्मसात् करते हैं, वह श्रीहरि को प्राप्त करता है, अपर व्यक्ति नहीं ।

(३) यस्य देवे पराभक्तिः यथादेवे तथा गुरौ, तस्य एते कथिता अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' जिसका अनुराग परमेश्वर के प्रति फलाभिशून्य होकर होता है, जिस प्रकार परमेश्वर में ठीक उसी प्रकार गुरु में यदि भक्ति होती है, तब श्वेताश्वतर ऋषि कथित पदार्थ का स्फुरण उसका ठीक ठीक होता है ।

स्वामिचरण कहते हैं—तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतात् अटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान् यजन्तु यागैः विवदन्तु वादैः, हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति । पञ्चाग्नि तपस्या, भृगुपात, तीर्थभ्रमन, आगम पाठ, यागानुष्ठान, शास्त्र-चर्चा करने पर भी श्रीहरि भजन को छोड़कर मृत्यु से उद्धार प्राप्त होना सम्भव नहीं है ॥२७॥

श्रुतिरूपा आहुः—ये तव त्वां परिचरन्ति अखिलं पूर्णं सत्त्वं भगवद् भक्तत्व यत्र राधानुरागिण्येव कृष्णचन्द्रे या शुद्धारतिः, सैव सर्वभक्ति रसेभ्य उत्कृष्टा, यतोऽखिलस्य सत्त्वं यत्रेति वा । सत्त्वमुत्कृष्टत्वं ते निर्ऋते ज्ञानमार्गस्य ज्ञानमिश्रभक्ति मार्गस्य वा शिरः पदा आक्रमन्ति, अखिलं सत्त्वतया निर्ऋतेरिति वा । तान् विविधानपि त्वं पशूनि परिवयसे, सप्रेम बद्धान् करोषीत्यर्थः गिरा । गृणाति मोहनशब्दं करोतीति गीर्वशी तथा (भा० १०।३५।१५) शक्रसर्व परमेष्ठि पुरोगाः इत्युक्तेः, त्वत् प्रेम विवशानां गिरा कीर्त्तनेन वा तत्रहेतुः-त्वयि कृतसौहृदास्त्वयि कृतप्रेमाणः खलु निश्चयेन पुनन्ति, विशुद्धभावप्रतिबन्धकाघनाशनमेव पवित्रकरणम् (भा० १०।३०।२६) यान् ब्रह्मेशो रमादेवी दधुर्मूर्द्धन्यघनुत्तये अघं तदेव । येन भाग्य विशेषेण त्वयि शुद्धानुरागो न जायत इति ये त्वद्विमुखा स्तेन पुनन्ति । त्वद्भावनिष्ठ सङ्गादि महिम्ना ज्ञाननिष्ठज्ञानमिश्रभक्तिनिष्ठा अपिशुद्ध प्रेमरस वर्त्मनि प्रविशन्तीति भावः ।

नित्यगोप्यस्तु आहुः—अखिलेभ्यः सत्त्वमुत्कृष्टत्वं नयति प्रापयति कमेकान्त सख्य सुखं यस्यास्तया इततया सङ्गततया ये त्वां परिचरन्ति

नहि राधैकान्त भक्तय स्त्वामपि स्वातन्त्र्येण सेवन्ते, ते च राधापरि-जनानिःशेषेण निश्चयेन ऋतिः त्वत्प्राप्ति र्यस्य गोप्यादे स्तस्यापि शिरः पदा आक्रमन्ति, अविगणय्य अवहेलया अति सौभाग्यभरेणान्यान् त्वदनु-रागिणस्तुच्छयतीत्यर्थः यद्वा, ये राधाशरणागतया तव परिमनोरथ पूरके प्रीति कर्त्तरि वृन्दावने चरन्ति वर्त्तन्ते तेनिर्ऋ तेस्तवापि शिरः पदा आक्रमन्ति निर्गता ऋती राधायाः प्राप्ति र्यस्य, राधाया अप्राप्ति दशायां कामानुरततया तदन्य भावानां परिजनानामपि त्व राधा प्रसादनाय पदेलुठच्छिखण्ड मुकुटो भवसीत्यर्थः। तांश्च त्वं पशूनपि परितो वयसे गच्छसि, सङ्गता भवसि, गिरा मधुर मधुरानुनय वाचा देवानिव विज्ञतरा निवेति वा, अत्यन्ताभ्यर्थनां करोषीत्यर्थः। राधाप्रियसख्यरससतृप्तानां निष्ठामाहुः-कृत सौहृदाः सुहृद्रो राधाया इदं सौहृदम्, कृतं राधाया एव त्वन्मिलनादि याभिस्ताः, त्वयि नयेऽपि क्रीड़ार्थ कुञ्जान्त र्बलान्नयत्यपि विमुखास्त्वत् सङ्गे विमुखाः, राधया सह त्वत सङ्गमेव बहुमन्यमानाः पुनन्ति। श्रीराधानुगतिं शोधयन्ति-कृष्णसङ्गेच्छाया अपित्यक्तत्त्वात्

श्रुतिरूपा गोपी कहती है—जो जन तुम्हारी परिचर्या करते हैं, अखिल पूर्ण सत्त्व भगवद् भक्तों की आधारभूत श्रीराधानुरागी कृष्णचन्द्र में जो शुद्धा प्रीति है वह ही सर्वभक्ति रस से उत्कृष्ट है, कारण उसमें ही निखिल प्राणियों के प्रति अममोर्द्ध अनुकूल भावना विद्यमान है, अतः उक्त परिचर्याकारीगण श्रेष्ठ होते हैं। वह ही उत्कृष्ट सत्त्व स्वरूप हैं, वे लोक निर्ऋत रूप ज्ञान मार्ग के एवं ज्ञान मिश्रित भक्तिमार्ग के मस्तक पर पैर रखते हैं। अखिल विशुद्ध ज्ञान पूर्ण होने के कारण ही वैसा करते हैं। वे लोक विविध प्रकार के होने पर भी तुम उन सबको पशु के समान बाँधते हो, अर्थात् अपना प्रेम रज्जु से आबद्ध करते हो, मोहन शब्द करती है, अतः वंशी कही जाती है, (भा०'१५।३५) 'शक्रसर्व, परमेष्ठि पुरोगाः' इस कथन से इन्द्रादि देवगण भी वंशीनाद से विभोर हो जाते हैं, तुम्हारी प्रेम विवशता की वाणी से अथवा उसके कीर्त्तन से वह सबको मुग्ध करती है, उसमें हेतु तुम्हारे साथ प्रेम वाले ही सुनिश्चित पवित्र होते हैं, विशुद्ध भाव का प्रतिबन्धक ही अघ पाप होता है, उसका नाश

प्रेम करता है, और इससे व्यक्ति सुपवित्र होता है, (भा० ३०।२९) यान् ब्रह्मेशो रमादेवीदधुर्मूध्नर्यघनुत्तये इत्यादि वचन से अघ वह ही है। जिस भाग्य विशेष से तुम्हारे प्रति शुद्धानुराग नहीं होता है, इस प्रकार जो जन विमुख होते हैं, वे सब पवित्र नहीं होते है, तुम्हारे भावनिष्ठ व्यक्ति के सङ्ग की महिमा से ज्ञाननिष्ठ, ज्ञान मिश्रित निष्ठ व्यक्तिगण भी शुद्ध प्रेमरस मार्ग में प्रविष्ट होते हैं।

नित्यगोपी कहती है—समस्त वस्तुओं से उत्कृष्टत्व प्रदायक जिनका सख्य सुख है, ऐसी श्रीराधा के साथ ही जो जन तुम्हारी परिचर्या करते हैं, वे ही उत्कृष्ट होते हैं। श्रीराधा के एकान्त भक्तगण तुम्हारी सेवा भी स्वातन्त्र्य से नहीं करते हैं। वे लोक राधा के परिजन होते हैं, जो सब गोपी स्वतन्त्र रूप से तुम्हारी सेवा में रत हैं, उन सबके प्राप्ति साधन के प्रति एवं उन सब गोपियों के प्रति अवहेलना करते हैं, अति सौभाग्य से अन्य अनुरागीजनगण की भी अवहेला करते है। अथवा जो जन श्रीराधा शरणागत होकर तुम्हारे मनोरथ पूर्णकारी प्रीतिशील श्रीवृन्दावन में निवास करते हैं, वे लोक निर्ऋति, श्रीराधा विरह प्राप्त जिसकी राधा की प्राप्ति नहीं हुई है, वह निर्ऋति है, ऐसे तुम हो, वे सब तुम्हारे शिर को पैर से स्पर्श करते हैं। श्रीराधा की प्राप्ति जब नहीं होती है, तब तुम काम से विभोर होकर श्रीराधा के अनन्य परिजनों के चरणों में राधा को प्रसन्न करवाने के लिए शिखण्ड मुकुट के साथ ही लोट लगाते रहते हो, तुम उन सबके सङ्ग प्राप्ति सब प्रकार से कर लेते हो, जिस प्रकार स्वार्थी लोक पशु को प्राप्त करते हैं, मधुर अनुनय वचन से जिस प्रकार देवता की स्तुति की जाती है, विज्ञतर की स्तुति की जाती है, अतिशय प्रसन्न बनाने की चेष्टा करते हो, सम्मान, दान मान, पूजा करते हो, किन्तु राधाप्रिय सख्यरस संतृप्त की निष्ठा भी विलक्षण है, कृत सौहृदाः, राधा के प्रति सोभन हृदय है, जिन्होंने श्रीराधा के साथ तुम्हारे मिलन कार्य सम्पादन किया है, उन सबको बलपूर्वक अनुनय विनय पूर्वक क्रीड़ा हेतु कुञ्ज में ले जाने पर भी वे सब ही तुम्हारे सङ्ग में विमुख होते हैं, राधा के साथ तुम्हारे जो सङ्ग होता है, उसको ही वे सब बहुमान प्रदान करते

हैं, अपने को पवित्र करते हैं, श्रीराधानुगत्य को परिस्कृत करते हैं, कृष्ण सङ्ग की इच्छा भी वे लोक परित्याग करते हैं, अपर की निष्ठा को इस प्रकार शिक्षा का आदर्श मानकर उज्ज्वल आदर्श स्थापन करते हैं ॥२७

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर,
स्तवबलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिवविश्वसृजो,
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥२८॥

सान्वय व्याख्या

(हे भगवन् !) त्वं अकरणः (इन्द्रियसम्बन्धरहितः अपि) अखिल कारक शक्तिधरः (अखिलानां प्राणिनां यानि कारकाणि इन्द्रियाणि तेषां शक्तीः धारयति प्रवर्त्तयतीति तथा भवसि यतः) स्वराट् (स्वयम्प्रकाशमानः) वर्षभुजः (खण्डमण्डलपतयः) अखिलक्षितिपतेः (महामण्डलेश्वरस्य) इव अनिमिषाः (देवाः) विश्वसृजः (ब्रह्मादयः च) अजया अविद्या वृताः सन्तः तव बलिं उद्वहन्ति (पूजांकुर्वन्तीत्यर्थः) समदन्ति (मनुष्यैर्दत्तं हव्यकव्यादि लक्षणं बलिं भक्षयन्ति च)। यत्र येतु अधिकृताः (नियुक्ताः ते) भवतः चकिताः (भीताः सन्तः) विदधति (तत्तत्कर्म कुर्वन्ति) ॥२८॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—(श्रीभगवतोऽवश्यसेव्यता प्रतिपादनाय श्रीब्रह्मादीनामपि सेव्यत्वमाहुः) अजय ! (हे अजित !) त्वं अकरणः (क्रियारहितः अपि) अखिल कारक शक्तिधरः (विश्वसृजांशक्तिधरः भवसि, यतः) स्वराट (स्वेन स्वरूप भूतचिच्छक्ति विलासेन रासक्रीड़ा दिना राजसे इति तथा) वर्षभुजः अखिलक्षितिपते, इव विश्वसृजः ब्रह्माद्याः अनिमिषाः (देवाः) तव बलिं उद्वहन्ति (सेवां कुर्वन्तीत्यर्थः) समदन्ति (मानवैर्दत्तं पूजोपहारं भक्षयन्ति च) यत्र यस्मिन् ऐश्वर्ये ये (ब्रह्मादयः) तु अधिकृताः (ते भवतः चकिताः (भीताः सन्तः) विदधति (तेन ऐश्वर्येण भवतः सेवां कुर्वन्तीत्यर्थः) ॥२८॥

हे भगवन् ! आप इन्द्रिय सम्बन्ध रहित होकर भी अखिल प्राणियों की इन्द्रिय शक्ति का प्रवर्त्तक हैं, कारण आप स्वय प्रकाशमान हैं। जिस

प्रकार खण्डमण्डल के अधिपतिगण महामण्डलेश्वर की पूजा करते हैं एवं निज प्रजागण द्वारा प्रदत्त वस्तु का उपभोग करते हैं, उस प्रकार देवगण एवं श्रीब्रह्मा प्रभृति अविद्या परिवृत होकर आपकी पूजा करते हैं, एवं मनुष्य प्रदत्त हव्य कव्यादि लक्षण भोग्य सामग्री का उपभोग करते हैं। और आप जिस कार्य में जिसको नियुक्त किये हैं, वे सब आपके भय से भीत होकर अवहित चित्त से ततत् कर्म सम्पादन करते हैं ।।२८।।

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—श्रीभगवन् की अवश्यसेव्यता प्रतिपादन के लिए आप श्रीब्रह्मादि के सेव्य हैं, कहते हैं—हे अजित ! आप क्रिया रहित होकर भी विश्व स्रष्टागण के शक्तिधर हैं, कारण आप स्वरूपभूत चिच्छक्ति विलास अर्थात् रस क्रीड़ादि द्वारा शोभायमान हैं। जिस प्रकार खण्ड मण्डल के अधिपतिगण अखिल मण्डलाधीश्वर की सेवा करते हैं, एवं स्व प्रजागण कर्त्तृक प्रदत्त भोग्य वस्तु का उपभोग करते हैं, उस प्रकार श्रीब्रह्मा प्रभृति देवगण आपकी पूजा करते रहते हैं, एवं मानव प्रदत्त पूजोपहार उपभोग करते हैं। और आप जिस ऐश्वर्य में श्रीब्रह्मा प्रभृति को नियुक्त किये हैं, वे सब आपके भय से भीत होकर उस ऐश्वर्य के द्वारा आपकी सेवा करते हैं ।।२८।।

भगवान् सर्वसेव्य हैं—पञ्चदश श्रुत्याभिमानिनी देवता स्तुति करते हैं, श्रुति—(१) अपाणि पाद: जवन: ग्रहीता, पश्यति अचक्षु: स शृणोति अकर्ण: ! स वेत्तिवेद्यं, न च तस्य वेत्ता, तम् आहु: अग्रय पुरुषं पुराणम्। श्रीहरि, हस्त न होने पर भी ग्रहण कर सकते हैं, चरण न होने पर भी गमन कर सकते हैं, चक्षु न होने पर भी देख सकते हैं, कर्ण न होने पर भी सुन सकते हैं, आप वेद्य होकर भी सब जानते हैं, उनको जानने वाला कोई नहीं है, उनको अग्र पुराण पुरुष कहा जाता है।

श्रुति—(२) प्राणस्य प्राणम् उत चक्षुष: चक्षु: उत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनस: ये मन: विदु: ते निर्विचिक्यु: ब्रह्म पुराणम् अग्यम्। आप प्राणों के प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन हैं, जो लोक आपको जानते हैं, उनकी भाषा में आप पुराण अग्रय हैं। जो लोक जिस अधिकार में श्रीहरि के द्वारा नियुक्त हैं, वे लोक अधिकारोचित कर्म पालन में रत

हैं, श्रीहरि की आज्ञा पालन ही उद्वहन् है, आज्ञा धारण ही मुख्य सेवा है।

श्रुति—(३) 'भीषा अस्मात् वातः पवते, भीषा उदेति सूर्यः, भीषा अस्मात् अग्निः च इन्द्रः च मृत्यु र्धावति पञ्चमः' ईश्वर की भीति से वायु प्रवाहित होती है, सूर्य उदित होता है, अग्नि इन्द्र निज कर्त्तव्यरत हैं। पञ्चम जो मृत्यु है, वह भी आपके भय से कालवश प्राप्त प्राणिगण को लेकर सर्वत्र विचरण करती है।

स्वामीचरण के मत में—

अनिन्द्रियोऽपि यो देव सर्वकारक शक्तिधृक्।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम् ॥

जो अनिन्द्रिय होकर भी सर्वेन्द्रिय शक्तिधर हैं, वह द्योतनात्मक पुरुष सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता सर्वसेव्य हैं, उनको प्रणाम करता हूँ ॥२८॥

श्रुतिरूपा आहुः—अखिलकर्त्ता भगवान्नारायण स्तस्यापि शक्तिं त्वमेव धारयसि, त्वदाश्रितमहाशक्त्या तत्तच्छक्ति स्वीकारस्तस्य, त्वच्छक्ति श्चेन्नधारयति, तदा सोऽपि कुण्ठित शक्ति र्भवतीति भावः। अकरणो. निजमहाशक्तिप्रवर्त्तनादिरहितः, त्वत् सन्निधानादेव त्वन्महाशक्तिः स्वयमेव प्रवर्त्तत इत्यर्थः। तत् कुतः ? स्वैर्भक्तैः सह राजते निज निज परम महैश्वर्य्येऽर्थ दृष्टिरित्यर्थः। सर्वे अनिमिषा अलुप्तज्ञानशक्त्या भगवतस्तव बलिमुद्वहन्ति, आज्ञां कुर्वन्ति समदन्ति सम्यगदन्ति च, नित्य निरवद्यत्वेन सदास्वानन्द तृप्तत्वेऽपि ब्रह्मादि समस्त देवमुनि वर्यादि कृत-स्तुत्यादि श्रवण सुखमनुभवन्तीत्यर्थः। अजया त्वच्छक्त्या विश्वसृजो भगवतो भीताभवदाश्रितमहाशक्तितो भयाकुलाः, को वेद किं करोतीति।

नित्य गोप्यस्तु आहुः—त्वमकरणो राधाविरहे सर्वेन्द्रिय वृत्ति रहितो राधादर्शनादिकं विनेष्ट क्रियान्तर शून्य इति वा स्वराजा श्रीराधयैव सत्त्वया कृत्वा अखिलानामिन्द्रियाणां शक्तीर्धास्यति। तथा स्वस्य राट् दीप्तिर्यतः, स्वस्य नियन्त्रीति वा। अनिमिषा गोप्यः, अजया राधयासह अजति क्षिपति लावण्य वैदग्ध्यादिभिरन्या इति अजा राधा। न जायते

इति वा, सा हि नित्य किशोरी तत्र बलिं पूजां कुर्वती, यद्वा, अजया गुणैरजया न विद्यते जया उत्कर्षवती अस्या इति वा। तया राधया सह निमिषन्ति स्पर्द्धन्ते या श्चन्द्रावल्याद्यास्तव बलिमुद्वहन्ति, सङ्गार्थ मिति-शेष:। सङ्गत्य अदन्ति, त्वां भुञ्जते च तव कथम्भूतस्य ? अखिला क्षिति वृन्दावन भूस्तत् सतातेः श्रीराधिकाया वर्षभुजः परमसुखवर्षभागिनो राधाया विश्वसृज इव वृन्दावनगत रसविलासानां स्वं स्रष्टा इव ये परिजना यत्र अधिकृताः कुञ्जपरिष्कार गन्धस्रगाभरण निर्म्माणादौ ते तदेव स्वस्यकार्यं विदधति, चकिता भीता भवतः प्रेमतः सन्ततं भवन्त्येव, नतु विच्छिद्यन्ते भवतः। विश्वेसृज इति तव समस्त कार्याद्यु-त्कर्षस्य सैव स्रष्टृ, तत् सन्निधावेवाविर्भावात् ॥२८॥

श्रुतिरूपा कहती है—अखिलकर्त्ता भगवान् नारायण हैं, उनको शक्ति प्रदान तुम ही करते हो, तुम्हारी आश्रिता महाशक्ति के द्वारा ही उनमें शक्ति होती है। तुम्हारी आश्रित शक्ति का अवलम्बन प्राप्त न होने पर श्रीनारायण की सृष्ट्यादि कार्य करने में शक्ति कुण्ठित होती है। अकरण हो, निज महाशक्ति के प्रवर्त्तनादि कार्य रहित हो। तुम्हारे सन्निधान से ही तुम्हारी महाशक्ति स्वयं ही कार्य क्षेत्र में प्रवृत्त होती है, वह कैसे होता है ? निज भक्तगण के साथ ही विराजित हैं, निज परम महैश्वर्य में प्रयोजन दृष्टि भक्त विनोदन के लिए होती है। सकल अनिमिष अलुप्तज्ञान शक्तिगण भगवान् आपकी बलि प्रदान करती हैं, आज्ञा पालन करती हैं, सर्वथा सेवा सुख का आस्वादन करती हैं। निरवद्य सदा निज आनन्द आस्वादन तृप्त होने पर भी ब्रह्मादि समस्त देवमुनि वर्षादि कृत स्तुत्यादि से सुख का अनुभव करती हैं। अजा तुम्हारी शक्ति है, उससे विश्व स्रष्टा भगवान् सृजन् करते हैं, उनसे सब भीत होते हैं, आपकी आश्रित महाशक्ति से सब भयाकुल रहते हैं, कौन जाने, क्या करेगी ? ।२८

नित्यगोपी कहती हैं– त्वमकरणः, श्रीराधा के विरह से सकल इन्द्रिय वृत्ति रहित हो जाते हो, श्रीराधा दर्शनादि के बिना निज समस्त प्रयोजनीय क्रियान्तर शून्य हो जाते हो। स्वराजा, श्रीराधा के साथ युक्त होने पर भी सकल इन्द्रियों में शक्ति आ जाती है, एवं अपनी दीप्ति भी

श्रीराधा से होती है, अपनी नियन्त्रण कारिणी श्रीराधा ही है, अनिमिषा गोपीगण हैं, अजा राधा के साथ ही लावण्य वैदग्ध्यादि को प्राप्तकर उनसे अपर को पराभूत करती हैं, इस प्रकार अजा शब्द का अर्थ राधा होता है। न जायते, जो उत्पन्न नहीं होती है, इससे भी अजा शब्द राधा का बोधक है, वह राधा नित्य किशोरी है. वह तुम्हारी पूजा करती है, उपहार प्रदान कर तुम्हें निरन्तर सुखी करती है, अथवा गुणों से जो राधा सर्वथा अजेया है, उससे कोई भी उत्कर्षवती नहीं है, उन राधा के साथ चन्द्रावली प्रभृति स्पर्द्धा करने वाली होती है, वे सब भी श्रीराधा सङ्ग प्राप्त करने के बहाने से तुम्हें उपहार प्रदान करने के लिए आती रहती हैं, मिलित होकर उनकी भी आस्वादन कराती है, तुम किस प्रकार हो? अखिलाक्षिति, वृन्दावन भूमि उसका वास्तविक स्वामित्व श्रीराधा का ही है, श्रीराधा ही श्रीवृन्दावन भूमि की साम्राज्ञी हैं, विश्वपति को आनन्द प्रदान करने के लिए जिस प्रकार विश्वपति के परिकरगण निज-निज कार्य में रत रहते हैं, उस प्रकार ही अखिल साम्राज्ञी श्रीराधा को सुखी करने के लिए वृन्दावन के रसविलास के स्रष्टा उनके परिजन वर्ग निज-निज अधिकारोचित कार्य को कुञ्ज परिष्कार गन्ध, माल्य, आभरण प्रभृति के निर्माणादि को करते रहते हैं। निरन्तर वे सब तुम्हारे प्रेम से निरन्तर चकित भीत होकर रहते हैं, तुमसे कभी वियुक्त नहीं हैं, वह विश्व स्रष्टा है, श्रीराधा के तुम्हारे समस्त कार्योत्कर्ष की स्रष्टा है, उनके सन्निधान में ही तुम्हारे सब कुछ उत्कर्ष आविर्भूत होते हैं ॥२८॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो,
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेत्,
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥२९॥

सान्वयव्याख्या

विमुक्त! (हे नित्यमुक्त!) ततः (अजातः) परस्य (दूरेवर्त्तमानस्य असङ्गस्येत्यर्थः) तव यदि (यदा) अजया (मायया सह) उदीक्षया (दर्शन

लेशेन) विहर (विहार: क्रीड़ा, भवति तदा) उत्थनिमित्तयुज: (उत्थानि ईक्षयैव आविर्भूतानि निमित्तानि कर्माणि तत् युक्तानि लिङ्ग शरीराणि यातैः युज्यन्ते इति तथा) स्थिरचर जातय: स्थिरा च चरा: जङ्गमा: च जातय: जात्यालिङ्गिता: देहा येषां ते जीवा:) स्युः (भवेयुः) वियत इव (आकाश समस्य) शून्यतुलां (शून्यसाम्यं) दधत: (भजत: इत्यर्थ) अपदस्य वाङ्मनसयोरगोचरस्य) परमस्य (परमकारुणिकस्य) तव नहि कश्चित् अपर: (स्वीय:) न पर: (अस्वीय: च भवेत्) ॥२६॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या–श्रीवृन्दावनवासिनां सेवामाहुः। विमुक्त (हे महावदान्यशेखर !) परस्य पुरुषोत्तमस्य (तव अजया याग निद्रया हेतु भूतया अपि किं पुन: लीला शक्त्या) यदि विहर: (विहार: क्रीड़ा भवति) तत: (तर्हि अपि श्रीवृन्दावनस्य) स्थिरचर जातय: (स्थिरा: द्रुमलतादय: च चरा मयूर भृङ्ग कोकिलादय: च जातय: श्रीदामादय:, तथा व्रजसुन्दर्य: च तथोक्ता:) उदीक्षया (साभिलाषावलोकनेन) उत्थनिमित्तयुज (उत्थानि यानि निमित्तानि विहारकारणानि तेषां युक् योग: यासु तथाभूता:) स्युः (भवेयु:) परमस्य (असमोर्द्धस्वतन्त्रादि वैभवस्य) अपदस्य (मन आद्यगोचरस्य) वियत: इव शून्यतुलां दधत: तव नहि कश्चित् अपर: (मित्रं) न पर: (शत्रु: च भवेत) ॥२६॥

हे नित्य मुक्त ! आप माया सङ्ग रहित होकर भी जब माया के साथ दर्शन लेश द्वारा क्रीड़ा करते हैं, तब आपका दर्शन लेश सम्भूत कर्म युक्त स्थावर जङ्गम जाति सम्पन्न जीवगण उत्पन्न होते हैं, और आकाश सदृश शून्यतुल्य अवाङ्मनस गोचर (मन वाक्य का अगोचर) परम कारुणिक आपका आत्मीय अथवा पर कोई नहीं है, आप सबको समदृष्टि से निरीक्षण करते हैं ॥२६॥

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—श्रीवृन्दावनवासि समूह की भजन दक्षता को कहते हैं— हे महावदान्य शेखर ! पुरुषोत्तम ! आपकी क्रीड़ा यदि योगनिद्रा हेतु भूत भी होती है, लीला शक्ति हेतुभूत क्रीड़ा की तो कथा ही क्या है, तो भी आपका साभिलाषपूर्ण अवलोकन से श्रीवृन्दा-वनस्थ द्रुम लतादि पुष्प पल्लव युक्त, मयूर, भ्रमर, कोकिल प्रभृति निज

जात्युक्त मधुर ध्वनि युक्त एवं श्रीदाम प्रभृति तथा व्रजसुन्दरीगण यथोपयुक्त वेषभूषण नर्मादि युक्त होते हैं। और परम ! (अर्थात् असमोर्द्ध स्वातन्त्र्यादि वैभववान्) मनः प्रभृति का अगोचर एवं आकाश के समान शून्य साम्य सम्पन्न आपका शत्रु मित्र कोई नहीं है। अर्थात् सबके प्रति आपकी समान दया है ॥२६॥

सबका जनक आप हैं, षष्ठदश श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तुति करते हैं। प्रश्न—ईश्वर इन्द्रिय प्रवर्त्तक हैं, इसलिए क्या इन्द्रिय परतन्त्र नरगण उनका भजन करते हैं ? उत्तर—जीवगण उनसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए जीवगण ईश्वर परतन्त्र हैं। श्रुतिः (१) यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति एवं एव अस्मात् आत्मनः सर्वेलोकाः देवाः सर्वाणि भूतानि, सर्वे एते आत्मनः व्युच्चरन्ति। जिस प्रकार एक अग्नि से स्वल्प विस्फुलिङ्ग विविध वह्नि कणा उत्पन्न होती है, उस प्रकार इस आत्मा से जीवगण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इन्द्रिय कर्ममल, अग्नि आदि अधिष्ठाता देवगण ब्रह्मादि स्थावरान्तभूतसमूह उत्पन्न होते हैं। सङ्कल्पमात्र से ही सब उत्पन्न होते हैं, ईक्षण निमित्त आविर्भूत कर्म के साथ युक्त होकर जीव का जन्म होता है। ईश्वर में वैषम्य नहीं है, ईश्वर परम कारुणिक हैं। श्रुति में शून्य, पूर्वकर्त्ता कथित है—(१) असत् वा इदमग्र आसीत् ततः वै सद्जायत, यह जगत् पहले असत् अविद्यमान था, सृष्टि के समय सत् रूप में आविर्भूत हुआ ? उत्तर—'शून्यतुलां दधतः तव' आप शून्य की समानता को प्राप्त करते हैं, कारण आप 'अपदस्य' 'अपद' अर्थात् वाक्य मन का अगोचर हैं, इसलिए आप शून्य की भाँति प्रतीत होते हैं।

स्वामिचरण कहते हैं—

त्वदीक्षणवशक्षोभमायाबोधित कर्मभिः।
जातान् संसरतः खिन्नान् नृहरे पाहि न पितः ॥

हे नृहरे ! हे पितः (जनक) तुम्हारे ईक्षण से माया क्षुब्धा होती है, उस माया के द्वारा कर्म उद्बुद्ध होता है, उस कर्म से हम सब उत्पन्न होते हैं, संसरणशील खिन्न हम सब की रक्षा करो ॥२६॥

श्रुतिरूपा आहुः—ते तव अजया राधिकया सह विहरे विहरत्यत्रेति विहरं वृन्दावनं तत्र स्थिरचर जातयो भवन्ति। कदा? यदि राधया सह परस्य तवोदीक्षया प्रेमार्द्रदृष्टा रतियानि निमित्तानि पूर्वजन्म सुकृत तद्वासनास्तैर्युक्ता भवन्ति। बहु जन्मसु वृन्दावने स्थिरचरशरीरप्राप्त्यर्थं कृतानां सगाध-त्वत्तोपि कर्मणां त्वदीक्षयैव उद्बोधे सति। परस्येत्यनेन प्रपञ्चान्तर्दृष्टिर्मया कृतैवेति सूचितम्। कथम्भूताः स्थिरचर जातयः विमुक्तं ततो विमुक्तं विशिष्टा मुक्तिः, विशिष्टा वा मुक्ता येन तदेकान्त राधाकृष्ण प्रेमरस वैभवं तन्वन्ति स्मरण दर्शनवन्दनादिना। एतेन प्राकृतत्वं निरस्तम्। यद्वा विगता मुक्ता यस्मान्नित्यमुक्त स्वरूप ब्रह्म वा मुक्तिर्वा शुद्धात्मब्रह्मस्वरूपावस्थितिरूपा यस्मात्तादृशं शुद्धप्रेमात्मवस्तु प्रकाशयतीति विमुक्तं शुद्धप्रेमरस शक्तिमत परब्रह्म, तद्रूपेण वा तन्वन्ति, निजस्वरूपं प्रकाशयन्ति एवं शुद्धभाव वासनया जाता अतस्त्य स्थिरचरा इत्युक्तम्। शुद्धप्रेमरसं विना च तव परमस्य पूर्णशुद्धरसः कोऽपि स्वीयश्च न भवेत्, परश्च न भवेत्। अन्यत्र दृष्टिरेव तव नास्तीत्यर्थः। तव कथम्भूतस्य? वियत इव आकाशस्येव केनापि सङ्गरहितस्य शून्यतुलां दधतः शुद्धप्रेममयस्वरूपं सदपि नान्येषां स्फुरति, शुद्धप्रेम रहितैस्त्वं कदापि आकाशवन्न संसृज्यसे, शून्यवल्लाणुमात्रमपि न प्रकाशसे इत्यर्थः।

नित्य गोप्यस्तु आहुः—यदि तवादीक्षया कृपार्द्रदृशा राधया सह तव विहारो भवति, तदा स्थिरचर जातयोऽजया राधया तद्वृत्यनिमित्तेन श्रीराधानुराग प्रयुक्त विहार निमित्तेन युज्यन्ते, क्रीडानुकूला भवन्तीत्यर्थः। यदि तद्वृत्य निमित्तयुजः स्युर्भवन्ति तदा उदीक्षया राधया सह तव विहारः स्यादिति परस्य क्रीडार्थमेव सदा व्याप्रियमाणस्य महाकेलि सम्पदश्च तव स्वीयः परश्च कोऽपि न भवेत् स्फुरेदिति। वियत इवान्यसङ्ग सम्भावनारहितस्य शून्यतुलां दधतः अन्या गोचरस्येत्यर्थः ॥२६॥

श्रुतिरूपा गोपी कहती है—अजा श्रीराधा के साथ विहार भूमि श्रीवृन्दावन में स्थावर जङ्गम प्रभृति प्राणी होते हैं। कब होते हैं? यदि श्रीराधा के साथ तुम्हारी प्रेमार्द्रदृष्टि होती है, उस समय पूर्वजन्म सुकृत के कारण तुम्हारी सेवा करने की वासना होती है, और सब प्राणी इस

वासना से युक्त होकर ही उदित होते हैं, श्रीवृन्दावन में स्थावर जङ्गम शरीर प्राप्ति के लिए अनेक जन्म तुम्हारे सन्तोषप्रद कर्माचरण करने से उन सबके प्रति तुम्हारी कृपादृष्टि होती है, और उद्बुद्ध होकर ही वे सब लीला के समय आनुकूल्य परायण होकर सब उदित होते हैं, 'परस्य' शब्द से प्रपञ्चातीत दृष्टि भी तुम से होती है. सूचित होता है, स्थिरचर जातय किस प्रकार होते हैं ? विमुक्त ततः जिन्होंने मुक्ति वासना से अपने को मुक्त किया है, अथवा जिन्होंने एकान्त राधाकृष्ण प्रेमरस वैभव को स्मरण दर्शन वन्दन द्वारा प्रचार प्रसार कर अपने को मुक्त बना लिया है।

इससे उन सभी में प्राकृतांश होने की शङ्का का समाधान भी हो गया है, यद्वा, जिसमें मुक्तता चली जाती है। ऐसे नित्य मुक्त स्वरूप ब्रह्म अथवा मुक्ति शुद्धात्मा ब्रह्म स्वरूपावस्थिति रूप अवस्था जिससे होती है, उस शुद्ध प्रेमात्म वस्तु को प्रकाश करते हैं. इस प्रकार विमुक्त शुद्ध प्रेमरस शक्तिमत् ब्रह्म ही परब्रह्म है, उस स्वरूप को प्रकट करते हैं, एवं निज स्वरूप को प्रकाश करते हैं, इस प्रकार शुद्ध भाव वासना से ही उत्पन्न वृन्दावन के स्थावर जङ्गम प्रभृति होते हैं। शुद्ध प्रेमरस के बिना कोई भी शुद्ध प्रेमरस स्वरूप का अपना नहीं होता है, और पर भी नहीं होता है, अन्यत्र तुम्हारी दृष्टि ही नहीं है। तुम किस प्रकार हो ? आकाश की भाँति हो, आकाश जिस प्रकार किसी का सङ्ग नहीं करता है, उस प्रकार तुम भी शून्य की भाँति होते हो, शुद्ध प्रेम स्वरूप होकर भी अन्य के पास स्फूर्त्ति प्राप्त नहीं होते हो शुद्ध प्रेमरहित जनगण कदापि तुम्हारे साथ आकाश के समान भी सम्पर्क स्थापन करने में समर्थ नहीं होते हैं. शून्यवत् अणुमात्र भी प्रकाशित नहीं होते हो ॥२६॥

नित्यगोपी कहती है—यदि तुम्हारी कृपादृष्टि वा विहार श्रीराधा के साथ होता है, तब स्थावर जङ्गमात्मक समस्त पदार्थ श्रीराधा के साथ श्रीराधानुराग प्रयुक्त विहार सम्पादन में संलग्न होते हैं। सकल पदार्थ क्रीडानुकूल हो जाते हैं। यदि उस प्रकार विहार सम्पादन के निमित्त सब बनते हैं, तब ही श्रीराधा के साथ विहार सम्भव होता है सदा क्रीड़ा के लिए सक्रियरत महा सम्पद युक्त महाकेलि परायण तुम्हारे

स्वपर भेद नहीं रहता है, अर्थात् निज पर स्फूर्त्ति नहीं होती है, वियत इव आकाश की भाँति अन्य सङ्ग की सम्भावना ही तुम्हारे में नहीं है, अतएव अन्य का अगोचर होकर शून्य के समान प्रतिभात होते हो।२९

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता,
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्यनियन्तृ भवेत्,
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥३०॥

सान्वयव्याख्या

हे ध्रुव! (नित्य!) यदि तनुभृतः (जीवाः) अपरिमिता (अनन्ता) ध्रुवाः (तेनैव रूपेण नित्याः) सर्वगताः तर्हि, शास्यता (समत्वात् नियम्यता इति नियमः (नियमनं) न, इतरथा (अन्यथा, तथा) न (शास्यत्वाभावः नो घटन एवेत्यर्थः) यन्मयं (उपाधितो यद्विकार प्रायं जीवाख्य) अजनि (जातं) तत् (ब्रह्म) अविमुच्य (कारणतया अपरित्यज्य) नियन्तृ (नियामक) भवेत् (अतः) सम यत्) (ब्रह्म) अनुजानतां (जानीम इति वदतां) मत दुष्टतया (मतस्य ज्ञातस्य दुष्टतया दोष श्रवणात्) अमतं (अविज्ञात प्रायं भवतीत्यर्थः ॥३०॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या--(ननु व्रजवासिषु मत्प्रेमा कथं ज्ञातः तेषां सर्वेषां पुत्रत्वस्वीकारात् इति चेत् न ते खलु जीवा एव भवन्तु कि मिति तद्ब्रूयाइत्युच्यते) ध्रुव! अपरिमिताः (असंख्याः) ध्रुवाः (नित्याः सर्वंगताः यदि तनुभृतः (जीवाः स्युः) तर्हि न शास्यता इति नियमः (नियमनं) न, इतरथा (तेषां तादृश जीवत्वं विना सम्भवेदित्यर्थः) यन्मयं (तव स्वरूप भूतं वत्स वत्सपालादिरूपं) अजनि (प्रादुर्भूत) तत् (तव स्वरूपं अविमुच्य नियन्तृ भवेत् समं (तत् समं अन्यं) यत् अनुजानतां (तत्) मतदुष्टतया अमतं (श्रीब्रह्मादिभिः सह तवाभेदेऽपि परमैश्वर्यादिना परम वैसादृश्यमित्यर्थः ॥३०॥

हे नित्य स्वरूप ! यदि जीवगण अनन्त नित्य एवं सर्वगत होते हैं, तब आपके साथ तुल्यता प्रयुक्त 'आपके नियम्य हैं' यह नियम नहीं रहेगा। और यदि उस प्रकार नहीं होते हैं, (अर्थात् जीव सकल अनन्त नित्य व सर्वगत नहीं होते हैं) तब आपमें उक्त शासन वाक्य प्रयुक्त होता है। कारण औपाधिक रूप में विकारमय जीव उत्पन्न होते हैं, ये सब ब्रह्म कारणत्व से नियम्यत्व होते हैं। अतएव सम जो ब्रह्म हैं, 'उनको हम सब जानते हैं, इस प्रकार कथन परायण व्यक्ति का मत दुष्टत्व हेतु असत है, (अर्थात् उनको जानना असम्भव है) ॥३०॥

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—व्रजवासी में जो मेरा प्रेम है, उसको कैसे जाना ? यदि कहो कि उन सबके पुत्रत्व अङ्गीकार करने से ही जान गयी। ऐसा नहीं है, वे सब तो जीव ही हैं, तब क्यों तद्रूप कहती हो ? इस प्रकार श्रीकृष्ण की आशङ्का को जानकर श्रुतिगण कहती हैं—हे नित्य स्वरूप ! असंख्य, नित्य व सर्वगत यदि जीव होता है, तब 'शास्यता' रूप नियम लागू नहीं होगा। वैसा नहीं है, अन्यथा (अर्थात् जीव असख्य नित्य व सर्वगत न होने पर) उक्त नियम की सम्भावना होगी। आपके स्वरूप भूत वत्स वत्सपाल प्रभृति उत्पन्न होकर आपके स्वरूप का परित्याग न करके ही नियन्ता होते हैं, और आपके समान अपर कोई है, इस प्रकार ज्ञानवान् व्यक्ति का मत दुष्टत्व हेतु सब प्रकार से असत है, (अर्थात् श्रीब्रह्म रुद्रादि के साथ आपका अभेद रहने पर भी परमैश्वर्य द्वारा परम भिन्नता है, यह निश्चित है ॥३०॥

आप नियामक हैं—सप्तदश श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तुति करते हैं तार्किक मत इस प्रकार है—यदि अविद्या एक हो, और जीव भी एक हो, तब एक जीव की मुक्ति से सब जीव की मुक्ति प्रसङ्ग होगा। और यदि जीव एक होता है, और अविद्या अनेक तब तो मोक्ष होगा ही नहीं कारण जीव एक अविद्या से मुक्त होते न होते अपर अविद्या से बद्ध होगा, इस प्रकार से अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा। अतएव आत्मा अनेक हैं आत्मा यदि अणु परिमाण अर्थात् सूक्ष्म एवं देह स्थूल होता है, देह व्यापी चैतन्य होना सम्भव नहीं है, आत्मा यदि देह परिमाण है व हृदय

परिमाण होता है, तो मध्यम परिमाण सावयव होगा अतएव अनित्य होगा। आत्मा का परिमाण नहीं है, अतएव वह नित्य है, अतएव आत्मा अनेक सर्वगत एवं नित्य है।

वैदिक मत में एक जीव की बद्धता से और मुक्ति से सब बद्ध एवं मुक्त होगा, इस प्रकार दोष नहीं होगा, कारण अविद्या की क्रियाशक्ति से बद्ध एवं विद्या की ज्ञान शक्ति से मोक्ष होता है, ईश्वर में संसार होने की शङ्का क्या हो सकती है ? समष्टि उपाधि एवं अखण्डता हेतु ही ईश्वर का ईश्वरत्व है। ईश्वर विद्या शक्ति प्रधान है, अतः उनमें संसार की सम्भावना नहीं है, विशेषतः सकल श्रुति में आत्मैक्य की वर्णना है।

(१) एक एव तु भूतात्मा भूते भूते अवस्थित एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् विशेषतः, आत्मा, नाना सर्वगत एवं नित्य यह तार्किक मत है, इसका सहन अन्तर्यामी ब्राह्मण नामक वेद नहीं कर सकता है। तनुभृत जीव, यदि अपरिमिता नाना, एवं वस्तुतः अनन्त ध्रुव नित्य सर्वगत होता है, तब वह आपके समान होगा, न शास्यता, शासनाधीन होना असम्भव होगा। हे ध्रुव ! आपसे नियमन नहीं होगा। इतरथा, अन्यपक्ष में जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उससे नियन्त्रित होगा, इस नियम से जीव आपसे उत्पन्न है, अतएव जीव का आप नियामक हैं, विस्फुलिङ्ग अग्निसे उत्पन्न है, अतएव अग्नि विस्फुलिङ्ग का प्रकाशक है।

ईश्वर को क्या शब्द से जाना जाता है ? 'अनुजानतां' जो लोक कहते हैं कि मैं उनको जानता हूँ, वह मत अमत अविज्ञात है, ईश्वर अविषय हैं, विशेषतः 'मत दुष्टतया' ज्ञात वस्तु दोष युक्त होती है।

श्रुति—यस्यमतं तस्यमतं, मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम् ॥

ब्रह्म जिसका अविदित, उसका सुविदित है, जो कहता, मैं जानता हूँ, उसने नहीं जाना है, (२) अवचनेन एव प्रोवाच। स ह तुष्णीम् बभूव। वेदान्त शास्त्र अध्ययन के पश्चात् गुरुकुल से आगत पुत्र को पिता ने पूछा, हे पुत्र ! प्रत्यक्ष ब्रह्म को तुमने क्या जाना है ? पुत्र ने सिर हिला

कर सङ्केत किया, इससे पिता जान गया कि पुत्र ब्रह्म को जाना है। पश्चात् पिता ने कहा (३) यदि मन्य से सुवेद इति दह्लम् एवम् अपि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मण:रूपम् यदस्य त्वं यदस्य देवेषु। यदि कहो कि मैं ब्रह्म का स्वरूप जान गया हूँ तब तुम 'दह्ल' हो अर्थात् स्वल्प भी नहीं जानते हो, भूमाख्य ब्रह्म सुवेद्य नहीं है।

स्वामिचरण कहते हैं—

अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीतः श्रुत्या, युक्त्याच एव अवसेयः।
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः नृसिंहः श्रीमन्तं, च चेतसा एव अवलम्बे॥

जो सकल लोकों के अन्तर्यामी हैं, श्रुति युक्ति भी उसके अनुकूल है, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति श्रीमान् नृसिंह हैं, चित्त से उनको अवलम्बन करता हूँ ॥३०॥

श्रुतिरूपा आहुः—यदि तनुभृतस्तव तनुं श्रीमूर्त्तिमेवैकान्तभावेन विभ्रतोध्रुवा नित्यमात्मानं मन्यते, ब्रह्मरूपेण पार्षदरूपेण वा अपरिमिताश्च ब्रह्मरूपेण परिच्छेदरहिताः सर्वगताः प्राप्ताः सर्वात्मक ब्रह्मत्व ज्ञानान्न शास्यता शुद्धभाववर्त्मशिक्षा योग्या न भवन्ति ते इति हेतोः हे ध्रुव ! स्थिर कदापि व्रजराजकुमार भावादप्रच्युत ! इतरथा विशुद्ध भावेतर वर्त्मना तव न नियमो वशीकरणं भवेत्। यन्मयं चाजनि व्रजवृन्दावनादौ स्थिर चरादि रूपेण जातं तदविमुच्य तदहं भावं कदापि न भुक्त् वा नियन्तृ त्वद् वशीकर्त्तृ भवेत्। अनुरूपं शुद्धभात्रमयरूपत्वात् तदनुरूपं जानतामपि मध्ये यत् समं सशोभं तव स्वरूप तदमतं कस्यापि न ज्ञातम्, शुद्धभात्रमयमपि तव स्वरूपं कथञ्चित् ज्ञातुं शक्नुवन्ति। वात्सल्यादिरसात्मकं पूर्णमहामधुरोज्ज्वल रसमयं श्रीराधानुरागाविष्टं तव स्वरूपमति दुर्ज्ञेयमित्यर्थः। मत दुष्टतया—अन्यै र्विशुद्ध भावमग्नैरपि मतानां त्वत् स्वरूपाणां राधासङ्ग रसोन्मत्त स्वरूपापेक्षया दुष्टत्वादित्यर्थः तत् स्वरूपसुखस्यापि विच्छेदसम्भवात् नहि राधा नूपुर ध्वनि श्रवणे राधाप्रिय सखी सङ्केत विहारादि श्रवणे वा अन्य सङ्गेन मनागपि स्थातुं शक्नुयात् श्रीकृष्णचन्द्रः ॥३०॥

नित्य गोप्यस्तु आहुः—अपरिमिता, भावेन रूप वैदग्ध्यादिना च ध्रुवाः स्थिरानुरागाश्च तनुभृतस्तव श्रीमूर्त्तिमिव विभ्रति च तथाविधा अपि यदि सर्वगताः सर्वेण सङ्गता भवन्ति, राधाचरणैकान्त निष्ठारहिता इति यावत्, तर्हि तदा हे ध्रुव ! राधायामेव स्थिरासक्त ! न तव शास्यता-नियम्यता, राधानन्यभक्ति विना त्वं न वशीकर्त्तुं शक्य इत्यर्थः। इति हेतो हे ध्रुव ! इतरथा राधाप्रियसख्यविना तव नियमनं न नियमः, विहाराद्यावश्यकता नास्तीत्यर्थं। यन्मयं राधारसमयं स्वरूपं यदजनि, तदविमुच्य कालत्रयेऽपि न मुक्त्वा नियन्तृ त्वद् वशीकर्त्तं भवेत्। सममेव रूपं यस्याः, तथा आनुकूल्येन अनुवृत्त्या वा जानतां सर्वत्रानुरागिषु कृष्णं समानसक्तिं जानतां तत् स्वरूपममतम्। न ज्ञातमेव, नहि राधासक्तं तव रूपमन्यसमम्, एतदपेक्षया रूपलावण्याद्यभिव्यक्ते स्तत्र न्यूनत्वात्, मतानामज्ञानानां कृष्णस्य चन्द्रावल्यादौ प्रेम विलासानां दुष्टतया, राधाहृत चेतसोऽन्यत्रासक्तेरभावादन्या सक्त्यभिनयमात्रमिति भावः ॥३०

श्रुतिरूपा गोपी कहती है—एकान्त भाव से प्रकटित श्रीमूर्त्ति को यदि नित्य आत्मा रूप से माना जाय, ब्रह्म रूप से अथवा पार्षद रूप से, तब अपरिमिता ब्रह्म रूप से परिच्छेद रहित, सर्वगता, सर्वत्र प्राप्त रूप से प्रसिद्ध होने पर सर्वात्मक ब्रह्मत्व ज्ञान से न शास्यता, शुद्धभाव मार्ग शिक्षा की योग्यता उसमें नहीं रहेगी, इसलिए हे ध्रुव ! स्थिर ! कदापि व्रजराज कुमार भाव से अप्रच्युत ! अन्यथा विशुद्ध भाव से भिन्न पथ से तुम्हारा वशीकरण नहीं होगा यन्मय चाजनि, व्रजवृन्दावनादि में स्थावर जङ्गम रूप में जो उत्पन्न है, तदह भाव को परित्याग न कर 'नियन्तृ' तुमको कभी भी वशीभूत करने में समर्थ नहीं होंगे। अनुरूप, शुद्ध भावमय होने के कारण शुद्ध भाव के अनुरूप परिज्ञानकारियों के मध्य में, समम्, अतिशय माधुर्य पूर्ण तुम्हारे स्वरूप को तदमतं कोई नहीं जानता। शुद्ध भावमय तुम्हारे स्वरूप को कथञ्चित जान सकते हैं। वात्सल्यादि रसात्मक, पूर्ण महामधुर उज्ज्वल रसमय श्रीराधानुरागाविष्ट तुम्हारे स्वरूप अति दुर्ज्ञेय हैं। मत दुष्टतया, अन्य विशुद्ध भाव मग्न तुम्हारे स्वरूप समूह राधासङ्ग रसोन्मत्त स्वरूप की अपेक्षा से दोषपूर्ण

है। उक्त स्वरूप सुख का भी विच्छेद हो सकता है, किन्तु श्रीराधा की नूपुर ध्वनि के श्रवण से राधा प्रिय सखी सङ्केत विहारादि श्रवण करने से श्रीकृष्णचन्द्र किसी समय भी थोड़ी देर के लिए भी वहाँ पर ठहर नहीं सकते हैं ॥३०॥

नित्यगोपी कहती है--अपरिमिता भाव से, रूप से वैदग्धी प्रभृति के द्वारा ध्रुवा, स्थिर अनुरागपूर्ण, तुम्हारी मूर्त्ति के समान हो तो भी यदि सब वे साथ सङ्ग युक्त होते हैं, तब जानना होगा कि वे सब ही श्रीराधा चरणैकान्त निष्ठा रहित है। तब हे ध्रुवा श्रीराधा में ही स्थिर आसक्त ! न तव शास्यता। श्रीराधा के प्रति अनन्य भक्ति के बिना तुम्हें वशीभूत करने में कोई भी समर्थ नहीं होगा। इतरथा, अन्य प्रकार से राधा प्रिय सख्य भाव के बिना तुम्हारे नियमन नहीं है, विहारादि की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती है, यन्मयं राधारसमय जो स्वरूप है, उसको छोड़कर तीन कालों में कोई भी स्वरूप तुम्हें सुखी करने में समर्थ नहीं है, श्रीकृष्ण समस्त अनुरागियों के प्रति अनुकूलता से एक प्रकार व्यवहार ही करते रहते हैं, इस प्रकार जिसका अनुभव है, वह श्रीकृष्ण स्वरूप को नहीं जानता है, श्रीराधा की आसक्ति युक्त स्वरूप कभी भी तुम्हारे अपर स्वरूप की समानता में स्थित नहीं होता है, इस राधा प्रेम रसासक्ति की अपेक्षा से ही तुम्हारे स्वरूप में रूप लावण्य की प्रभृति की अभिव्यक्ति होती है, अपर स्वरूप में स्वाभाविक कहीं न्यूनता है, अज्ञ व्यक्तिगण श्रीकृष्ण के प्रेम विलास को चन्द्रावलि प्रभृति में मानते हैं। किन्तु श्रीराधा में आसक्त चित्त कृष्ण की कभी भी अन्यत्र जो आसक्ति देखी जाती है वह केवल अभिनय मात्र ही है ॥३०॥

न घटतउद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयो,
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधानामगुणैः परमे,
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥३१

सान्वयव्याख्या

अजयो: (जन्मरहितयो:) प्रकृति पुरुषयो: उद्भव: न घटते, जल बुद्‍वुदवत् उभययुजा (प्रकृति पुरुषयो: योगेनैव) भवन्ति, तत: (यतो न वास्तवं जन्म तस्मात् हेतो:) इमे (जीवा:) अशेषरसा) अशेषाणां निखिलानां कुसुमानां रसा:) मधुनि सरित: अर्णवे इव विविध नाम गुणै: (अनेकप्रकार कार्योपाधिभि: सह) परमे (निरुपाधौ त्वयि लिल्यु:) ॥३१

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—(ननुयस्य मम स्वरूप भूता स्व वत्स पालादय: उक्ता: सोऽहं प्रेयसी सहित: किं स्वरूप: परे मत् प्रियजना वा किं स्वरूपा: इत्यपेक्षायां प्रियजन सहित: भगवत् प्रेयसी श्रीभगवतो: स्वरूपमाहु: (अजयो: (जन्म रहितयो: युवयो:) उद्भव: (प्रादुर्भाव:) प्रकृति पुरुषयो: न घटते। श्रीराधाधवावेव युवां प्रकृति पुरुषयो: न भवथ: इत्यर्थ:) उभययुजा (उभयं चिच्छक्ति: लीलाशक्ति: च तस्य युजा योगेन इत्यर्थ:) असुभृत: (श्रीव्रजवासि प्रभृतय: भवत् प्रियजना:) भवन्ति (प्रादुर्भवेयु:) जल बुद्‍वुदवत् (जलानां बुद्‍वुदा: इव स्थिता:) अशेष रसा: (सम्पूर्णरसास्वादनपरा: इत्यर्थ:) ते इमे (श्रीव्रजवासिजना:) विविध नामगुणै: परमे (सर्वोत्तमे) त्वयि सरित: (नद्य:) अर्णवे (सागरे) इव मधु (मधुर यथास्यात् तथास्यात् तथा) निलिल्यु: (निलीना: भवेयु: अत्र नित्य प्रवृत्त वर्त्तमान सामीप्ये अतीतकाल क्रियानिर्देश: इति) ॥३१॥

केवल जन्म रहित प्रकृति अथवा पुरुष से जीव का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है, कारण–प्रकृति जड़ है, और पुरुष अविकारी है, तब पवन के योग से जिस प्रकार जल में झाक, बुद्‍वुद उत्पन्न होता है, उस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष उभय के योग से जीव उत्पन्न होता है, कारण जीव का जन्म वास्तव नहीं है, इसलिए निखिल कुसुम कारण जिस प्रकार मधु में पर्यवसित होता है, और नदी समूह जिस प्रकार समुद्र में लीन होती हैं, उस प्रकार जीवगण अनेक प्रकार कारणोपाधि आपमें लीन होते हैं ॥३१॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या-तुम सबने वत्सपाल प्रभृति को मेरा स्वरूप है, कहा है—प्रेयसी के साथ मेरा स्वरूप एवं प्रेयसी का स्वरूप

क्या है, इसका वर्णन करो ? इस प्रकार श्रीकृष्ण वाक्य को मन में सोचकर श्रुति प्रेयसी के साथ श्रीभगवान् एवं उनकी प्रेयसीगण के स्वरूप को कहती है, जन्म रहित श्रीराधा एवं श्रीमाधव आप दोनों के स्वरूप, प्रकृति पुरुष से आविर्भूत नहीं हुए है, एवं चिच्छक्ति एवं लीलाशक्ति के योग से व्रजवासि प्रभृति आपके प्रियजन आविर्भूत हुए हैं। नदी जिस प्रकार समुद्र में लीन होती है, उस प्रकार जल बुद्वुद के समान सम्पूर्ण रसास्वादन परायण उक्त व्रजवासिगण विविध नाम गुणों से सर्वोत्तम होकर भी आपके चरणकमल में उत्तम रूप से लीन होते हैं ॥३१॥

जीवोपाधि का ही जन्म एवं लय होता है, आत्मा का जन्म एवं लय नहीं है, अष्टादश श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तव करते हैं, प्रश्न हो सकता है कि जीव परमात्मा से उत्पन्न अतः नियन्ता नियम्य कहा जाता है, किन्तु उससे कृत नाश एवं अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, एवं जीव स्वरूप (मुक्ति) की हानि होगी ? ऐसा मत कहो। स्व प्रकाश आनन्द आत्मा में अनर्थ निवृत्ति ही मोक्ष पदार्थ है, उपाधि जन्म के कारण जीव का जन्म होता है, जीव का स्वतः जन्म नहीं होता है। उत्पत्ति स्वीकार करने पर प्रकृति से क्या जीव उत्पन्न होता है ? अथवा पुरुष से जीव उत्पन्न होता है ? अथवा प्रकृति पुरुष उभय से ही जीव का उद्भव होता है ? प्रकृति से जीव की उत्पत्ति कहने पर पुरुष विकारी होगा, अतएव प्रकृति किम्बा पुरुष से जीव उत्पत्ति सम्भव नहीं है, विशेषतः श्रुति में प्रकृति एवं पुरुष को अज कहा गया है।

(१) अजां एकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीं प्रजां जनयन्तीं स्वरूपाम्। अजः हि जुषमानः अनुशेते। जहाति एनाम् भुक्त भोगाम् अजः अन्यः। मूलप्रकृति होने के कारण अजा है, मूल प्रकृति अविकृति है, वह रजः सत्त्व तमोवर्णा है, स्वरूपाम्, राजसी, सात्त्विकी, तामसी, रूप, नर, सुर नारकी रूप अनेक प्रजा को उत्पादन करती है। एक अज पुरुष क्षेत्रज्ञ जीव है, आप अजा की सेवा कर निरन्तर मुग्ध रहते हैं। अन्य अज अजा का परित्याग करता है, वह अजा, पुरुष द्वारा भोग किया हुआ है, सृष्टि के पूर्व प्रकृति में वीर्य निहित रहता है, वह वीर्य प्रकृति गर्भ से महत्तत्त्व रूप में उत्पन्न होता है, श्रुति इस प्रकार है—

(१) तस्मात् वा एतस्मात् आत्मनः आकाश सम्भूतः ।

(२) स अकामयत वहुस्याम् । प्रजायेय ।

(३) यथा अग्नेः क्षुद्राः विष्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवं अस्मात् आत्मनः सर्वेप्राणाः सर्वेलोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्वं एव आत्मनः व्युच्चरन्ति । इत्यादि श्रुति में चेतन अचेतन प्रपञ्च का उपादान परमात्मा है, वर्णित है । स्वीय अचिन्त्य शक्ति से परमात्मा अविकारी होते हैं। श्रुति कहती है—

(१) एकम् एव अद्वितीयम् ब्रह्म ।

(२) अजाम एकाम् ।

(३) अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा अर्थात् आत्मा अज है, (१) यथाग्नेः श्रुति से उत्पन्न होने की कथा है, इसमें कोई विरोध नहीं है, देह उपाधि योग से जीव की उत्पत्ति होती है, लय के समय नाम रूप को छोड़कर कारण में सब लीन होते हैं।

लय चतुर्विध है । (१) नित्य (२) नैमित्तिक (३) प्राकृतिक (४) आत्यन्तिक । सुषुप्ति नित्य लय, प्रलय नैमित्तिक एवं प्राकृत भेद से होता है ।

सुषुप्ति एवं मुक्ति विषयिणी श्रुति—

(१) यथा सौम्य ! मधु मधुकृतः निस्तिष्ठन्ति, नानाप्रथानां वृक्षानां रसान् समवहारम् एकतां सङ्गमयन्ति । ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसः अस्मि अमुष्याहं वृक्षस्य रसः अस्मि इति एवम् एव खलु सौम्य इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे इति ।

हे सौम्य ! श्वेतकेतो ! जिस प्रकार मधुमक्षिका इस स्थान से मधु निकालती है, अनेक प्रकार वृक्ष से रस संग्रह करती है, उसमें पृथक् रस का विवेक नहीं रहता है, उस प्रकार सब प्रजागण श्रीनारायण में सम्पन्न होकर सुषुप्ति, मरण, प्रलय में अपना पृथक् अस्तित्व को नहीं जानते हैं।

मुक्ति की श्रुति—(१) यथा नद्य: स्यन्दमाना: समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय, तथा विद्वान् नाम रूपात् विमुक्त: परात्परं पुरुषं उपैति दिव्यम् । जिस प्रकार वेगवती नदी नाम रूप को परित्याग कर सूक्ष्म प्रकृति पुरुष से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है ।

(२) यथा उदके शुद्धम् उदकम् आसिक्तं तादृक् एव भवति एवं मुने: विजानत: आत्मा भवति गौतम ।

श्रीधरस्वामी कहते हैं—

यस्मिन् उद्यत् विलयम् अपि यद्भाति विश्वम् ।
लयादौ जीवोपेतं गुरु करुणया केवलात्मबोधे ॥
अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत् सिन्धुमध्ये ।
मध्ये चित्रं त्रिभुवन गुरुं भावये तं नृसिंहम् ॥

जीव सहित विश्व का उदय जिनसे होता है, जिनमें समस्त लय होने पर भी सुषुप्ति एवं प्रलय में जो प्रकाशित है, सब नदी गङ्गा में मिलती हैं, और गङ्गा जिस प्रकार समुद्र में अन्त हो जाती है, उस प्रकार गुरु करुणा के द्वारा केवलात्म बोध होने पर जिनमें अपुनरावृत्ति नहीं होती है, उन त्रिभुवन गुरु श्रीनृसिंह का ध्यान चित्त में करता हूँ ।।३१।।

श्रुतिरूपा कहती है—प्रकृति पुरुषयो: प्रकृष्टं करोति प्रकृति भगवच्छक्ति: पुरुष: पूर्णत्वात् करचरणादिमदाकारत्वाच्च भगवान् । या काचन शक्तिर्यत् किञ्चन भगवत् स्वरूपमित्यर्थ: । तयोरजयो: अजो ब्रह्म-स्वरूपाहंमानात् अज गतिक्षेपणयो: इत्यस्य वा ब्रह्मात्मत्वज्ञयोश्चिदचिद् द्वैतमात्र क्षेपिणोर्वा उत्कृष्टा प्राप्ति रैकान्तिक महाभावेन सम्बन्धोनास्ति सर्वात्म ब्रह्मानु सन्धानदशायां ममकाराभावात् । उद: प्रेम्णो भवो वा न घटते, उभयञ्चैतद् युक्त च तेन कृत्वा असून् प्राणान् धारयन्ति ये विलासास्ते भवन्ति शुद्धरतावेव विलासानां प्राण धारकत्वम्, ननु मिश्रानुरागे तत्र कदाचिद् विलासाभावेऽपि स्वरूप निष्ठया सुखानुभव-तृप्ते: । उभययुक्त परस्परचित्त समाधानवत् ननु कदापि ब्रह्मत्वादौ ततोहेतो:, यस्माच्छ्री राधात्वञ्च विशुद्ध पूर्णमधुरप्रेमैक रसमयौ, अत:

तदिमे विशुद्धमहाभाववर्त्मनिष्ठैरनुभूता अस्माभिश्चानुभूयमाना युवयोः शुद्धभावमया परिजनास्त्वयि परमे परम काष्ठापन्न परमानन्द रस सम्पन्निधाने लिल्युर्लीना मग्ना बभूवुः। विविध नाम गुणैः परमे त्वयीति वा। सरित इवार्णवे लीला भवन्ति, मधुनि अशेषरसाइव। विशेष विज्ञानाभावे दृष्टान्तौ।

नित्य गोप्यस्तु आहुः—प्रकृष्टमनुरागं करोति प्रकृतिः श्रीराधिका, सकल नायिका गुणैः पूर्णत्वात्। राधाविषय पूर्णानुरागत्वात् पुरुषः श्रीकृष्णचन्द्रः, उभयो राधायां केवलायां श्रीकृष्णे वा केवले, परस्पर वियुक्तावस्थायामितिभावः, उद्भव उत्कृष्टसुखप्राप्ति र्न घटते। कथम्भूतयोः ? अजयोः परस्परनिमिषार्द्धविरहेऽपि समस्त व्यवहारं क्षिपतोः जन्माभिव्यक्ति स्तद्रहितयोर्वा, मिथो विरहे शरीरेन्द्रियप्राण मनोवृत्तीनां कासाञ्चिदपि नाभिव्यक्ति स्तयोरित्यर्थः। उभययुजा तु परस्परमिलनेन सर्वा अस्मद्विधा अपि असुभृतोभवन्ति, प्राणान् धारयन्ति, इत्यर्थः। इमे ततः कामसम्पत्तिज्ञानप्रकाशिकायाः कन्दर्प विलासे स्ववैदग्ध्यप्रख्यापिकायाः श्रीराधिकाया स्त्वयि अशेषरसा लिल्युः, लीना भवत् सन्निधावेवाभिव्यक्ता भवन्ति। त्वयि कथम्भूते महार्णव इव गम्भीररसनिधौ। राधायाः कथम्भूतायाः ? सरित इव महाप्रेम वेगेन त्वत् सङ्गौत्सुक्यपरोत्कर्षभाजः, मधुनीवमादके। यद्वा ततो हेतोरिमे ते प्रसिद्ध राधाचरणकान्तिकतया परिजना नामगुणैः सह त्वयि लीना अर्णवे सरित इव, मधुनि अशेषरसा। त्वयि कथम्भूते ? परमे परमशोभावति राधासहित विहारेण यत, पराशोभा न भविष्यति ता प्राप्तवतीति ॥३१॥

श्रुतिरूपा कहती है—प्रकृति एवं पुरुष की विशेषता स्थापिका शक्ति की प्रवृत्ति को भगवत् शक्ति कही जाती है, पुरुष पूर्ण होने के कारण कर-चरणादि आकार युक्त भगवान् हैं। जो कुछ शक्ति, जो भी भगवत् स्वरूप हैं, सबकी विशेषता स्थापिका शक्ति प्रकृति है। दोनों अज हैं, उन ब्रह्मस्वरूप में अहं भाव का कारण है, अज धातुः, गतिक्षेपण अर्थ में प्रयुक्त होता है, गति और क्षेपण का उत्कृष्ट आश्रय है, अथवा ब्रह्म, आत्मतत्त्वज्ञ का चिद् अचिद् विनाशक द्वैतमात्र निरासक उत्कृष्ट प्राप्ति

का ऐकान्तिक महाभाव के साथ सम्बन्ध नहीं है। सर्वात्म ब्रह्मानुसन्धान ममकार का अभाव रहता है। उदः, प्रेम का उद्भव होता ही नहीं है, उभय को आश्रय करके ही जो जीवित होते हैं, वे सब विलास कहलाते हैं, शुद्धरति ही विलास का जीवातु है, मिश्र अनुराग में विलास नहीं होता है, कदाचिद् वहाँ पर विलास का अभाव होने पर भी स्वरूप निष्ठ सुखानुभव में परितृप्त होते हैं। उभय युक् उभय के संयोग से ही परस्पर के चित्त का समाधान सुस्पष्ट होता है, किन्तु ब्रह्मत्वादि में कभी भी चित्त का समाधान नहीं होता है। इसलिए श्रीराधा और तुम विशुद्ध पूर्ण मधुर प्रेमैक रसमय हो, अतएव दोनों का अनुभव, विशुद्ध महाभाव वर्त्मनिष्ठ व्यक्ति का ही होता है, इस प्रकार हम सबने भी अनुभव किया है, आप दोनों के शुद्ध भावमय परिजन वर्ग, परमे परमकाष्ठा प्राप्त परमानन्द रससिन्धु में निमग्न होते हैं, विविध नाम गुण के साथ तुम्हारे आनन्द रस में निमग्न होने के कारण नाम गुणादि की पृथक् स्फूर्त्ति नहीं होती है, विविध नाम गुणों के साथ ही तुम्हारी सेवारस में निमग्न हो जाते हैं, सरित जिस प्रकार समुद्र में लीन होती है, मधु में अशेष पुष्प रस जिस प्रकार निमग्न हो जाते हैं, यह सब दृष्टान्त, विशेष ज्ञान का अभाव प्रदर्शन के लिए दिया गया है ॥३१॥

नित्यगोपी कहती हैं—प्रकृष्ट अनुराग करती है, इसलिए प्रकृति श्रीराधिका है, सकल नायिका गुणों से परिपूर्ण है। श्रीराधा विषय में पूर्णानुराग युक्त होने के कारण पुरुष श्रीकृष्णचन्द्र हैं, दोनों का केवल राधा में अथवा केवल श्रीकृष्ण में अनुराग होता है, जब परस्पर का विरह होता है, उद्भवः, उत्कृष्ट सुख प्राप्ति नहीं होती है, दोनों किस प्रकार हैं ? अजयोः, परस्पर के निमिषार्द्ध विरह में भी समस्त व्यवहार नष्ट हो जाते हैं। जन्म एवं अभिव्यक्ति दोनों ही नहीं होते हैं, परस्पर के विरह में शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मनोवृत्ति की किसी को भी अभिव्यक्ति नहीं होती है, उभययुजा—परस्पर के मिलन से हम सब जीवित होते हैं प्राण धारण करते हैं, उसके बाद काम सम्पत्ति ज्ञान की प्रकाशिका कन्दर्प विलास में निज वैदग्ध्य प्रख्यापिका श्रीराधा के अशेष आस्वाद

तुम्हारे में लीन होते हैं, लीन होकर तुम्हारे सन्निधान में ही अभिव्यक्त होते हैं। तुम किस प्रकार हो ? महार्णव के समान हो, गम्भीर रसनिधि हो, राधा भी किस प्रकार हैं ? नदी के समान हैं, तुम्हारे सङ्ग प्राप्ति के लिए महाप्रेम वेग से उत्सुकता की चरम सीमा में अवस्थित हैं, मधु के समान प्रेम विभोर हैं, अतएव उक्त कारण वश श्रीराधा चरणैकान्तिक परिजन वर्ग नाम गुण के साथ तुम्हारे में निमज्जित हो जाते हैं, दृष्टान्त— जिस प्रकार सरित सागर में निमज्जित होती है, मधु में अशेष पुष्प रस जिस प्रकार निमज्जित हो जाते हैं। तुम किस प्रकार हो परमेपरम शोभायुक्त में, विरह के कारण राधा के साथ विहार से जिस लिए परम शोभा नहीं होती है, अतएव उस परम शोभा को प्राप्त करने के लिए सेवासुख समुद्र में निमज्जित होते हैं ॥३१॥

नृषु तव मायया भ्रममभीष्ववगत्यभृशं,
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्त्ततां भवभयं तव यद् भ्रूकुटिः,
सृजति मुहुस्त्रिनेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥

सान्वयव्याख्या

सुधियः (पण्डिताः अमीषु नृषु तव मायया अनुप्रभवं (अनुनिरन्तरं प्रभवो यस्मिन् तं) भ्रमं अवगत्य (ज्ञात्वा) अभवे (भव निवर्त्तके) त्वयि भृशं भावं (अनुवृत्ति दधति (कुर्वन्ति) अनुवर्त्ततां (त्वामेव शरणं व्रजतां जनानां) भव भयं कथं (न कथञ्चिदपि भवेदित्यर्थः। यत् (यतः) तव भ्रूकुटिः (भ्रू भङ्गरूपः) त्रिनेमिः (काल विशेषः) अभवच्छरणेषु (न भवान् शरणं रक्षिता येषां तेषु) मुहुः भयं सृजति ॥३२॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—(विप्रजनप्रसङ्गेन दीक्षित पत्नीनां अपि भावमाहुः भवे (संसारे सुधियः (याज्ञिक भार्याः) अमीषु नृषु (पुंसु पतिषु इत्यर्थः) तव मायया अनुप्रभवं भ्रमं (त्वयि मनुष्यदृष्टि रूपां भ्रान्तिं) भृशं अवगत्य त्वयि भावं दधति, अनुवर्त्ततां (तव अनुवृत्ति कुर्वतां जनानां भवभयं (भवात्कालाग्नि रुद्रादपि भयं) कथं (न कथञ्चिदपि

भवेदित्यर्थः) यत् (यस्मात्) तव भ्रूकुटिः (मन्युरूपः) त्रिनेमिः (त्रिनेत्रः इत्यर्थः) अभवच्छरणेषु (तथाभक्तेषु एव) मुहुः (प्रतिप्रलयं भयं सृजति) भक्तास्तु प्रलयेऽपि निर्भयाः अभक्ताः सर्वदैव भीता इति भावः ॥३२॥

मानवगण में आपकी माया से निरन्तर वृद्धि प्राप्त भ्रम विद्यमान है, यह जानकर पण्डितगण भवनिवर्त्तक आपकी एकान्त शरण ग्रहण करते हैं, कारण आपकी शरणापन्न व्यक्ति का कभी भी भवभय नहीं होता है। इसका कारण यह है कि-आपके भ्रूकुटि रूपकाल विशेष आपके अभक्तजन के प्रति केवल पुनः पुनः भय प्रदर्शन करते रहते हैं, भक्तजन के प्रति नहीं ॥३२॥

श्रीसनातनसम्मत व्याख्या—प्रियजन के प्रसङ्ग में दीक्षित पत्नीगण की शरणागति के विषय को कहते हैं—इस संसार में याज्ञिक भार्य्यागण, पति समूह की भवदीय माया से आपके प्रति मनुष्य भ्रान्ति है, इसको उत्तम रूप से जानकर आपकी शरणागत हो गई थीं, कारण आपकी शरणापन्न जनगण का कालाग्नि रुद्र से भी भय नहीं होता है, इसका कारण यह है कि-आपका क्रोध स्वरूप त्रिनेत्र हर आपके अभक्तगण के प्रति भयोत्पादन करते हैं, अर्थात् आपके भक्तगण का भय प्रलय काल में भी नहीं रहता है, और अभक्तगण का भय सर्वदा ही रहता है ॥३२

भगवत् भक्ति की वार्त्ता को प्रकट कर—

ऊनविंश श्रुत्याभिमानिनी देवता स्तुति करते हैं—जीव ईश्वर प्रेरणा हेतु कर्म करता है, सृष्टि के पश्चात् ईश्वर में लीन होता है, इस प्रकार संसारचक्र में भ्रमण वृत्तान्त कथित है, संसार भ्रमण निवृत्ति के लिए श्रुतिगण भगवत् भक्ति का विधान करती हैं।

(१) परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् सर्वाः प्रदिशः दिशः च' उपस्थाय प्रथमजामृतस्य आत्मना आत्मानम् अभिसंविवेश। प्राणीगण संसारचक्र में भ्रमण करते हैं। मुनि यह जानकर लोकान् परीत्य, स्वर्गादि लोक को क्षयिष्णु जानकर, सर्वा दिशः प्रदिशः परीत्य' प्राच्यादि दिक सकल, आग्नेय्यादि विदिक् सकल को दुःखमय जानकर 'ऋतस्त' सर्वदा सत्य श्रीविष्णु की प्रथमजाक्' त्वयुक्त नैष्कर्म्य उपस्थाय' सेवा कर आत्मना'

सर्व विषयों में विरक्त मन के द्वारा 'आत्मानम्' अभिसंविवेश' भगवान् की शरण लेते हैं। इस प्रकार पुनः पुनः भ्रमणशील संसार को देखकर संसार निवृत्ति के लिए विवेकीगण श्रीहरि के प्रति ममत्व स्थापन करते हैं। स्वामिचरण कहते हैं—

संसारचक्र क्रकचै विदीर्णम्।

उदीर्णनानाभवतापतप्तम्॥

कथञ्चित् आपन्नम् इह प्रपन्न त्वम् उद्धर श्रीनृहरे नृलोकम्। संसार चक्ररूप अस्त्र से विदीर्ण उत्कट नाना संसार ताप से तृप्त आपद् ग्रस्त नृलोक, किसी प्रकार भाग्योदय होने पर ही तुम्हारी शरण ग्रहण करते हैं, हे श्रीनृहरे! तुम उस नृलोक को उद्धार करो॥३२॥

श्रुतिरूपा आहुः—अमीषु नृषु परम मुक्तेष्वपि राधाप्रिय शुद्ध भावव्रज् जनाराधितस्तव राधारसमग्नस्य शुद्धगोपाल किशोरस्यसन्निधान वर्तिन्या तत् सन्निधानवर्त्तिन्या तत् सन्निधिमात्र क्षोभ्या महा मायया समस्त भगवत् स्वरूप प्रवर्त्यमानया महा नियन्त्र्या भ्रमं संसारभ्रमण-मवगत्यसुधियः परममहाप्रकर्षपरसीमवत्त्वन्महिमनिविष्टबुद्धयो अनुप्रभवं प्रकृष्टो भवो जन्मयस्य प्रकर्षेण प्राप्नोति भगवन्तमिति वा राधाकान्त भाव योग्य शरीर इत्यर्थः। वीप्सायामनु, यो यो योग्या भवति, तस्मिन् तस्मिन् त्वयि भावं दधति धारयन्ति, प्रवर्त्तयन्ति, इत्यर्थः। यद्वा, सुधियस्त्वत् शुद्धभाववर्त्म विश्वस्तधियः अनुगतः प्रकृष्टो भवो जन्म राधा सख्यालङ्कृत गोपकिशोरी रूपेण यत्र तं भावं धारयन्ति, मनागपि तत्र शिथिला न भवन्तीत्यर्थः। त्वां विशुद्ध भावेनानुवर्त्ततां भजतां कथं भवभयं संसार भयस्यात्? तत्तदीयापराध कोटावपि राधाप्रियानुरागिणां न संसारपात इति भावः। यत् यस्मात्तव भ्रूकुटि र्भवच्चरणभिन्नेषु भयं सृजति, श्रीनारायणैक भोक्तानामपि त्वद् भावाभासवत्यपि अपराधिनां क्रोधाज्जाता भ्रूकुटिर्भयं तनोत्येवेत्यर्थः।

नित्यगोप्यस्तु आहुः—अमीषु नृषु व्रजवृन्दावनवर्त्तिषु जीवेषु तव मायया यूयं मम प्राणेभ्योऽपि प्रियतमाः, युष्मात् समः प्रियोनास्ति' इत्येवंविध कपटव्याहारेण भ्रममवगत्य पश्चादनासक्तितो व्याकुलतां

दृष्ट्वा सुधियः सुबुद्धयो गोप्यस्त्वयि त्वन्निमित्तं त्वत् सुखविशेषसम्पत्तये त्वद् वशीकारायेति यावद् भावं दधति। कथम्भूतम् ? अनुगत्या राधानुगतरूपेण प्रकृष्टं भवनं यस्य तं भावमित्यर्थः। राधासख्ये स्थित्वा हि त्वयि तन्यमानो भावस्तस्या इव महान् भवतीतिभावः। त्वद्विषये भावं दधातीति वा। कथम्भूतम् ? प्रकृष्टो भवः कृष्ण प्राप्तिर्यस्याः सा राधा प्रभवा अनुकूला यत्र राधा हि कृष्णे स्व प्रियजनस्य भावेऽनुकूला भवति, राधाया अनुकूलं वा तत् सखीनामेव हि तदनुरूपो भावो भवति, अनुक्षणं प्रकृष्ट त्वद्रम प्राप्ति र्वा यत्रेति, राधानुगत तया वर्त्तमानानां कथं भयम् ? हे भव ! अस्मद् गृहे सदाविद्यमान ! सदा अस्मान् प्राप्नोतीति वा यत् यस्मात्तव भ्रूकुटि र्भवतः शरणं राधा. नहि कामार्त्ति समुद्रे मग्नस्य तव राधां विना अन्यतः स्तदुद्धारो भवति, न विद्यते भवच्छरण राधा येषां सर्वात्मभावेन बाध्या, तेषु गोपी जनेषु भयं कामभयं सृजति, वयन्तु सर्वात्मना राधां प्रपन्नास्त्वत्तो न बिभीम इति भावः॥३२॥

श्रुतिरूपा कहती है—अमीषु नृषु मनुष्यों में मुक्तेष्वपि समस्त मुक्त पुरुषों में, राधाप्रिय शुद्धभाववत् जनापराधतः-राधाप्रिय शुद्धभाव वाले जनों के समीप में अपराध से, तब राधा रसमग्न शुद्ध गोपाल किशोर की सन्निधानवर्त्तिनी, सन्निधिमात्र से क्षुब्ध होने वाली महामाया है, जो समस्त भगवत् स्वरूप को प्रवर्त्तन कर नियन्त्रण करती है, उससे भ्रम संसार भ्रमण अवश्य ही होता है, यह जानकर सुधियः—परम महा प्रकर्ष की सीमा जिसमें है, ऐसी महिमा युक्त तुम्हारी लीला में निविष्ट बुद्धि सम्पन्न व्यक्तिगण अनुप्रभवं-प्रकृष्ट भव उत्तम जन्म, उत्तम रूप जिससे मिलता है, ऐसा भगवत् स्वरूप को राधाकान्त भाव योग्य स्वरूप को प्राप्तकर उनका भजन करते हैं। वीप्सा अर्थ में अनुशब्द का प्रयोग हुआ है, जो जो योग्य होगा, उस उस तुम्हारे स्वरूप में भावं दधति, भाव का प्रवर्त्तन करते हैं. यद्वा, सुधियः तुम्हारी शुद्ध प्रीति मार्ग में विश्वास रखने वाले जनगण, अनुगत प्रकृष्ट भव जन्म को प्राप्त करते हैं, राधा सख्य से अलंकृत गोपकिशोरी रूप से जो भाव प्राप्त होता है, उसको अङ्गीकार करते हैं, ईषत् भी उसको शिथिल नहीं करते हैं। विशुद्ध भाव से तुम्हारे अनुवर्त्तन भजनकारि जनगण का भवभय, संसार भय

कैसे होगा ? तुम्हारे प्रति कोटि अपराध होने पर भी राधा प्रियानुरागि जनगण का संसार पात नहीं होता है, यस्मात् इस कारण से तुम्हारी भ्रूकुटि, तुम्हारी शरणागत भिन्न व्यक्ति को भय प्रदान करती रहती है, जो लोक श्रीनारायण के एकान्त भक्त हैं, और तुम्हारे प्रति भावाभास का आचरण करता है, ऐसे अपराधीगण के प्रति क्रोध से उत्पन्न तुम्हारी भ्रूकुटि भय का सृजन करती रहती ही है ।।३२।।

श्रुतिरूपा गोपी कहती है–अमीषु नृपु व्रज वृन्दावनवासी जीवगण के प्रति तुम्हारी माया, तुम सब मेरे प्राण से भी प्रियतम हो, तुम सबके समान कोई भी मेरा प्रिय नहीं है। इस प्रकार कपट उक्ति से भ्रम को जानकर पश्चात् अनासक्ति से व्याकुलता को देखकर सुधियः, सुबुद्धिमती गोपीगण तुम्हारे लिए सुख विशेष के लिए, तुम्हें मुग्ध करने के लिए सब प्रकार से भाव धारण करती है। किस प्रकार भाव ? अनुगत्या, राधा-नुगत रूप से ही जिस भाव की उत्पत्ति होती है, राधा सख्य में स्थित होकर ही तुम्हारे प्रति भाव विस्तार श्रीराधा के भाव के समान ही सुमहान् होता है, तुम्हारे विषय में श्रीराधा के समान ही भाव वे सब रखती हैं, वह किस प्रकार है ? प्रकृष्ट रूप से कृष्ण प्राप्ति जिसकी होती है, वह ही श्रीराधा है, उनका अनुकूल जिसमें है। श्रीराधा श्रीकृष्ण के प्रति एवं कृष्ण के प्रियजन एवं निज प्रियजन के प्रति उन सबके उल्लास कर आचरण सर्वथा करती रहती है, उनकी सखियों के आचरण, भाव सर्वथा श्रीराधा के उल्लास के लिए ही होता है, अनुक्षण निरन्तर प्रकृष्ट रस की प्राप्ति जिसमें होती रहती है, इस प्रकार राधानुगत्य में निरन्तर निरत व्यक्तिगण के लिए भय की बात कैसे हो सकती है ? हे भव ! हम सबके घर में सदा विद्यमान तुम हो। सदा हम सबको प्राप्त करते हो, इसलिए ही तुम्हारी भ्रूकुटि, तुम्हारी शरण श्रीराधा है, कामार्त्ति समुद्र में निमग्न तुम्हारा उद्धार, राधा के बिना दूसरे से हो ही नहीं सकता है। तुम्हारी शरण रूपी राधा जिस गोपीजन के प्राण सर्वस्व नहीं हैं, जो उनके आनुगत्य के बिना ही चलते हैं, उन सबमें भय होता है, काम भय का सृजन होता है, हम सब तो सर्वात्मना राधा में प्रपन्न हैं, तुम से डरती नहीं हूँ ।।३२।।

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगम्,
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणम्,
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥३३॥

सान्वयव्याख्या

हे अज ! ये गुरोः चरणं समवहाय (अनाश्रित्य अतिलोलं) (अति-चञ्चलं विजित हृषीक वायुभिः) (विजितानि हृषीकानि इन्द्रियाणि च वायुः प्राणः च यैस्तैः योगिभिः) अदान्तमनस्तुरगम् (अदान्तम् अदमितम् मनः एव तुरगः तम् यन्तुम् (नयन्तुम्) यतन्ति (प्रयतन्ते) उपायखिदः उपाये खिद्यन्ते क्लिश्यन्ति इति तथा) व्यसनशतान्विताः (बहुव्यसनाकुलाः च सन्तः) अकृत कर्णधराः (अस्वीकृतनाविकाः) वणिजः जलधौ (समुद्रे) इव इह (संसार समुद्रे) सन्ति (निमग्नाः भवन्तीत्यर्थः) ॥३३॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—(कर्मनिष्ठानां अभक्तानां प्रसङ्गेन केवलशुष्क ज्ञानाः योगिनोऽपि निन्दन्ति) हे अज ! (जीववज्जन्मरहित !) गुरोः श्रीब्रह्मादीनामपि उपदेशकस्य तव) चरणं (पादपद्म) समवहाय (सं-सम्यक् अव-पूरतः हित्वात्यक्त्वा) ये (योगिनः) अतिलोलं (अति चञ्चलं) विजित हृषीकवायुभिः प्राणायामादिना विजितरिन्द्रियप्राणैः) मनस्तुरगं यन्तुं (वशीकर्त्तुं) यतन्ति (यत्नं कुर्वन्ति ते) उपायखिदः (साधनक्लिष्टाः) व्यसन शतान्विताः (बहुव्यसनाकुलाः च सन्तः) अकृत कर्णधरा वणिजः जलधौ (समुद्रे) इव इह संसार समुद्रे) सन्ति निमग्नाः भवन्तीत्यर्थः) ॥३३॥

हे अज ! जो जन श्रीगुरु चरणाश्रय न कर अतिचञ्चल एवं विजितेन्द्रिय योगीगण के अदम्य मनोरूप तुरङ्गम को संयत करने के लिए यत्न करता है वह कर्णधार विहीन नौकाश्रित जलधिजलवणिक की भाँति उपायक्लिष्ट एवं बहुविपद् युक्त होकर संसार समुद्र में निमग्न होता है, अर्थात् दुःख प्राप्त होता है ॥३३॥

श्रीसनातनसम्मत व्याख्या—कर्मनिष्ठ अभक्तगण के प्रसङ्ग में केवल शुष्क ज्ञान परायण योगीगण की निन्दा करते हैं-हे जीववज्जन्म रहित ! जो लोक श्रीब्रह्मा प्रभृति के उपदेशक आपके चरणकमल को दूर से ही परित्याग कर प्राणायामादि के द्वारा विजित इन्द्रिय एवं प्राण के द्वारा अति चञ्चल मन रूप तुरङ्गम को वशीभूत करने का प्रयत्न करता है; वह साधनक्लिष्ट एवं अनेक विपत्ति से आकुल होकर कर्णधार विहीन नौकाश्रित वणिक जिस प्रकार समुद्र में निमज्जित होता है, उस प्रकार संसार में निमज्जित होता है ॥३३॥

गुरुकरण एकान्त आवश्यक है-विंश श्रुत्यभिमानिनीं देवता स्तुति करते हैं—भगवद् भक्ति से ही मनोनिरोध होता है, एवं मनोनिरोध होने पर ही भक्ति होती है, मनोनिरोध के लिए श्रीगुरुवरण करना श्रुतियों का विधान है।

(१) तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एव अभिगच्छेत् ।
समित् पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

'ब्राह्मन् कर्मचितान्' संसार गति प्राप्त लोक की परीक्षा प्रत्यक्ष, अनुमान आगम वाक्य द्वारा करके वैराग्य का अवलम्बन करे। समित्पाणि होकर श्रीगुरुदेव के निकट गमन करे, रिक्त हस्त न जाय। अपर वस्तु का अभाव होने पर हाथ में अति स्वल्प काष्ठ लेकर भी गमन करे। गुरु किस प्रकार होना आवश्यक होगा ? श्रुत्यर्थ ज्ञान सम्पन्न शास्त्रज्ञ जो केवल ब्रह्मनिष्ठ है, अर्थात् जिन्होंने अपर कर्माकर्म का त्याग किया है, ऐसे ही गुरु के समीप में ज्ञान प्राप्त करने के लिए गमन करे। विद्वान् व्यक्ति स्वयं ही सब जान सकता है, गुरु की श्रुति का उत्तर इस प्रकार है—

(१) आचार्यवान् पुरुषः वेदः ।

जिसने गुरुचरणाश्रय किया है, वह ही ब्रह्म को जान सकता है, अपर व्यक्ति नहीं जान पायेगा।

(२) नैषा तर्केण मतिः आपनेया। प्रोक्ता अन्येन एव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ! कठ।

हे प्रेष्ठ नन्दिकेत ! उत्पन्न आगम प्रतिपाद्य आत्ममति को नष्ट न करो, किन्तु अपर आगमाभिज्ञ आचार्य के उपदेश द्वारा मति सुस्थिरा होती है, यह मति तर्क से नहीं मिलती है, किन्तु श्रीगुरु के उपदेश से उपलब्ध होती है।

स्वामिचरण के मत में—

यदा परानन्दगुरो भवत्पदे पदम् मनो मे भगवत् लभेत् ।
तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपातः ॥

हे भगवन् ! परानन्द गुरो ! मेरा मन, आपके चरणों में स्थान लाभ करता है, तब ही आपकी कृपा से मेरा अखिल साधन श्रम निरस्त होगा एवं सुख लाभ भी होगा ॥३३॥

श्रुतिरूपा आहुः—विशेषेण वशीकृतेन्द्रिय वायुभिरपि परमभक्त्या समाधि गृहीत चरणारविन्दैरपि न दमितो न स्वायत्तीकृतो मनस्तुरगो यस्य तं त्वां यन्तुं वशीकर्त्तुं ये यतन्ति। वशीकरणे हेतुः—शुद्धभावोदयाय साधनानुष्ठानं कुर्वन्ति, गुरोश्चरणं समवहाय शुद्धभावैक निष्ठ गुरोश्चरणं त्यक्त्वा तत् उपदेशमगृहीत्वा स्वातन्त्र्येनैव इत्यर्थः। ते उपायैः क्लिश्यन्ते सम्यगुपायापरिज्ञानेनानुपायानाम् एवोपायत्वेन ग्रहणाद्‌देश्यासम्पत्तेः। व्यसन शतान्विताः कदाचिन्महत्त्वमत्व प्रथा मोहिततया शुद्ध भावाशातोऽपि भ्रंशः स्यात्। पुनः सङ्क्रान्तरेणाशावन्ध इत्येवं व्यसन शतैरन्विता इस संसार एव सन्ति तिष्ठन्ति, नतु शुद्धभाव प्राप्त्या उत्तीर्य गच्छन्तीत्यर्थः। हे अज ! अजस्र परिपूर्ण परमानन्दरस साम्राज्यसार सर्वस्वनिधान ! मूर्त्या चक्षुरादि विषयोऽन्तः करणगोचरो वा नैव जायते विशुद्धभाव विना ते अकृत कर्णधारा इव वणिजो जलधौ सन्ति, नोत्तरीतुं शक्नुवन्ति। एवं तादृश गुरुचरण विश्वासपूर्वक परिचरणं विना शुद्धभाव वर्त्मन्यसत्त्व बुद्धि र्न गच्छति। नवा तत्र महती प्रत्याशोदेति, नवा तत् साधनमतिगहनम्, महाभागवतै रप्यगम्यं जानाति।

नित्यगोप्यस्तु आहुः—विजित हृषीक वायुभिः सर्वेन्द्रिय वृत्तयः समस्त प्राणादि वृत्तयश्च त्वद्‌विषया एव यासां ताभिश्चन्द्रावल्यादिभिरपि दमित मनस्तुरगं त्वां ये गोपीजना अन्ये यन्तुं वशीकर्त्तुं यतन्ति,

सेवादिभि र्नृत्य गीतादि विनोदैस्तैरुपायखिदस्तैरुपायैः क्लिश्यन्ति, परंदुःख शतान्विता इह उपाय चिन्तार्णवे मग्ना एव सन्ति, गुरोः श्रीराधायाः सैव हि सर्व प्रकारेण गरीयसी, अनुरागेण रूपेण वैदग्ध्यादिभिश्च। त्वच्चरण-मवहाय वशीकरणं कथं भवेत्? तच्चरणैकान्त भक्तौ तस्याः प्रसादेन तद्वशीकरण समस्त गुणमाधुरी सम्पत्त्या स्वयमेव वशीभवसीत्यर्थः। हे अज! राधाप्रिय परिजन भिन्नानां कदापि विषयो न जायत इति ॥३३

श्रुतिरूपा गोपी कहती है— विशेष रूप से जिन्होंने प्राण वायु संयम द्वारा इन्द्रियों का संयमन कर लिया है, परम भक्ति के द्वारा समाधिस्थ होकर भगवच्चरणों में मन निवेश किया है, उन्होंने मन रूपी अश्व को अपने अधीन करके ही आपको निज वश में लाने के लिए यत्न किया है, वशीकरण में हेतु है, शुद्धभाव, उस शुद्धभाव का उदय हो इसलिए साधन अनुष्ठान वे करते रहते हैं। किन्तु श्रीगुरु चरण को परित्याग करके ही साधन में रत हैं। शुद्धभावनिष्ठ गुरु चरण को परित्याग कर, उनसे साधन विषयक उपदेश न ग्रहण कर ही स्वतन्त्र रूप से ही अनुष्ठानरत हैं, वे सब अपनाये हुए साधनों से ही क्लेश प्राप्त करते हैं। एक तो साधन का सम्यक् ज्ञान स्वयं नहीं होता, द्वितीयतः जो साधन नहीं हैं, उसमें साधन बुद्धि कर लेते हैं, अतः उद्देश्य सिद्धि नहीं होती है, व्यसन शतान्विता शतशत विपत्ति आ जाती है, कभी तो प्रथा में महत्व स्थापन कर चलते हैं, इससे शुद्धभाव की आशा भी हृदय से चली जाती है, और शुद्धभाव प्राप्ति की आशा से मुक्त हो जाते हैं। पुनर्बार सत्सङ्ग प्राप्त होने पर शुद्धभाव की आशा होती है, इस प्रकार शतशत विपत्ति ग्रस्त होकर इस जन्ममृत्यु प्रवाह में पड़ जाते हैं। किन्तु शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं होती है, उद्धार की बात तो दूर रहती है, हे अज! अजस्र परिपूर्ण परमानन्दरस साम्राज्यसार सर्वस्वनिधान! विशुद्ध भाव के बिना आप चक्षुरादि का विषय एवं अन्तःकरण के भी विषय नहीं होते हैं, वे लोक बिना नाविक की नाव में आरोही समुद्र वणिक के समान होते हैं, उद्धार प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं, इस प्रकार शुद्ध श्रीगुरु चरण की परिचर्या विश्वासपूर्वक न करने पर शुद्धभाव मार्ग में अनास्था बुद्धि हटती नहीं। न तो शुद्धभाव मार्ग प्राप्ति के लिए महती आशा ही होती है, न तो उसका अति गहन

साधन का अवलम्वन ही होता है, वह मार्ग महाभागवत के लिए भी अगम्य है, यह भी वे लोक नहीं जानते हैं।

नित्य गोपी कहती है—जिन्होंने समस्त इन्द्रिय वृत्ति समस्त प्राण वृत्ति का संयम कर उसको तुम्हारे प्रति नियुक्त किया है, ऐसे चन्द्रावली प्रभृति ने निज मन रूपी तुरङ्ग को अपने वश में किया हैं, और जो अन्य गोपीजन हैं, जो लोक तुम्हें अपने वश में रखना चाहते हैं, वे सब ही सेवा नृत्य, गीत प्रभृति साधनों को अपनाते हैं, और क्लेश प्राप्त करते हैं, और शतशत उपाय उद्भावन करते-करते चिन्ता सागर में निमज्जित हो जाते हैं, कारण, गुरु श्रीराधा ही है, वह सब प्रकार से श्रेष्ठ है, अनुराग से, रूप से, वैदग्धी प्रभृति से। उनके चरण को अनादर कर तुम्हारा वशीकरण हो सकता है? श्रीराधा चरणों में एकान्त भक्ति होने पर उनकी प्रसन्नता होगी, इससे तुम वशीभुत होते हो। श्रीराधा की प्रसन्नता से तुम्हारी वशीकरण सामग्री समस्त रूप गुण माधुरी सम्पत्ति स्वयं ही आ जाती है। हे अज! राधा प्रियजन भिन्नजन के समीप में तुम कदापि नयन का विषय नहीं बनते हो।३३।

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै,
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां,
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥३४॥

सान्वयव्याख्या

सर्वरसे (सर्वेरसाः सुखानि विद्यन्ते यस्मिन् तथाभूते) श्रयतः (त्वां सेवमानस्य पुंसः) आत्मनि (आत्मस्वरूपे) त्वयि सति (वर्त्तमाने) नृणां (भवत् भजनमकुर्वतां) स्वजनसुतात्मदार धनधाम धरासुरथैः (स्वजनाः स्वीय सेवकाः च सुताः गुणवन्तः पुत्राः च आत्मा सुन्दरं शरीरं च दाराः सुन्दर्यकामिन्यः च धनानि स्वर्णरत्नादि सम्पदः च धामानि गृहाः च धरा भूयसी पृथ्वी च असुः प्राणः च रथाः च ते तैः) किं (कः उपयोगः स्यात्?)

इति (भवद्भजनरूपं) सत् (सत्यं परमार्थ सुखं) अजानतां मिथुनतः (स्त्रियासह मिथुनीभूयेत्यर्थः) रतये चरतां प्रवर्त्तमानानां पुंसां कर्म्मणि षष्ठी) स्वविहते (स्वत एव नश्वरे) स्व निरस्त भगे (स्वतएवगत सारे इह संसारे) कः नु सुखयति (आनन्दयति, न कोऽपीत्यर्थः) ॥३४॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—श्रीव्रजवासिनां पुनरपि भावमाहुः भजतः आत्मनि (प्रिये यद्वा स्वविषये) सर्वरसे (सम्पूर्ण परमानन्दे) त्वयि सति विराजमाने) नृणां श्रीव्रजवासिनां) स्वजन सुतात्म दारधन धामधरा सुरथैः (स्वजनाः च सुताः च आत्मा च दाराः च धनानि च धामानि च ते तैः) किं (न किमपि प्रयोजनं, तेषां एतत् सर्वं भवदर्थ मेवेति भावः) इति (एवं भवद्भजनं) सत् (सत्यं) अजानतः रतयेमिथुनतः चरतां (प्रवर्त्तमानानां जनानां कर्मणि षष्ठी) स्वविहते स्वनिरस्ते भगे इह (संसारे कः नु सुखयति (भवद्भजनमन्तरेणान्यत किमपि सुखं नास्ति विषय सुखस्य अत्यन्त विरसत्वात् नश्वरत्वाच्च इत्यर्थः ॥३४॥

परमानन्दमय एव भजन परायणजन के आत्म स्वरूप आपके वर्त्तमान में आपका भजन न करने पर मानवों का स्वीय सेवक, गुणवान् पुत्र सुन्दर शरीर, सुन्दर कामिनी, स्वर्ण रत्नादि सम्पद्, गृह, भूमि एवं रथ के द्वारा कुछ भी सुख नहीं होता है, और आपका भजन रूप परमार्थ सुख को न जानकर पुरुषगण स्त्री के साथ एकत्र होकर केवल रति के निमित्त प्रवर्त्तित होने पर स्वभावतः नश्वर एवं सार शून्य इस संसार में कौन पदार्थ मानव को प्रकृत सुख प्रदान कर सकता है ? कोई नहीं अर्थात् आपका भजन व्यतीत परमार्थ सुख की सम्भावना ही नहीं है।

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—व्रजवासियों के भाव की वर्णना करते हैं, आपके भजन परायण जनगण प्रिय सम्पूर्ण परमानन्दमय आपकी विराजमानता में व्रजवासियों का स्वीय सेवक, गुणवान् पुत्र, सुन्दर शरीर, सुन्दरी कामिनी स्वर्णालङ्कार प्रभृति सम्पत् गृह, गोष्ठाश्रय नन्दीश्वर प्रभृति गिरि सकल, प्राण, उत्तम शकट प्रभृति से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, कारण, अन्य के लिए ही ये सब वस्तु की आवश्यकता होती है, और आपके भजन को सत्य न जानकर जो लोक केवल रति के

लिए ही स्त्री के साथ मिलित होता है, उसको स्वभावतः नश्वर, सारशून्य सांसारिक पदार्थ क्या सुख प्रदान कर सकता है ? अर्थात् विषय सुख क्षणिक एवं परिणाम में गरल उद्गिरण करने वाला है, सुतरां आपका भजन को छोड़कर प्रकृत सुख लाभ का अन्य कोई उपाय नहीं है ॥३४॥

भगवद् भजन एवं विषय वैराग्य ही मानव जीवन का ध्येय है, एक विंश श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तुति करते हैं—(१) परीक्ष्य लोकान् कर्म चितान् ब्राह्मण: निर्वेदं आयात् नास्ति अकृत कृतेन। (२) यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये अस्य हृदि श्रिताः अथ मर्त्यः अमृतः भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते। विद्वान् का जो जो काम ज्ञान प्राप्त होने के पहले वासना रूप में मन में था, वह सब काम जब नष्ट होते हैं, उसके पश्चात् ही अमृत होता है। इस अवस्था में ही दीप निर्वाण के समान सर्व बन्धन का उपशम हेतु वह मानव ब्रह्म होता है, काम मनोधर्म है, आत्म धर्म नहीं। मनुष्य आनन्द (१) स य मनुष्याणां राद्ध समृद्धः भवति, अन्येषाम् अधिपतिः। सर्वैः मानुष्यकैः भोग्यैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परमः आनन्दः। जो जन सब मनुष्यों के मध्य में राद्ध समृद्ध होता है, वह मनुष्य का अधिपति होता है, वह सर्व मनुष्य भोग्य पदार्थ लाभ करता है, उसका आनन्द ही मनुष्य का परमानन्द है।

पितृलोक का आनन्द—अथ ये शतम् मनुष्यानाम् आनन्दाः स एक पितृलोकः आनन्द। शतगुण मानुष आनन्द पितृलोक के लिए एक मात्रा के समान है।

गन्धर्व लोक का आनन्द—अथ ये शतम् पितॄणाम् जित लोकानाम् आनन्दाः स एकः गन्धर्व लोक आनन्दः। शतगुण पितृलोक का आनन्द गन्धर्व लोक के लिए एक मात्रा के समान होता है।

कर्म देवलोक का आनन्द—अथ ये शतम् गन्धर्व लोकानाम् आनन्दाः स एकः कर्म देवानाम् आनन्दः। शतगुण गन्धर्व लोक का आनन्द कर्म देवलोक के लिए एक मात्रा के समान है।

आजान देवलोक का आनन्द—अथ ये शतम् कर्म देवानाम् आनन्दाः स एकः आजान देवानाम् आनन्दः शतगुण कर्म देवता का आनन्द आजान

देवता के लिए एक मात्रा के समान है। आजान देवता अधिकारी इन्द्रादि देवता का नाम है।

प्रजापति लोक का आनन्द—अथ ये शतम् आजान देवानाम् आनन्दा:, स एक: प्रजापति लोक आनन्दा। शतगुण आजान देवता का आनन्द प्रजापति लोक का आनन्द एक मात्रा के समान होता है।

ब्रह्मानन्द—अथ ये शतम् प्रजापति लोक आनन्द: स एकः ब्रह्मण: आनन्दः। शतगुण प्रजापति लोक का आनन्द ब्रह्मानन्द की एक मात्रा की भाँति है, ब्रह्मानन्द ही परमानन्द है, अथ एष एव परमानन्द: एष अस्य परमानन्द:। एतस्य एव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति ब्रह्मानन्द ही परमानन्द है, यह ही परमानन्द है, समस्त भूतगण इस ब्रह्मानन्द की एक मात्रा अंश, कणा को लेकर ही जीवित रहते हैं। जो लोक इसको नहीं जानता है, वह स्त्री ग्रहण करता है, और उसके साथ रति क्रीड़ा में प्रवृत्त होकर रस आस्वादन करता है, किन्तु स्वत: ही गतरस विषय से वह सुखी नहीं होता है, अतएव भगवान् को जानने के लिए उनका भजन करना आवश्यक है।

स्वामिपाद कहते हैं—

भजत: हि भवान् साक्षात् परमानन्द चिद्घन:।
आत्मा एव किम् अत: कृत्यं तुच्छसुतदार सुतादिभि:॥

जो जन आपका भजन करता है, उसके लिए आप परमानन्द चिद्घन आत्मा होते हो। अतएव तुच्छ सुत धनदार प्रभृति से क्या प्रयोजन है।

श्रुतिरूपा आहु:—त्वयि राधिका सङ्केक रसमग्ने विशुद्ध पूर्ण मधुरोज्ज्वलानुराग शक्ति विलासिनी आत्मनि अन्त:करणे सति केनापि महाभागधेयेन तादृश महामहत्तमानुग्रहादिनाहृद्यायाते सति स्वजनादिभि: किं क उपयोग स्तव भजने स्वजन भावेन भजन हि स्वजनानुसन्धान-मुपयुज्यतेकृष्णस्यैते स्वजना: स्तेष्वहमप्येक इति भावनया तद्वत् स्नेहानुबन्धं करोतीति सुतानुसन्धानोपयोग:। कृष्णस्यात्मतादर्थ्यभावेन स्नेहास्पदीभूतोऽमुकस्तस्य च कृष्ण एव महमपि स्यामिति भावबन्धे

आत्मानुसन्धानोपयोगः, कृष्णस्य दारा इमे, तत् सङ्गरसं प्रतिभावतः समुपलभ्यन्ते, तथाहमपि कथं तादृश भावनया भावबन्धं करोमीत्येवं भजने दारानुसन्धानोपयोगः। कृष्णस्य धनरक्षिण एते भृत्या गोधनादि वा तथाहमपि तत् सम्बन्धेन तद्भक्तिरसमनुभावयामीत्येवं भजने धनानुसन्धानोपयोगः। कृष्णस्य इदं धाम—तत्रस्थानां तस्मिन्नत्यन्तमहा-भक्तिरतेषु च (भा० १०।१४।३०) येनाह मेकोऽपिभवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् इत्येवं भगवद् भजने धामानुसन्धानोपयोगः। धाम निवास स्थानम्, धरा तदीयत्वेन साधारण भूमिः, यथा व्रज वृन्दावनमण्डले मुख्य ग्रहं विहारादि भूमिश्च, असवः प्राणाः कृष्णेन अमुकस्य प्राणरक्षणं कृतम्, प्रीत्या तस्य च साधारण प्रेम विषय इत्यहमपि तद् भावेन भजामीत्येवं भजत प्रकारेऽस्वनुसन्धानोपयोगः। एवं दारुकादे गरुड़ादेश्चरथ सम्बन्धेन भक्ति रसोल्लास स्तथा भाववतो ममापि रसानुभवः स्यादिति भजने रथानुसन्धानोपयोगः। एवं मिश्रशुद्धभाव-भजनोपयोगिभिः स्वजनादिभि स्त्वयि स्वप्राणसखभाववतः स्वस्य प्राणसर्वस्व भूततया हृद्यागते क्व उपयोगः ? तत्र हेतुः—सर्वे रसा यस्मिन् सर्वेषामेव मिश्र शुद्धप्रेमरसानां त्वमेवाश्रयः। अतस्त्वयि हृद्गते पूर्ण महारसमये न्यूनरसोपयोग्यनुसन्धानेन किं प्रयोजनमित्यर्थः। सर्वेरसा यस्मादिति वा एतच्छक्ति प्रवृत्त्यत्वादन्य रसानामेतद्रस एव च सर्वेरसा अन्तर्भूता (वृ० ४।३।३२) एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति इति श्रुतेः। (तै० २।७।१) रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति इति च। रसानां च मुख्यः शृङ्गारः शृङ्गं प्राधान्यमियर्त्ति इति व्युत्पत्तेः। तस्यापिपूर्णता विशुद्धाद्यरतिमय गोपसुन्दरीणां शिखामणौ श्रीराधायामेव-रेणु-कामाग्निना अधिकेति 'राधिका' पद व्युत्पत्तेः रस आ सम्यग् दधातीति राधा समाख्यातेश्च, राति सम्भोग सुखं चैव परमं शुद्धरति-नायकशिखामणेः श्रीकृष्णस्य धारयति च चैव सदा तं पिबति वा। रायं धनं स्वप्राण सर्वस्व भूतं सदा धारयति सदा वहिरन्त धारको यस्या इति, इत्येवं प्रकारेण सत् सर्वोत्कृष्टं तव स्वरूपं अजानतां मिथुनतो या या रतिः श्रीकृष्णे तदर्थं चरतां चेष्टमानानां कोन्वर्थः, प्राप्तोऽपि कृष्ण-

सङ्गादि किं तान् सुखयति, राधिका पराधीनस्य तदेक जीवनस्य श्रीकृष्ण सङ्गोहि परम महादुर्घटः कथञ्चित् कदाचित् जातोऽपि महादुरन्त दुःख कारण एव स्वतः एव विहतो विघ्न सहस्र पराहतः स्वै राधापरिजनै विहितः, कथञ्चित् कृपा पारवश्येन कृष्णेच्छायामपि तेषां तदसहनात्, स्वत एव निरस्त श्रीकच्च। नहि, राधाप्रिय सखीनामिव अन्यासां रस सम्पदिति। सप्तम्यन्ते त्वयि। कथम्भूते? सुष्ठु अविहते केनापि कथमपि न विघ्निते सुष्ठु अनिरस्त कामे चेति ॥३४॥

नित्यगोप्यस्तु आहुः—त्वयि श्रीकृष्णचन्द्रे, महारसिक मुकुटमणौ अस्माकमात्मनि च श्रीराधिकायां सर्वः सम्पूर्णो रसोयस्य तथा भूते सर्वरसा श्रये वा, इति श्रीवृन्दावन वाटिकायामस्यां राधासाधारण निकेते वर्त्तमाने स्वजनादिभिः किम्? स्वजनाद्यपेक्षया प्रयोजनं नास्ति, स्वजनाः पित्रादि सम्बन्धिनो ज्ञातयः उपनन्दाद्याः स्वतो बलदेवः स्वपित्रोः स्वस्मिन्निव तस्मिन्नपि पुत्रबुद्धिः। आत्मानो वयस्याः श्रीदाम सुबलाद्या,ः धनं गोधनम्, धाम पितृमन्दिरम्, धरा समस्तव्रजभूमयः, गोकुलं स्थानं वा, असुभिः प्राणतुल्यै रन्यै र्वा रथै र्वाहनै र्वा शकटादिभिः, रथस्थै दिव्यविमानगतै र्ब्रह्मादिभि र्वा व्रज तिर्यगादिभावाशंसकैः किम्? श्रुतयः आश्रयणात् परस्पर सेवनाद्वा, सर्वात्मभावेन इहैवाश्रयकरणाद्वा, पूर्वन्तु राधा परिचयात्। इति एवं प्रकारेण सदुत्कृष्टरस साम्राज्यमजानतां श्रीपतां मिथुनीभूय रतये क्रीड़ायै चरतां, विचरतां को नु वितर्क इत्यर्थः। गोपीसङ्गादिः सुखयति, बहुवचनं वयस्याभिप्रायेण। तेषां तत्रैवानुकूल्यात्। स्वतः एव विहतो राधाच्छटालोके स्वत एव तत्र तुच्छ बुद्धेः, स्वत एव निरस्तशोभे, सप्तम्यन्ते। सुष्ठु अनिरस्त भगे स्वतएवान्यसङ्गो विहतो यस्य, अन्य गोपी दर्शनेऽपि शक्ति कौण्ठयात् ॥३४॥

श्रुतिरूपा गोपी कहती है—त्वयि राधिका सङ्ग रसमग्न विशुद्ध पूर्ण मधुर उज्ज्वल अनुराग शक्ति विलासी तुम हो, महाभाग्योदय होने पर यदि उस प्रकार महानुभाव की अनुकम्पा से अन्तःकरण यदि उस प्रकार भाव पूर्ण होती है, तब तुम उस अन्तःकरण में आविर्भूत होते हो, तब स्वजन प्रभृति का उपभोग कब होगा? तुम्हारे भजन में स्वजन भाव से

भजन में ही स्वजन का अनुसन्धान का उपयोग होता है। कृष्ण के ये स्वजन हैं, उसके मध्य में मैं भी एक हूँ, इस प्रकार भावना से ही श्रीकृष्ण प्रेम सम्भव है, उसके बिना शुद्ध प्रीति हो ही नहीं सकती। श्रीकृष्ण अमुक का पुत्र है, मैं भी उस प्रकार हूँ, इस प्रकार भावना से ही उस प्रकार स्नेहानुबन्ध श्रीकृष्ण के साथ स्थापन करेंगे, इस प्रकार पुत्र भावानुसन्धान का उपयोग होता है, कृष्ण का भाव भी अपने लिए वैसा होता है, स्नेहास्पद अमुक है, और उसका कृष्ण ही है, मैं भी वैसा बनूँगा, इस प्रकार भाव बन्ध में आत्मानुसन्धान का उपयोग होता है, कृष्ण की पत्नी ये सब हैं, पतिभाव से ही थे सब श्रीकृष्ण का सङ्ग रस को प्राप्त करती हैं, उस प्रकार मैं भी किस प्रकार उक्त भावना से भावबन्ध करूँगा, इस प्रकार भजन में दारा अनुसन्धान का उपयोग होता है। कृष्ण का यह धाम है, वहाँ के निवासियों में श्रीकृष्ण के प्रति अत्यन्त महाभक्ति है, उसमें आपके जनों में कोई एक होकर आपके चरणकमल का भजन करूँगा, इस प्रकार भगवद् भजन में धाम का उपयोग है, निवास स्थान को धाम कहा जाता है। उनकी साधारण भूमि को धरा कहा जाता है, जिस प्रकार व्रज वृन्दावन मण्डल में सुखगृह है, और विहार भूमि भी है।

असब शब्द से प्राण को ग्रहण करना होगा, कृष्ण ने अमुक की प्राण रक्षा की, प्रीति से वह कृष्ण का असाधारण प्रेम का पात्र है, इस प्रकार मैं भी वैसा भाव से भजन करूँगा, इस प्रकार भजन प्रकार में स्व पर का अनुसन्धान होता है, एव दारुक गरुड़ प्रभृति का रथ के सम्बन्ध में भक्ति रसोल्लास होता है, उस प्रकार भाव वाला मेरा भी रसानुभाव हो, इस प्रकार भजन में रथ अनुसन्धान का प्रयाग होता है। इस प्रकार मिश्र शुद्धभाव भजनोपयोगि स्वजन प्रभृति का उपयोग कहाँ पर होगा ? आपके प्रति निज प्राणसखाभाव स्थापन करने वाले का आदर्श भाव निज प्राण सर्वस्व हो, इस प्रकार भावना चित्त में उपस्थित होने पर उसका उपयोग कहाँ होगा ? उसमें हेतु उपस्थित करते हैं—सर्वरस हो जिसमें सर्वरस विद्यमान है, सबके मिश्र शुद्ध प्रेमरस प्रभृति का आश्रय एकमात्र आप ही हो, अतएव आप हृदय में निविष्ट होने पर पूर्ण महा रसमय में न्यून

रसोपयोगि रस के अनुसन्धान से प्रयोजन ही क्या होगा ! सकल रस जिससे होते हैं, इस अर्थ से इस शक्ति से ही सब प्रवृत्त होते हैं, अन्य रस समूह भी इस रस में अनुर्भुक्त हो जाते हैं, ऐसी प्रतीति होती है, वृहदारण्यक श्रुति कहती है, इनके आनन्द से ही अपर सब आनन्द जीवित रहते हैं. तैत्तिरीयक में वर्णित हैं. वह ही रस स्वरूप हैं, रस ही रस को प्राप्तकर आनन्दित होते हैं। रसों का मुख्य रस शृङ्गार है, शृङ्ग प्राधान्य-मियर्त्ति इस प्रकार व्युत्पत्ति से वैसा होता है। उसकी भी पूर्णता विशुद्ध आद्य रतिमय गोपसुन्दरियों की शिखामणि श्रीराधा में ही है, राधिका पद की व्युत्पत्ति भी रेण कामाग्निना अधिका' इस प्रकार है, रम् आ, सम्यक् दधातीति राधा नाम होता है, कान्त की सकल इच्छा पूर्त्ति करती है, राति सम्भोग सुख, परम रति नायक शिरोमणि श्रीकृष्ण का सुख सम्पादन करती है, श्रीकृष्ण को धारण करती है, एवं सर्वथा आस्वादन करती है, वह राधा है, राय शब्द का अर्थ धन है। निज प्राण सर्वस्व भूत श्रीकृष्ण को जो धारण करती है, एवं श्रीकृष्ण जिसका अन्त: बाहर का धारण करते हैं, इस प्रकार से राधा शब्द होता है। इस प्रकार से आपका सर्वोत्कृष्ट स्व रूप को न जानकर जो लोक मिथुन भाव से रति का प्राधान्य स्थापन कर श्रीकृष्ण का भजन करता है, उसको क्या मिलता है ? कृष्ण सङ्ग को यदि प्राप्त भी कर लेता है, तो भी क्या कृष्ण को सुखी कर सकता है ? राधिका पराधीन राधिका जीवन सर्वस्व कृष्ण का सङ्ग परम महा दुर्घट है, किसी प्रकार से सङ्ग होने पर भी महा दुरन्त दुःख कारण उपस्थित होता है, एव स्वाभाविक विघ्न सहस्र द्वारा पराभूत हो जाता है। राधा परिजनगण ही विघ्न उपस्थित करते हैं, कृपावश होकर एवं कृष्ण की इच्छा से ही उस प्रकार भाव को सहन वे लोक नहीं करते हैं। स्वाभाविक ही शोभाहीन वह हो जाता है, श्रीराधा प्रिय सखीगण के समान अपर की सुख सम्पत्ति नहीं होती है। सप्तमी विभक्ति में त्वयि होता है, किस प्रकार तुम हो उत्तर रूप से अवहित हो, कोई भी किसी भी प्रकार से रसास्वादन में विघ्न नहीं कर सकता है ॥३४॥

नित्यगोपी कहती हैं—महारसिक मुकुटमणि तुम कृष्णचन्द्र हो, और हमारी आत्मा श्रीराधा है, दोनों हैं, दोनों में सम्पूर्ण सकल रस है, इस प्रकार सर्व रसाश्रय तुम दोनों श्रीवृन्दावन वाटिका राधा के निकेत में रहते हुए स्वजनों से क्या प्रयोजन है स्वजनादि की कुछ भी अपेक्षा नहीं है, स्वजन, पिता प्रभृति, उनके सम्बन्धिगण, ज्ञाति, उपनन्द प्रभृति, बलदेव की पितृ बुद्धि अधिक है, एवं बलदेव के प्रति श्रीनन्द महाराज की पुत्र बुद्धि अधिक रूप में है। अपने सखागण, श्रीदाम सुबल प्रभृति, धन, गोधन, धाम, पितृ, मन्दिर, धरा समस्त व्रजभूमि, गोकुल स्थान, असुभि, प्राण तुल्य अन्य रथ वाहन शकट प्रभृति, रथ स्वदिव्यविमान स्थित ब्रह्मादि जो व्रज में तिर्यक् शरीर प्राप्त करने के अभिलाषी हैं, इन सबों से क्या प्रयोजन है? श्रवण से परस्पर सेवन से, सर्वात्मभाव से आश्रय ग्रहण करने पर ही वैसा सम्भव है, पूर्व में राधा परिचय हुआ है। इस प्रकार मद् उत्कृष्ट रस साम्राज्य को न जानकर श्रीमान् के साथ रति क्रीड़ा में संसक्त होने पर क्या सुख होगा? गोपी सङ्गादि भी सुख प्रदान करते हैं, बहु वचन का प्रयोग वयस्यों के अनुरोध से हुआ है, वे सब भी उनके ही आनुकूल्य में तत्पर हैं। राधा की छटा को देखकर स्वतः ही उन सबके प्रति तुच्छ बुद्धि होती है, स्वतः ही शोभाहीन हो जाते हैं। राधा रसास्वादन का विघ्न कारक होता है। इसमें स्वाभाविक ही अन्य सङ्ग परित्यक्त होता है, अन्य गोपी दर्शन से भी भाव कुण्ठित हो जाता है ॥३४॥

भुविपुरुपुण्यतीर्थसदनानृषयो विमदा,
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजला।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे,
न पुन रुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥३५॥

सान्वयव्याख्या

(हे भगवन्!) ये ऋषयः विमदाः (निरहङ्काराः सन्तः) नित्यसुखे आत्मनि त्वयि सकृत् मनः दधति ते अघभिदङ्घ्रिजलाः (अघं भिन्दन्तीति

तथा भूतानि अङ्घ्रिजलानि येषां तथोक्ताः उत (अपि) भवत्पदाम्बुज हृदः (भवतः पदाम्बुजं हृदि येषां तथोक्ताः सन्तः) भुवि (पृथिव्यां) पुरुपुण्यतीर्थ सदनानि (पुरुणि बहूनि पुण्यानि तीर्थानि च सदनानि क्षेत्राणि च तानि उपासते महत् सङ्गं, लब्धुमिच्छया सेवन्ते) न पुनः पुरुषसार हरावसथान् पुरुषाणां सारं विवेकस्थैर्य्यधैर्य्य क्षमाशान्ति प्रमुखं हरन्तीति तथा ते च ते आवसथाः गृहाः तान् उपासते इत्यर्थः ॥३५॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—(भवद् भक्ताः भवन्नित्य प्रियास्पदं परम प्रेमवर्द्धनं माथुरमण्डलमेव सेवन्ते, इत्याह) ते (प्रसिद्धाः) विमदाः (निरहङ्काराः) भवत् पराम्बुजहृदः (भवत् पादपद्मध्यानपराः) ऋषयः श्रीनारदादयः) अघभिदङ्घ्रिजलाः (अघभिदः पापनाशकस्य तव अङ्घ्र्योः जलं येषु तथोक्ताः) उत (अपि) भुवि पुरु पुण्यतीर्थ सदनानि पुरु पुण्यं यत् तीर्थं मथुराख्यं तत्र सदनानि आश्रमान्) उपासते (सेवन्ते) ये आत्मनि नित्य सुखे त्वयि सुकृत मनः दधति (तेऽपि) न पुनः पुरुषसार हरावसथान (पुरुषाणां सार हारिणः गृहान् सेवन्ते किन्तु श्रीवृन्दावनमेव सेवन्ते, ये त्वय्यभक्ताः ते एव गृहासक्ताः इति भावः) ॥३५॥

भां भगवन् ! जो सब ऋषि निरहङ्कारी होकर नित्य सुखमय परमात्म स्वरूप आपमें एकबार मात्र मनो निवेश किये हैं, वे सब निज पादोदक द्वारा दूसरे का पाप नाश करने में समर्थ होकर भी, आपके श्रीचरणों को हृदय में धारण कर पृथिवी में साधुसङ्ग लाभ की आशा से पुण्य तीर्थ एवं अनेक पुण्य क्षेत्र की सेवा करते हैं। किन्तु वे सब कभी भी जीवों के विवेक, स्थैर्य, धैर्य्य, क्षमा, शान्ति प्रभृति का सार हरणकारी गृहों की सेवा नहीं करते हैं। और जो लोक एकान्त भक्त हैं, उनकी बात क्या कहें ? वे सब सर्वत्यागी होकर केवल आपकी सेवा करते हैं ॥३५॥

तीर्थ पर्यटन साधुसङ्ग भगवद् भजन, गृहत्याग को प्रकट कहते हुये द्वात्रिंश श्रुति स्तुति करती है—सद्गुरु के उपदेश से तत्त्व अवगत होकर सारासार विवेक द्वारा सर्व विषय में वैराग्यवान् होकर महत् सङ्ग द्वारा युक्ति के साथ तत्त्वावधारण के लिए मुनिगण तीर्थ पर्यटन करते हैं, 'श्रुति (१) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

तत् वा एतदक्षरं अदृष्टं द्रष्टृअश्रुतं श्रोतृ अमन्तं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ-नान्यदस्ति। हे गार्गि ! मेरा श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो। हे गार्गि ! यह अक्षर ब्रह्म दूसरे का अदृश्य है, किन्तु स्वयं सर्व द्रष्टा है, अश्रुत होकर श्रोता है, मन का अविषय है, किन्तु मनन कर्त्ता है, दूसरे का अविज्ञात होकर भी स्वयं विज्ञाता है अतएव अपर कोई भी द्रष्टा श्रोता नहीं है, यह सब अवगत होने के लिए एवं मनन के लिए मुनिगण तीर्थ पर्यटन करते हैं।

स्वामिचरण कहते हैं—

मुञ्चन्नङ्गतदङ्ग सङ्गमनिशं त्वामेव संचिन्तयन्,
सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तानाश्रमानावसन्।
नित्यं तन्मुखपङ्कजाद्विगलितत्वत् पुण्यगाथामृत,
स्रोतः संप्लवसंप्लुतो नृहरे ! न स्यामहं देहभृत ॥

हे अङ्ग ! जाया पत्यादि का सङ्ग त्यागकर सर्वदा आपकी चिन्ता से जो सब साधु निरहङ्कार हुए हैं, उनके आश्रय में रहकर उनके मुख पद्म निर्गलित आपकी पुण्य गाथा मृतस्रोत में स्नान कर हे नृहरि, मैं और देह धारी बनूंगा ॥३५॥

श्रुतिरूपा आहुः-ये सकृदपि त्वयि मनो दधति, तेऽपि भुवि पृथिव्यां पुरुणि पुण्यानि येषु, भवद्भावहेतुत्वात् तानि तीर्थानि द्वारका मथुरादीनि सदनानि त्वदर्चायतनानि च उपासते, ऋषयो विशुद्ध त्वद् भावस्यैव परम परमत्वेन ज्ञातारः, सर्वदा ये मनो दधति, स उपासत इति किं वक्तव्यम् तीर्थानि शास्त्रात्त्वद्गुणधर्मप्रतिपादकानि गुरुत्वात्त्वद्धर्मदत्तोपदेष्टृन् पुरु-पुण्यानां त्वद् भावनिष्ठावतां त एव हि सर्वतः पुण्यातिशालिनः, येषां शुद्धभाव प्रतिबन्धकमपि नास्ति, तेषां, तीर्थरूपाणि सदनानि शुद्धसेवा स्थानानि त्रिमदा विशेषेण माद्यन्ति त्वत् प्रेममाध्व्या विगत पाण्डित्यादि गर्वा वा, भवत्पदे अम्बुजवत् हृत हृदयं येषां प्रेम मधुरस सरित त्वेन बहिर्निःसरदनुरागलपित रूपामोदवत्त्वाच्च परिमलवत्त्वाच्च कृष्णभ्रमर-सदाक्रान्तत्वाच्च यद्वा, भवन्तमेव पद्यते प्रपद्यते च राधा, भवान् पूर्ण

परमानन्द रससार साम्राज्याकरमूर्त्ति: पदं विषयो यस्याः, नहि तादृश स्वरमन्यस्यागोचरः. तस्याम्बुजवत् हृद् येषाम् अतएवान्येषां त्वच्छुद्धभाव प्रनिबन्धकाद्यघङ्घ्रिजला: स्वयमपि। त्वयि कथम्भूते? आत्मनि, नित्यमुखा राधिकैव यस्य नित्यमविच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्त्तमानं त्वत् सङ्गसुख यस्याः सा तथा नित्यानि शोभनानि खानि इन्द्रियाणि यस्याः शोभनत्वं श्रीकृष्णसङ्गसुखमयत्वं त्वत् प्रेमाविष्टत्वं वा, नित्यं सततं शोभनं खं हृदयाकाशं यस्या इति सदा वरीवृध्यमान कृष्णमहानुरागभरत्वात्। न पुन: स्तादृशा पुरुषसार हराणामावसथान् उपासते, पुरुषस्य यत् सार वस्तु सकल परम पुरुषार्थोत्तमत्वेन गृहीत विशुद्धत्वदनुरागवर्त्मतद् धारका: शास्त्रतर्कादि जालान्यासेन तेषां स्थानान्यपि नोपासते, कुतः पुन स्तान्? यद्वा, ऋषय: सर्वज्ञा अपि पुरु पुण्यानां ये तीर्थभूता भक्तिमार्ग समुद्रात्तारका गुरुभूता ये, नहि तेऽल्पभाग्यानां परम निगूढ़ रसवर्त्मोपदिश्य शास्त्रसमुद्रात्तारका भवन्ति, तेषां निवासस्थानानि उपासते, भवत् पदाम्बुजे हृदयेषां त्वत्पदाम्बुजरसानुभावार्थमित्यर्थः। विमदा: स्व सार्वज्ञादिना गर्वरहिता:, अन्येषामघभिदङ्घ्रिजला अपि स्वस्य शुद्धि विशेषार्थं शास्त्रपाण्डत्यातिशयरहितानामपि शुद्धभाव परमनिष्ठानां सदनानि उपासते, तेषां प्रेम दु:खचमत्कारोपलम्भेनैव सकल सन्देहोच्छेदात् ये त्वयि सकृत, कृती छेदने' भजनमार्गान्तरण वासनाच्छेदसहित शुद्ध भावेनैव मनो धारयन्ति। कथम्भूते त्वयि? आत्मनि स्वस्य आत्मभूतायां राधायामेव नित्यं शोभनं स्व हृदयं यस्य, सुखं यस्य, शोभनानि इन्द्रियाणि वा यस्य। अथवा, ऋषय: सर्वज्ञाः विगतमानंब्रह्मात्मवस्तु उपसन्नेभ्य उपदेशमात्रेण ददाति, विमदा एतादृशा अपि ये भवत् पदाम्बुजे प्रेमरसवन्तस्ते त्वयि सकृन्मना दधति, त्वत् सङ्कल्पे सति भुवि वृन्दावन भुवि तादृश शुद्धभावो यत्रैव भवति पुरुपुण्ययत्तीर्थं यमुना तत्र सदनानि आवसथान् क्लेशानुपासते शुद्धभावाशया स्तप श्चरन्तीत्यर्थः। पुरुपुण्यं येभ्यो दर्शनादिनैव शुद्धभाव प्रति बन्धकक्षयकारि भवति, तादृशतीर्थानां गुरूणां स्थानानि उपासनात् नतु विशुद्ध भावद्वेषिणां आवसथामिति!

नित्य गोप्यस्तु आहुः—स्व स्वामिन्याः श्रीराधाः सौभाग्यतिशयं वर्णयन्त्य आहुः, ऋषयो विचित्रकन्दर्पकेलि कलाभिज्ञा अपि विगत गर्वा गोपसीमन्तिन्यो भवत्पदाम्बुज हृदः सत्योराधा विषय विमलसख्य भावैक मनसः त्वयि त्वन्निमित्तं भुवि वृन्दावने पुरु पुण्यतीर्थं यमुना तत् सम्बन्धि सदनानि कुञ्जगृहाणि पुनर्नोपासते, किन्तु पुरुषस्य तव सारधैर्य्यं हरति या पुरुषसार हरा राधिका तस्या अवसथानेव उपासते। त्वयि कथम्भूते? आत्मनि अस्मदात्मभूतायां राधायामेव सक्त इतर गोप्यासक्ति च्छेदन सहितंमनोधारयति। अघभिद् दुःखनाशकम् अङ्घ्रिजलम् यासाम् श्रीराधाश्चरणामृतं परमभक्त्या पीत्वा भिन्नकृष्णविरह दुःखा, तव दुःखं कामार्त्तिंभिनत्ति या राधा तदङ्घ्रिणा जला जड़ास्तत् प्रपत्ति लब्ध सुखसाम्राज्येन निष्पन्दीभूता इत्यर्थः॥३५॥

श्रुतिरूपा गोपी कहती है—जो लोक एकबार मात्र भी तुम्हारे प्रति मन धारण करता है, वे लोक भी पृथिवी में परमपावन तीर्थ हो जाते हैं, तुम्हारे प्रति भाव प्रेम के कारण वे सब तीर्थ—द्वारका, मथुरा-वृन्दावन प्रभृति, सदन, पूजास्थान श्रीमन्दिर प्रभृति की भी उपासना करते हैं, ऋषिगण वे होते हैं, जो विशुद्ध तुम्हारे भाव को ही परम से भी परम रूप से जानते हैं, सर्वदा मनो धारण करते ही हैं, अतएव वे लोक उपासना करते हैं, इसको कहना अधिक क्या होगा? शास्त्र तुम्हारे उत्कर्ष प्रतिपादक होने से तीर्थ कहा जाता है, धर्म मार्गोपदेष्टा होने के कारण गुरु होते हैं। तुम्हारे प्रति प्रेम करने वाले जितने भी हैं, उससे सब प्रकार से वे सब अधिक पुण्यवान् हैं। जिसका शुद्धभाव प्रतिबन्धक नहीं है, उन सबको तीर्थ रूप सदन समूह शुद्ध सेवास्थान समूह विशेष रूप से आनन्द दान करते हैं। तुम्हारे प्रेम मधुपान से पाण्डित्यादि गर्व भी विदूरित हो गया है। आपके चरणों में जिन लोकों के हृदय एक मनोरम अम्बुज बन गया है, प्रेमरस मधुपूर्ण होने से बाहर क्षरित अनुराग युक्त भाषण रूप आमोद से एवं परिमल युक्त होने के कारण कृष्ण भ्रमर सर्वदा वहाँ पर रहता है। यद्वा, आपको ही जानती है। आपसे ही ज्ञात है, वह राधा है, जिसका विषय पूर्ण परमानन्द रससार साम्राज्य आकार

की मूर्ति स्वरूप आप हैं, इस प्रकार आप दूसरे का गोचर कभी नहीं हो सकते हैं। उस राधा के प्रति जिसका हृदय एक अम्बुज की भाँति है, अतएव दूसरे का तुम्हारे प्रति शुद्धभाव प्रतिबन्धक रूप पाप नाशक चरणामृत रूप स्वयं ही है। तुम किस प्रकार हो ? आत्म रूप में, नित्यसुखा राधिका ही जिसकी एकमात्र आत्मा है, नित्य प्रवाह रूप से वर्त्तमान तुम्हारे सङ्ग सुख जिसका है, वह राधा है, नित्य शोभन इन्द्रिय समूह जिसकी है, वह राधा है, श्रीकृष्ण सङ्ग सुख मग्न होने से ही शोभन है, तुम्हारे प्रेम में सदा आविष्ट होने के कारण शोभन कहा जाता है। नित्य सतत शोभन हृदयाकाश जिसका है, वह राधा है, कारण सदा अतिशयेन पुन: पुन: वृद्धिशील कृष्ण विषयक महानुराग वा प्राचुर्य राधा हृदय में विद्यमान है, पुनर्बार वे सब पुरुषसार हरावसथ की उपासना नहीं करते हैं। पुरुष की जो सार वस्तु है, सकल परम पुरुषार्थ से उत्तम रूप से जिसको ग्रहण किया है, विशुद्ध अनुराग मार्ग हो वह है, जो लोक इसको धारण करने में समर्थ हैं, वे सब शास्त्रतर्क जाल को विस्तार कर उपस्थान की उपासना नहीं करते हैं, उन लोकों की उपासना कैसे करेंगे ? यद्वा, ऋषिगण सर्वज्ञ होकर भी, पुरु पुण्यतीर्थों के भी तीर्थ स्वरूप हैं, भक्तिमार्ग रूप समुद्र से उद्धार करने वाले गुरु स्वरूप जो लोक हैं, वे सब अल्प भाग्यवान् को परम निगूढ़ रसमार्ग का उपदेश कर शास्त्र समुद्र से उद्धार नहीं करते हैं। उनके निवास स्थान पर जाते हैं, आपके चरणाम्बुज में जो रति उन सबकी है, उसका अनुभव कराने के लिए ही जाते हैं। विमद होते हैं—सर्वज्ञ प्रभृति गुण सम्पन्न होने पर भी सर्व रहित होते हैं, अपर को पवित्र करने वाले होकर भी निज शुद्धि विशेष के लिए शास्त्र पाण्डित्यातिशय रहित व्यक्तियों के घर पर जाते हैं, कारण वे सब शुद्धभाव में परमनिष्ठा रखते हैं। उन सबकी प्रेम सुख-दु:ख चमत्कारोपलब्धि को देखकर सब सन्देह विदूरित हो जाते हैं। जो जन आपके प्रति सकृत (कृतोच्छेदन अर्थ में) एकबार मात्र भी भजन मार्गान्तर की वासना रहित होकर शुद्धभाव से मनो धारण करता है। आप किस प्रकार हो ? निज प्राण स्वरूप श्रीराधा में ही नित्य शोभन हृदय आपका विन्यस्त है, समस्त सुख श्रीराधा में ही है, निखिल इन्द्रिय

शोभन रूप से श्रीराधा में ही विन्यस्त है। अथवा ऋषिगण सर्वज्ञ होते हैं, वे लोक मान शून्य ब्रह्मात्म वस्तु को दान करते रहते हैं, जो भी व्यक्ति उसको ग्रहण करने के लिए उपसन्न होता है, उपदेश मात्र से ही देते हैं। इस प्रकार मद अभिमान शून्य होकर भी आप सब आपके चरणों में प्रेम रस विभोर होकर आपमें सकृत मनोधारण करते हैं, आपके सङ्कल्प से ही वृन्दावन भूमि में जहाँ पर उस प्रकार शुद्धभाव का प्रवाह है, पुरु पुण्य तीर्थ यमुना है, वहाँ पर निखिल क्लेश सहन कर शुद्धभाव प्राप्ति के लिए तप करते रहते हैं। वृन्दावन सम्बन्धि निखिल वस्तु का सन्दर्शन से ही शुद्धभाव का प्रतिबन्ध विनष्ट हो जाता है, उस प्रकार शुद्धभावों के गुरुओं के स्थान समूह की उपासना से वैसा होता है। किन्तु विशुद्ध भाव विद्वेषियों के गृह समूह की उपासना से शुद्धभाव का प्रतिबन्धक पदार्थ विनष्ट नहीं होता है।

नित्यगोपी कहती है—निज स्वामिनी श्रीराधा का सौभाग्यातिशय की वर्णना करती है, ऋषिगण विचित्र कन्दर्पकेलि कलाभिज्ञा होकर भी गर्वशून्या गोप सीमन्तिनीगण, भगवत् पदाम्बुजहृद:, राधाविषयक विमल सख्यभाव में विभोर हृदय हैं, किन्तु आपके लिए श्रीवृन्दावन में पुरु पुण्य तीर्थ यमुना एवं उसके सम्पर्कित सदन समूह, कुञ्जगृह समूह की उपासना नहीं करते हैं। किन्तु पुरुष रूपी श्रीकृष्ण का सार धैर्य ग्रहण कारिणी पुरुषसार हरा राधिका है, उनके गृह समूह की उपासना करते हैं, आप किस प्रकार हो? आत्मनि, हमारी आत्म स्वरूप श्रीराधा में ही 'सकृत' अपर गोपियों की आसक्ति को छोड़कर मनोधारण करने वाले हो। वे सबके चरण जल अघभिद् दुःखनाशक हैं, श्रीराधा के चरणामृत को परम भक्ति से पान कर वे सब श्रीकृष्ण विरह दुःख से मुक्त हो गये हैं, आपका दुःख जो कामार्त्ति रूप से प्रसिद्ध है, उसको विनष्ट करती है, वह ही राधा है, उनके चरण कमल से जला जड़ा है, अर्थात् श्रीराधा चरणारविन्द की शरणागति से जो सुख साम्राज्य का उदय हुआ है, उससे वे सब स्पन्दन शून्य होकर अवस्थित हैं ॥३५॥

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननुतर्कहतं,
व्यभिचरति क्वच क्वच मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया,
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजड़ान् ॥३६॥

सान्वयव्याख्या

'नाना युक्त्या जगतः असत्त्वं प्रतिपादयन्ति' ननु (भो भगवन् !) इदं (धर्मि विश्वं) सतः (परमेश्वरात्) उत्थितं इति (यतः, यत् यतः उत्पन्नं तत् तदात्मकमेव दृष्ट यथा कनकादुत्पन्नं कुण्डलादिकं तदात्मकमेव यथा च ब्राह्मणात् उत्पन्नः ब्राह्मण एव स्यात् अत हेतोः) सत् चेत् ? न (यतः) तर्कहतं (तत्र यदि सदभेदः साध्यते तदा भूभृतः अवतरति गङ्गा, वृक्षात् पर्णंपतति इत्यादिवत् अपादानत्वनिर्देशेनेव भेद प्रतीतेः विरुद्धो हेतुः इति तर्केण हतः, भेद साधकेन हेतुना अभेद साधनं युक्तिबाधितमित्यर्थः कुतः) क्वच व्यभिचरति (पर्वतोवह्निमान् प्रमेयत्वात् इतिवत् सतः उत्पन्नत्वात् इति हेतोः, पितृ पुत्रयोः मृद्घटयोश्च भेददर्शनात् तथा मुद्गरस्य भाव रूपत्वात् घट प्रध्वसस्य अभावरूपत्वात् भावाभावयोरे-क्यानुपपत्तेः साध्याभावस्थलेऽपि गमनात् व्यभिचारित्वम्) ननु सतः उत्थितमिति न तन्निमित्तकत्वम्, किन्तु तदुपादानकत्वम् अतो न व्यभिचारः, इति चेत् न, यतः) क्वच (रज्ज्वादो) मृषा सर्पादिकं मित्थ्यैव) ननु यत्र न केवलं गुणमात्र फणिनः उपादानं किन्तु अविद्या युक्तं, अतः यत् यन्मात्रोपादानक तत् तदात्मकमिति चेत्) न तथा (यतः) उभययुक् (उभाभ्यांसद्विद्या कारणाभ्यां युनक्ति इति तथा, अविद्या सम्बलितस्यैव कारणता प्रसिद्धेः) (ननु इदं विश्वं अर्थक्रिया कारित्वात् सदिति चेत् अनुमानं न यतः) व्यवहृतये (अर्थ क्रियायै) विकल्प (भ्रमः अन्धपरम्परया इषितः इष्टएव कुतः ताम्रादि मिश्रित रजतखण्डेनापि अर्थ क्रिया कारित्वदर्शनात् ।)

ननु अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति' (अपामसोम ममृता अभूम इत्यादिभिः कर्मफलस्य नित्यत्व प्रतिपादनात् असत्त्वं न

घटते इति चेत् न, यतः) ते (तव) भारती (वेदलक्षणा वाणी) उरुवृत्तिभिः (बह्वीभिः गौण लक्षणादिवृत्तिभिः) उक्थ जड़ान् (कर्म श्रद्धाभराक्रान्त मन्दमतीन् एव भ्रमयति, (मोहयति, नहि वेदलक्षणा तव वाणी कर्म फलस्य नित्यत्वमभिप्रैति विध्येकवाक्यत्वात् लक्षणया प्राशस्त्यमात्रं अभिप्रैति अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गः स्यादिति भावः) ॥३६॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—नु (भो भगवन् !) इदं (कंसदीक्षित-द्विजकुलं) सतः (त्वद्भक्तमाथुर कुलात्) उत्थितं इति (अतः कारणात्) सत् चेत् न, (यतः) तर्कहत (युक्तिरहितं) कुतः क्वच (त्वांप्रियसुग्रीव जनकात् परम भक्तात् श्रीसूर्य्यात् उत्पन्नेऽपि दुष्टभावापन्ने कर्णे व्यभिचरन्ति, (तथा) क्वच श्रीद्वैपायनात् उत्पन्नेऽपि अन्तर्निगूढ़दुष्ट-भावापन्नैः वहिः साधुभावैः धृतराष्ट्रे) मृषा। (तर्हि धृतराष्ट्रादय नितान्ताभक्ताःचेत्) न तथा (यथा श्रीविदुरादयः परमभक्ताः तथा ते न भवन्तीत्यर्थः) परन्तु कंस द्विजकुलं) उभययुक् (खलत्व ब्राह्मणत्व युक्तं, अतः) व्यवहृतये अत्र च परम्परया विकल्पः इषितः (गोपानां इष्ट इव, एव, नतु परमार्थतः, कुतः ताम्रादि मिश्रित रजत खण्डस्यापि व्यवहार दर्शनात् ॥३६॥

ननु अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति इत्यादि वेद लक्षणया तव वाण्या चातुर्मास्यादियाजिनस्तस्य सत्त्वमति चेत् न यतः) ते (तव) भारथी उक्थ जड़ान् (कर्मश्रद्धाभारक्रान्त मन्दमतीन् नतु भक्तान्) भ्रमयति (मोहयति) ॥३६॥

श्रुतिगण अनेक प्रकार युक्ति के द्वारा जगत् का असत्य प्रतिपादन करती हैं, भो भगवन् ! जो जिससे उत्पन्न होता है, वह तदात्मक होता है, अर्थात् सुवर्ण से उत्पन्न कुण्डलादि सुवर्ण से पृथक् नहीं है, एवं ब्राह्मण से उत्पन्न ही ब्राह्मण होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस प्रकार हेतुवाद के अवलम्बन से परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण विश्व को सत् नित्य नहीं कहा जा सकता है, कारण भेद साधक हेतु के द्वारा अभेद साधन करना युक्ति विरुद्ध है, पिता से उत्पन्न पुत्र का एवं मृत्तिका से उत्पन्न घटादि का भेद सुस्पष्ट है, मुद्गर द्वारा घट नष्ट होता है, मुद्गर का

अभाव रूप घट नाश की एकता नहीं है, अतएव सत् से उत्पन्न होने के कारण ही सत् है, कहने से हेतु व्यभिचारी होगा, साध्याभाव स्थल में भी हेतु की विद्यमानता है।

सत् से उत्थित का अर्थ, निमित्त कारण से नहीं किन्तु उपादान कारण है सुतरां हेतु व्यभिचारी नहीं होगा ऐसा भी कहना उचित नहीं होगा। कारण रज्जु प्रभृति में सर्प बुद्धि मिथ्या है, अन्य रज्जु में सर्प बुद्धि से भय होने के कारण कम्पादि रोग होता है, प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु का अपलाप होगा। वहाँ पर अविद्या ही सर्प का उपादान है, अतएव जो, यन्मात्रोपादानक, वह तदात्मक है, ऐसा कहना ठीक नहीं होगा। कारण यह विश्व सत् एवं अविद्या युक्त है, कारण केवल सत् का कारण नहीं है, अविद्या सम्बलित सत की कारणता सुप्रसिद्ध है।

अर्थ क्रियाकारित्व के कारण विश्व सत है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, कारण व्यवहार (अर्थक्रिया) का निमित्त भ्रम अन्ध परम्परा से सिद्ध है, कारण ताम्र मिश्रित रजत खण्ड का भी अर्थ क्रिया कारित्व है, चातुर्मास्य करने वाले का अक्षय पुण्य होता है, हम सब सोम पान कर अमर बनेंगे। इस प्रकार श्रुति वाक्य से भी विश्व की नित्यता का स्थापन नहीं हो सकता है, कारण वेद लक्षणा वाणी अनेक अर्थ का प्रकाशक है, इससे मन्दमति का मोह होता है, वस्तुतः श्रुति समूह वाक्यान्तर के कर्म भाराक्रान्त मन्दमति मानव का भ्रम उत्पन्न करते हैं, एक वाक्यता करने पर बोध होता है कि प्राशस्त्य प्रतिपादन के लिए ही उस प्रकार प्रयोग होता है, किन्तु ध्वंस प्रागभाव रहित अक्षयत्व प्रतिपादन के लिए नहीं है, अन्यथा वाक्य भेद का प्रसङ्ग होगा॥३६॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या-भो भगवन्! यह कंस दीक्षित द्विजजन सत् है, कारण आपके भक्त कुल में उत्पन्न हैं, इसलिए सत् नहीं कहा जा सकता है, वह तर्कहत है, कारण आपका प्रिय सुग्रीव का जनक श्रीसूर्य से उत्पन्न होकर भी कर्ण दुष्ट भावापन्न होने के कारण, उक्त हेतु में व्यभिचार दोष होता है। श्रीव्यासदेव से उत्पन्न अथ च अन्तर में निगूढ़ दुष्ट भावापन्न, बाहर साधुभाव युक्त धृतराष्ट्र को नितान्त अभक्त नहीं

कहा जाता है, कारण उपादान गत गुण की सर्वथा अविद्य मानता असम्भव है, तब कहा जा सकता है कि श्रीविदुर के समान वह परम भक्त नहीं है, किन्तु कंस दीक्षित द्विज समूह में युगपत् खलत्व एवं ब्राह्मणत्व है, गोपगण का विकल्प इष्ट ही है, अर्थात् ब्राह्मण जाति होने के कारण भगवद् भक्त गोपगण के प्रणम्य ब्राह्मणगण हैं, किन्तु परमार्थ के लिए नहीं। कारण ताम्रमिश्रित रजत खण्ड का भी व्यवहार, लोक में प्रसिद्ध है, अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिन: सुकृतं भवति' इत्यादि वेदलक्षणवाक्यद्वारा केवल कर्म श्रद्धाभराक्रान्त मन्दमति मानव का मोह उत्पन्न होता है, किन्तु भक्त का मोह नहीं होता है, जो लोक आपमें चित्त समर्पण करके कर्म करता है, उसमें "अक्षय्य हवै" वाक्य सार्थक होता है, अभक्त में 'क्षीणे पुण्ये' यह वाक्य सार्थक होता है।

श्रुत्यर्थ का मनन करते हुये त्रयविंश श्रुत्याभिमानिनी देवगण स्तुति करते हैं—मीमांसक मत, मीमांसकगण काम्य कर्म को स्वर्गादि पुरुषार्थ का हेतु मानते हैं और समस्त वेद को क्रिया पर मानते हैं। अतएव यज्ञ कर्त्ता यजमान का स्तावकत्व के कारण उपनिषद् भी क्रिया पर है, उनके मत में, आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानां तस्मात् अनित्यम् उच्यते ! आम्नाय, अर्थात् वेद, यज्ञादि क्रिया पर है, अतएव अक्रियार्थ पर वेद अनर्थक है, अर्थात् धर्माधर्म रूप अर्थ प्रतिपादन नहीं करता है, अतएव उस प्रकार वाक्य को अनित्य के समान मानना होगा।

अतदर्थानां क्रियार्थेन समन्वय: अक्रियार्थ पर वाक्य का यजेत' इत्यादि क्रियापद के साथ समुच्चारण ही सम्बन्ध है, जैमिनी वेद को क्रिया पर मानकर उपनिषद् को भी क्रिया पर मानते हैं। तन्त्रवार्त्तिककार कहते हैं कि "श्रुत्यर्थ" यज्ञ का अङ्गभूत जो कर्त्ता यजमान है, 'तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य के द्वारा ईश्वर के साथ यजमान का अभेद रूप प्रदर्शन कर स्तुति की जाती है, अतएव उपनिषद् का ब्रह्म प्रतिपादकत्व रूप सार्थकत्व प्रत्याख्यात हुआ है। अतएव उपनिषद् द्वारा यजमान की स्तुति की गई है, निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं हुआ है। वेदान्त का मत इस प्रकार है—

श्रुतिः (१) एकम् एव अद्वितीयम् ब्रह्म (२) विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म (३) अचक्षुः अश्रोत्रम्। श्रुति में यजमान विपरीत आत्मा का प्रतिपादन हुआ है, कारण अद्वितीय परमानन्द आत्मा का कर्माङ्गत्व होना सम्भव नहीं है, वार्त्तिककार की व्याख्या समीचीन नहीं है, विशेषतः—

सर्वत्र एवहि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
पराङ्गं च आत्मविज्ञानात् अन्यत्र इति अवधार्यताम्॥

असंसारी आत्मा का ज्ञान छोड़कर सर्वत्र जो कुछ विविध ज्ञान दृष्ट होता है, वह ज्ञान संस्कार रूप ही है। जिस प्रकार जात मात्र बालक की प्रवृत्ति स्तन्य पानादि में होती है, वह ज्ञान सस्कार से ही होता है, किन्तु उपनिषद् परमात्म ज्ञान गुरुपदेश के बिना नहीं होता है। श्रुति-- एतत् अर्थं एक मननाथ मुनयः पर्य्यटन्ति। आत्म ज्ञानार्थ मनन के लिए मुनिगण पर्य्यटन करते हैं।

भट्ट मीमांसक के मत में-

अध्यस्यते खपुष्पत्वम् कथमवस्तुनि।
प्रज्ञात गुणसत्ताकमध्यारोप्येत वा न वा॥

ख पुष्पत्व, असत् अवस्तु, उस अवस्तु में सुगन्ध प्रभृति का कैसे अभ्यास हो सकता है, जिसका गुण सत्व है, प्रज्ञात है, जिस प्रकार रजतादि उस का अध्यारोप शक्ति में हो सकता है। इस प्रकार अध्यारोप से भ्रम होता है, ऐसा नहीं है, अन्ध परम्परा के कारण विकल्प होता है, सस्कार जन्य भ्रम होता है, संस्कार केवल पूर्ण प्रतीति की अपेक्षा करता है, वस्तु सत्ता की अपेक्षा नहीं करता है, जैसे यक्ष युक्त वटवृक्ष है, एक अन्ध, अपर अन्ध को कहा, उसने दूसरे को कहा, इस प्रकार अन्ध परम्परा भ्रमसिद्ध मित्थ्या रोपित यक्ष के कारण मूर्च्छा मरणादि अर्थ क्रियाकारित्व दृष्ट होता है, इस प्रकार व्यवहार अनादि के कारण पूर्व पूर्व दृष्ट भ्रम का उत्तरोत्तर आरोप होता है। व्यवहार अन्ध परम्परा न्याय से ही निष्पन्न होता है, अतएव अर्थ क्रियाकारित्व हेतु अप्रयोजक है।

वेदोक्त काम्य कर्म का फल नित्य होने के कारण विश्व को सत्य मानना भी असङ्गत है। (१) तद्यथा इह कर्मचित: लोक: क्षीयते। एवं एव अमुत्र पुण्यचित: लोक: क्षीयते। कृष्यादि सम्पादित शस्य की भाँति योगादि कर्म सम्पादित स्वर्ग क्षयिष्णु है, अतएव वेद वाक्य के साथ विरोध होने के कारण कर्माकर्म से जड़मति मान् व्यक्ति का भ्रम मात्र ही है। ईश्वर कारणवाद निर्दुष्ट हेतु जगत् उत्पन्नशील है—

(१) तस्मात् वा एतस्मात् आत्मन: आकाश: सम्भूत:।

(२) नेह नानास्ति किञ्चन।

यह सब श्रुति में ब्रह्म को जगत् का उपादान कहा गया है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय ब्रह्म में ही है।

(३) उस प्रकार मिथ्या रजत् स्वप्नाङ्गनादि मूढ़ एवं ज्ञानी का यावत् शरीर तावत् भावि शुभाशुभ फल उत्पन्न होने से एवं वीर्य पतनादि के कारण होने पर अर्थ क्रियाकारित्व दृष्ट होता अतएव अर्थ क्रियाकारित हेतु विश्व का सत्यत्व सिद्ध नहीं होता है।

(४) श्रुति में काम्यकर्मिका गमनागमन वर्णित होने के कारण कर्मफल अनित्य है, श्रुति—

(१) अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकान् जयन्ति ते धूमम् अभिसम्भवन्ति, धूमात् रात्रिम्। रात्रे: अपक्षीयमान पक्षम् अपक्षीयमान पक्षात् यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्य: पितृलोकं, पितृलोकात् चन्द्रलोकं प्राप्य अन्नं भवन्ति ता तत्रैव देवा यथा सोम राजानम् आप्याय स्वापक्षीयस्व इति एवम् एतान् तत्र भक्षयन्ति। तेषां यदा पर्यवैति अद इमम् आकाशम् अभिनिष्पद्यन्ते आकाशाद् वायु वायो: वृष्टि: वृष्टे: पृथिवीं प्राप्य अन्नं भवति एवं एव अनुपरि वर्त्तन्ते।

काम्य कर्म परायणजन का आरोह अर्थात् गति—जो लोक जलाशय अन्नदान प्रभृति से, अर्थात् काम्य कर्मानुष्ठान द्वारा लोक जय करता है, वह मरकर धूमाभिमानिनी देवता को प्राप्त करता है, धूम देवता से रात्रि देवता, रात्रि देवता से कृष्णपक्ष देवता, कृष्णपक्ष देवता से

दक्षिणायन देवता, दक्षिणायन देवता से पितृलोक देवता उससे चन्द्रलोक को प्राप्त करता है।

अवरोहगति—पुण्य क्षय होने पर जीव आकाश को प्राप्त करता है, अनन्तर वायु को प्राप्तकर वृष्टि के साथ मिलित होकर पृथिवी में शस्यगत होता है, पृथिवी में आकर व्रीहि तिल प्रभृति अन्न होता है, क्रमशः रेत सिञ्चनकारी के द्वारा भक्षित होकर रेत के साथ गर्भाशय में प्रविष्ट होता है, एवं रेत सिञ्चनकारी का आकार प्राप्त करता है।

स्वामिचरण कहते हैं—

उद्भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः।
कुर्वत् कार्यमपीह कूटकनकम् वेदोऽपि नैवं परः॥
अद्वैतं तव सत् परन्तु परमानन्दं पदं तन्मुदा।
वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत हरे मा मुञ्च मामानतम्॥

तुम सत् हो, तुम से भुवन उद्भूत होकर भी सत् नहीं है, जिस प्रकार माया से उद्भूत सर्प सत् नहीं है। उस प्रकार कार्य व्यवहार होने पर भी भुवन सत् नहीं है, जिस प्रकार मिथ्या कनक द्वारा कार्य व्यवहार देखा जाता है, वेद कर्मफल प्रतिपादन पर नहीं है, किन्तु परमानन्द सत् वस्तु प्रतिपादन पर है, तुम्हारे सुन्दर चरण को आनन्द से मैं वन्दना करता हूँ। हे इन्दिरानुत हरे! शरणागत, मुझ को त्याग न करो॥३६॥

श्रुतिरूपा विचारमवतार्य्य शुद्धभाव पदवीं शुद्धरसमय श्रीकृष्ण स्वरूपं च निरूपयन्त्य आहुः—सतः सर्वोत्कृष्टात् श्रीकृष्ण स्वरूपादुत्थित मिदं नानाविधमैकान्तिकं प्रेम तत्तदद्भुतलीला जातं च परमाश्चर्यं परमानन्द साम्राज्य रस से अमृतत्वेनानुभूयमानं सर्वं सदैव परमोत्कृष्ट मेव। न तत्र विशेषोऽस्तीति चेत् (४।९-१०) या निर्वृति स्तनुभृताम्' (भा० ३।१५।४३) तस्यारविन्दनयनस्य' (१०।८७।२०) न परिलषन्ति केचित्' इत्यादिना ब्रह्म स्वरूपाद् भगवत् स्वरूपमात्रस्युत्कृष्टं निर्णीतम्। (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" इति च कृष्णस्य भगवत् स्वरूपमात्रात् उत्कृष्टत्वोक्तिः सर्वोत्कृष्ट परमानन्दघन विग्रहत्वप्रतिपादिका

कृष्णेति समाख्या च (भा० १।८।२०) तथा परमहंसानां मुनीनाम्" इत्यादिना च तस्य महाप्रेम शक्ति प्रधानत्वं वामनत्व नारायणत्वाद्युक्तिः कृष्णे सर्वांशानां सत्त्वात्, समस्त भगवत् स्वरूपाश्रयत्वाच्च, वत्सहरणे ब्रह्माणं प्रत्यनन्त ब्रह्माण्ड वैकुण्ठतन्नाथादि प्रकटीकरणात्। एवं सर्वोत्कृष्टस्य श्रीकृष्णस्य चिदचिन्मय समस्ताश्रयस्य लीला जातं सर्वंसर्वविधञ्च तदेकान्त प्रेम उत्कृष्टमेव, न कुत्रापि विशेषः, असत्ता अविद्यमानता च कस्यापि नास्तीतिचेत्, ननु तर्कंहतं यदि सर्वं श्रीकृष्णस्य लीला प्रेमादि समं स्यात्तर्हि पूर्वापरव्याघातः? (भा० १।९।२०) प्रकृतिमगन्नुकिल यस्य गोपबध्वः, (भा० १०।९।२०) नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्ग-संश्रया' (भा० १०।९।२१) नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः, (भा० १२-१२-१) इत्थं सतां। ब्रह्मसुखानुभूत्या (भा० १०।४७।५०) नाय श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः (१०।३०।२९) यान् ब्रह्म शो रमादेवी दधुर्मूर्ध्नचघनुत्तये (भा० १०।१४।३४) तद् भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्याटव्याम् (भा० १०।३७।६१) आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्याम्। एवं समोत्कर्षे उत्कर्षतारतम्य व्याघातः। व्यभिचरति क्वच कृष्णलीलात्वेन कृष्णप्रेमत्वेनैव समोत्कर्षवत्त्वं व्यभिचारि। (भा० ३।२।२८) दुर्भगो वत लोकोऽयं यदवो नितरामपि, (भा० १०।४८।८) दुर्भगेदमयाचत' इत्यादि। (भा० १०।४७।६०) नाय श्रियः इत्यादिना (भा० १०।४७।६१) आसामहो, (भा० १०।४७।२७) विरहेण महाभाग महान्मेऽनुग्रहः कृतः, इत्यादिना च व्रजसुन्दर्यपेक्षयाऽन्यत्र कृष्णे प्रेम्णो लघुत्वोक्तेः। क्वच मृषा व्रज भावोदये द्वारकाभावस्य निवृत्तेः, शुद्धप्रेम सुख समृद्धयनुभवे मिश्रप्रेम सुखस्य पूर्वमनुभुतस्याप्यस्य स्तुल्यत्वात् महति सुखार्णवे मग्नस्य सुखान्तरमपि किमप्यस्तीति हृदयेऽनुदयात् शुद्धमिश्र समस्त कृष्ण प्रेमानन्दानां चाभिभावकं श्रीराधारसाविष्टावस्थ तत् प्रेमसुख साम्राज्य चमत्कारः तत्रत्य प्रेमसुखे वस्तु बुद्धयभावात् उभयस्य श्रीराधा कृष्णाख्यस्य पूर्णमहाप्रेममयनवकिशोरमिथुनस्य युक् योगो यत्र प्रेमसुखे तदुभयविषयप्रेमोद्भूतसुखसाम्राज्य महाचमत्कार प्रवाह इत्यर्थः। स न तथा मृषा इत्यर्थः तदभिभावकतदतिशायिप्रेमसुखान्तराभावात्। ननु तत्तद् भक्ता अपि तत्र तत्र सर्वोत्तमत्वेन स्तूयन्ते? सत्यम्। व्यवहृतये तेषां

तेषां भक्तानां परमप्रेमास्वादत्वेन तत्र तत्र कृष्णावस्थया व्यवहाराय विकल्पो विविधः पक्षः, विविधा कल्पना वा, विशिष्टतया कल्पनं वा इष्टमेव । अन्धपरम्परया परमोत्कर्षं विना आदर्शिन्या परम्परया, केनचित् किञ्चित् सर्वोत्तमत्वेन बोधितम्, केनचित् किञ्चिदेकेन कश्चिद् बोधितोऽपरेण कश्चिदित्येवम् । ननु निर्मूल परम्परा मात्रेण कथं तत्र तत्र निर्भरस्यात् ? तत्राह तव भारती वेदलक्षणा भ्रमयति उक्थजड़ान् कर्म जड़ान् प्राचीन कर्मभिः कृत्वा जड़ान्, परमप्रेमरसोत्कर्षसीम्नि बुद्धि जाड्यवत इत्यर्थः । ननु नाहं वेदकर्त्ता, कथंमम भारतीत्युक्तम् ? उरुवृत्तिभिः उरूणां श्रीनारायणादीनां वर्त्तनात् त्वच्छक्त्यैव वेदकर्त्तृणा-मपि वेद कर्त्तृत्व मतस्तवैव भारतीति ॥३६॥

नित्य गोप्यस्तु आहुः—सतः साधोः सन्नायकस्य राधागुणमाधुरी गम्यगभिज्ञातया, व्रजनागर्य्यन्तरसङ्गप्रसङ्ग रहितस्य इदमुत्थितमस्यै राधायै एतदर्थ मेवोत्थानं समुद्योगः सत् सदा वर्त्तमानम् नत्वन्या सङ्गार्थमिदंशय्यात उत्थानं वा, सत उत्कृष्टम् । अत्रैवोत्थानावस्थानात् स्वगृहे गोप्यन्तरोद्देशेन वाऽगमनात् । अन्यासख्याह ननु चेदित्थं वदसि, तर्हि तर्कहतं त्वद्वचनम्, महाविदग्धरूपशीलादि सम्पन्नैकान्तानुरागि गोपसीमन्तिनीमण्डले कृष्णमङ्गाशाग्रहगृहीतयातिनिरस्तत्रपा धैर्य्ये व्रजवनवीथिषु निशिदिवासञ्चरण परे राधाद्यासक्तस्यापि त्वद् बन्धोस्तर्कित एवान्यासङ्गः, कथं तद्राहित्यंस्यादिति भावः । उत्थायात्रैवाव-स्थानं चानया सह विहारप्रवाहेण नैव सम्भवति, कृष्णगतजीवनानां तेषां न तद् दर्शनादि विना जीवितानुपपत्तेः । क्वच मृषैव एतदन्यासङ्गराहित्य-मन्यत्रागमन बहुशोऽनुभूयमानत्वात् । पूर्ववादिन्याह उभययुक् उभयस्य, राधा कृष्णाभिधगौरश्यामनवनागरमिथुनस्य योगस्तथा न भवति, महाप्रगाढ़तरप्रेमरज्जुभिरन्योन्य संस्यूत आत्मानावतो नान्यापेक्षी स्वप्नेऽपीति भावः । प्रत्यक्षविरोध इति चेत्तत्राह व्यवहृतयेऽन्यैर्व्यवहार मात्रार्थम्, नतु प्रेममहाविलासार्थंविविधकल्पनमिष्टमेव । तत्र हेतुः अन्धपरम्परया श्रीकृष्णस्य राधैक रसमग्नतायामन्धा ये तेषां ज्ञान परम्परया । अयं भावः—श्रीकृष्णचन्द्रः सदा राधासङ्गचेव, अन्येषामपि

प्रेमवतां भावनावशात् कस्यचित् अवस्थाया स्तत्र तत्राविर्भावेन तत्तद् व्यवहार सम्पत्तेः, स्वरूपेण तु श्रीकृष्णः श्रीराधा नित्यसङ्गमेव अन्वयति जनान् या परम्परा कृष्णस्य स्वभाविकी अवस्था परम्परा तयेति। एतच्चानुभवसिद्धमेव, पित्रोर्निकटे बाल्योचित्तवृत्तिमाचरन्नेव अन्यतो महानागर लीलां रचयन्, यतो बहुशो दृष्टः। योगमाया भगवती हि श्रीकृष्णहितार्थैव तथा देव्या सर्वसमाधानात् रासोऽपि तथैव निर्वाहितः। अन्यासङ्गिरूपाविर्भावेन च तथैव राधाया मानादिजननेन कृष्णस्य भारती इतः कृष्णं प्राप्नुवतः परम प्रेमास्पदतया जानतो वा उक्थे सेबने राधायाः प्राणभूते कृष्णे जड़ान् तद् विषयेऽज्ञान् भ्रमयति, मदेकासक्त इति भ्रान्तिभाजः करोति। यद्वा, भा भानं तत्तत् सुहृदादीनाम् अस्माकमेवाति प्रीतिबन्धकरः कृष्णः। इति यत् प्रतिभानं तया या रति स्तामितः प्राप्तः। अन्यगोपीनां भानेन राधात्यक्त्वा इदानीमस्मान् प्राप्त इति बुद्धया रतिं रतिक्रीड़ां प्राप्तः। वस्तुतो राधासङ्गि रूपो नैवान्या गोचर इति ॥३६॥

श्रुतिरूपा गोपी कहती है—विचार को उठाते हुये शुद्धभाव पदवी को एवं शुद्धरसमय श्रीकृष्ण स्वरूप का निरूपण करते हुये कहती है, सतः, सर्वोत्कृष्ट श्रीकृष्ण स्वरूप से उत्थित नानाविध ऐकान्तिक प्रेम, उस लीला से उद्भूत आस्वादन तथा परम आश्चर्य, परमानन्द साम्राज्य रसपूर्ण अनुभव सकल, 'सदैव' परमोत्कृष्ट ही है। वहाँ पर विशेष नहीं है, ऐसा यदि कहो तो, भागवत के (४।९।१०) में वर्णित है, तुम्हारे चरण कमल के ध्यान से और तुम्हारे भक्त तुम्हारी कथा श्रवण से जो आनन्द होता है, वह आनन्द मुक्ति में ब्रह्मस्वरूप होने पर भी नहीं है। (३।१५।४३) में ज्ञानी गुरु सनकादि का आकर्षण श्रीचरण तुलसी की सौरभ से ही हुआ, (१०।८७।२१) में तो अपवर्ग को न चाहने का सम्वाद ही है, इस ब्रह्मस्वरूप से समस्त भगवत् स्वरूप का उत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है। (१।३।२८) में 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' उक्ति से भगवत् स्वरूप मात्र से श्रीकृष्ण का उत्कर्ष एवं सर्वोत्कृष्टत्व परमानन्द घन विग्रहत्व प्रतिपादिका समाख्या श्रीकृष्ण नाम ही है। (१।८।२०) के द्वारा परमहंस अमलात्मा मुनियों को भक्तियोग प्रदान करने के लिए आपका आगमन

है, इस कथन से महाप्रेम शक्ति प्रधान श्रीकृष्ण हैं, यह सूचित हुआ है, उनको वामन नारायण शब्द से भी कहा जाता है, कारण आप अंगी होने के कारण समस्त अंशों की विद्यमानता आपमें होती है समस्त भगवत् का एकमात्र आश्रय भी आप हैं। वत्स हरण लीला में ब्रह्मा को अनन्त ब्रह्माण्ड वैकुण्ठ उनके अधिकारी को भी आपने दिखलाया है, एवं सर्वोत्कृष्ट की लीला भी दिखलाई गई है।

'ननु तर्कहतं' श्रीकृष्ण के सब लीला प्रेमादि में यदि समता हो तो, पूर्वापर की हानि होगी, (भा० १।६।४०) में गोपबधूओं ने जिसकी प्रकृति को जाना है, (भा० १०।६।२०) में विरिञ्चि, भव, लक्ष्मी भी गोपियों के समान प्रसन्नता लाभ करने में असमर्थ है। (१०।६।२०) में गोपिका सुत भगवान् भक्तिमान् के लिए जिस प्रकार सुलभ हैं, दूसरे के लिए उस प्रकार सुलभ नहीं है। (१०।१२।२१ में पुण्यवान् व्रजवासीगण परब्रह्म के साथ खेलते हैं। (१०।२७।६०) में गोपियों की असमोर्द्ध्व प्रसन्नता प्राप्ति वर्णित है, (१०।३०।२६) में ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी के वन्दित चरण की अनायास प्राप्ति द्वारा गोपी सौभाग्य का वर्णन है। (१०।१४।३४, १०।४७। ५१) व्रजवासि के चरणरेणु की प्रार्थना से सम, उत्कर्ष तारतम्य की हानि होगी, कहीं पर व्यभिचार भी है, वह कृष्ण लीला रूप से और श्रीकृष्ण प्रेम के कारण ही सम, उत्कर्ष प्रभृति का प्रकाश होता है, (३।२।८, १०। ४७।६०, १०।४७।६१, १०।४७।२७) में गोपियों की अपेक्षा सबको भाग्यहीन कहकर ब्रजसुन्दरी की अपेक्षा सर्वत्र कृष्ण प्रीति का लघुत्व प्रदर्शन हुआ है, 'क्वच मृषा' व्रजभाव का उदय होने पर द्वारका भाव निवृत्त हो जाता है, शुद्धप्रेम सुख समृद्धि का अनुभव से पूर्व अनुभूत मिश्र प्रेम सुख का अनुभव असत् के समान प्रतीत होता है। सुगभीर सुखार्णव में निमज्जित होने पर और भी कुछ सुखानुभव है ? इस प्रकार अनुसन्धान हृदय में होता ही नहीं है, इस प्रकार शुद्ध मिश्र समस्त कृष्ण प्रेमानन्द को अभिभूत करने वाला एकमात्र पदार्थ है, श्रीराधारसाविष्ट निरत उस प्रेम सुख साम्राज्य का चमत्कार उस प्रेम सुख में वस्तु बुद्धि नहीं रहती है। उभय का श्रीराधा कृष्ण नामक पूर्ण महाप्रेममय नवकिशोरयुगल का

जिस प्रेम सुख में योग है, उस प्रेम में परस्पर ही परस्पर का विषयाश्रय हैं, एवं उस प्रेम से ही उद्भूत सुख साम्राज्य का महा चमत्कार प्रवाह होता है, वह उस प्रकार मिथ्या नहीं है, उसको अभिभव करने वाला, उससे भी चमत्कार पूर्ण प्रेम सुखान्तर है ही नहीं। भक्तगण भी तो सर्वोत्तम रूप से स्तुति योग्य होते हैं? सत्य है। व्यवहृतये, उन-उन भक्तों का परम प्रेमास्पद कृष्ण हैं, इस प्रकार कृष्ण की अवस्था को व्यवहार में लाने के लिए है, 'विकल्प' विविध पक्ष, विविध कल्पना होती रहती है, विशिष्ट रूप से भक्तों की वर्णना करना तो दृष्ट ही है। अन्ध परम्परया, परमोत्कर्ष के बिना ही आदर्श परम्परा से, किसी ने किसी को कुछ सर्वोत्तम रूप से कहा, किसी ने किसी से कुछ समझा वह भी उसको कुछ समझाया, इस प्रकार मूलहीन परम्परा से ही सब चलते हैं, शङ्का हो सकती है कि—निर्मूल परम्परा मात्र से निर्भर कैसे होगा? उत्तर में कहते हैं—तुम्हारी भारती वेद स्वरूपशास्त्र उक्थ जड़, काम्य कर्म से जड़मति, पहले कर्माभ्यास करके ही जड़मति को प्राप्त करते हैं, इससे परम प्रेमरस की उत्कर्ष सीमा में अवगाहन करने के लिए बुद्धि जड़ हो जाती है, मैं तो वेदकर्त्ता ही नहीं हूँ, और मेरी भारती कैसे होगी? उरु वृत्तिभिः—श्रीनारायण प्रभृति वेदों का प्रवर्त्तक हैं, किन्तु तुम्हारी शक्ति से ही वे सब वेद का प्रवर्त्तक होते हैं, अतएव भारती तुम्हारी ही है ॥३६

नित्यगोपी कहती हैं—सत्, साधु, सत् नायक, राधागुण माधुरी में सम्यक् रूप से अभिज्ञ होने के कारण अन्य व्रजनागरी का सङ्ग रहित है, अतः इदमुत्थितम्, उस राधा के लिए ही उत्थान सम्यक् रूप से उद्योग प्रयत्न सत् सदा तुम्हारे में वर्त्तमान है। अन्य गोपी सङ्ग के लिए शय्या से नहीं उठते हो, यह सत् है, उत्कृष्ट है, शय्या से उठकर यहाँ पर ही अवस्थान करते हो, निज गृह में अन्य गोपी के उद्देश से नहीं जाते हो। अन्य सखी बोलती हैं—यदि तुम कृष्ण को वैसी कहोगी तो तुम्हारा कहना तर्क सिद्ध नहीं होगा। व्रज में महाविदग्ध, रूप शीलादि सम्पन्न एकान्त अनुरागी पूर्ण गोप सीमन्तिनीगण हैं, वे सब कृष्ण सङ्ग लाभ की आशा से वह ग्रह ग्रस्त की भाँति धैर्य्य लज्जा को छोड़कर

व्रज के कानन में दिन रात भ्रमण करती रहती हैं, तुम्हारे बन्धु श्रीकृष्ण हैं, और राधा में आसक्त भी हैं, किन्तु अन्य गोपी का सङ्ग तो तर्क से सिद्ध हुआ है, कैसे कहती, कृष्ण का सङ्ग दूसरे के साथ नहीं है ? उठकर वहाँ पर ही रहना राधा के साथ विहार प्रवाह में आप्लुत होते रहना कैसे सम्भव होगा ? कृष्णगत जीवन गोपसीमन्तिनीगण कृष्णदर्शन स्पर्श प्रभृति के बिना जीवित रह नहीं सकती। अतएव अन्य सङ्ग राहित्य अन्यत्र न जाना, कहना सर्वथा मिथ्या ही है, अनेक प्रकार से अनेकों ने अनुभव भी किया है, पूर्ववादि गोपी कहती है—राधा कृष्ण नामक गौरश्याम नवनागर मिथुन का योग उस प्रकार नहीं होता है, महाप्रगाढ़तर प्रेमरज्जु से अन्योन्य गूंथे हुए रहते हैं, स्वप्न में भी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती है। यदि कहो कि, यह तो प्रत्यक्ष विरोध है ? तो कहती हूँ, अपर के साथ केवल व्यवहार निष्पन्न के लिए ही होते हैं, किन्तु महाप्रेम विलास के लिए नहीं, अत: अनेक प्रकार कल्पना तो इष्ट ही है, उसमें हेतु यह है अन्ध परम्परा, श्रीकृष्णचन्द्र राधारससुधानिधि में मग्न हैं, किन्तु जो लोक उसमें अन्ध हैं, उसकी ज्ञानपरम्परा से ही वैसी प्रतीति होती है, कहने का तात्पर्य यह है—श्रीकृष्णचन्द्र सदा राधा सङ्गी ही है, अपर प्रेम वाले के पास उसकी भावनानुसार कभी कुछ अवस्था होती तो है, उससे व्यवहार निष्पन्न भी होता है, किन्तु स्वरूप से तो श्रीकृष्ण सर्वदा श्रीराधा सङ्गी ही है, जो परम्परा जन समुदय को अन्ध बना देती हैं, उसको अन्ध परम्परा कही जाती है, वह कृष्ण की स्वाभाविकी अवस्था परम्परा है। उससे ही वैसी प्रतीति होती है। यह अनुभव सिद्ध भी है, माता-पिता के निकट तो कृष्ण बाल्यलीला प्रकट करते रहते हैं, उसी समय अन्यत्र महानागर लीला की भी रचना करते रहते हैं, इसको अनेकों ने अनेक प्रकार से देखा भी है, योगमाया भगवती श्रीकृष्ण के हित के लिए व्रज में आविर्भूत होकर सब समाधान करती रहती है, रास का समस्त समाधान भी उन्होंने ही किया है। अपर की आसक्ति का जब कृष्ण में आविर्भाव कराया जाता है, तो उससे श्रीराधा में मान उत्पन्न हो जाता है, और श्रीकृष्ण का रसोल्लास भी होता है, उनकी बात है कि कृष्ण उन सबमें आसक्त हैं। वह भ्रम है।

कृष्ण का कथन भी उस प्रकार ही है, कृष्ण की भारती उन सबको भ्रम में डाल देती है। जो गोपी अपने प्रति कृष्ण को प्रेमी जानकर कृष्ण की सेवा में रत हो जाती है, वह राधा के प्राण सर्वस्व श्रीकृष्ण के विषय में अज्ञ हो जाती है, भ्रम में पड़ जाती है, मेरे में आसक्त है कृष्ण, इस प्रकार धारणा कृष्ण की भारती ही करा देती है। यद्वा मा, मान उनके सुहृदों का ज्ञान, हमारी प्रीतिवश कृष्ण हैं, इस प्रकार धारणा से प्रेरित होकर कृष्ण की रति में प्रवृत्त होना और अन्य गोपी का मान होने से ही राधा को छोड़कर हमारे पास कृष्ण आ जाते हैं, इस प्रकार बुद्धि से प्रेरित होकर रति क्रीड़ा को प्राप्त करना है। वस्तुः श्रीकृष्ण का राधा सङ्गिरूप, अपर के लिए सर्वथा अगोचर है ॥३६॥

न यदिदमग्रआस न भविष्यदतो निधना,
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै,
र्वितथमनो विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥

सान्वयव्याख्या

(यत् (यस्मात्) इदं (विश्वं) अग्रे (सृष्टेः पूर्वं) न आस (नासीत्) निधनात् (प्रलयात) अनु (अनन्तरं) न भविष्यत् (न भविष्यति) अतः (अस्मात् कारणात) अन्तरा (मध्ये) एकरसे (केवले) त्वयि मृषा (मिथ्या रूप एवं) विभाति मितं (निश्चितं) अतः (यतः एवं अस्मात् हेतोः) द्रविण जाति विकल्पपथैः (द्रविण जातीनां द्रव्यमात्राणां मृल्लोहकाष्ठाायस-रूपाणां विकल्पा भेदाः, घटादयः तेषां पन्थानः मार्गाः प्रकारा इत्यर्थः तैः) उपमीयते (मद्दृशतया निरूपयते) इति (एवं ये) वितथमनोविलासं (वितथं मिथ्याभूतं मनोविलासं) ऋतं (सत्यं) अवयन्ति (जानन्ति, ते) अबुधाः (अज्ञाः) ॥३७॥

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या— शिशुपाल दन्तवक्र कृतं इदं दौरात्म्यं न वास्तवं स्यादित्याहुः) यत् (यस्मात्) इदं (दौरात्म्यं) अग्रे (जय-विजय देहस्थिति काले इत्यर्थः) न आस (नासीत्) निधनात् (दृश्यमान क्षत्रदेह

नाशात्) अनु (अन्तरं) न भविष्यत् (भविष्यति) अत: अन्तरा (मध्ये एव तयो: दौरात्म्यं) एकरसे (कदापि अव्यभिचारिणी परमानुग्रहैकरसे) त्वयि मृषा विभाति मितं (इतिज्ञातं) अत: (यत: एवं अस्मात् कारणात्) द्रविण जातय: स्वर्णरूप्यादय: तासां विकल्पा: भेदा: कटककुण्डलादय: तेषांपथिभि: प्रकारै:) उपमीयते, इति (एव ये शाल्वादय:) वितथ मनो विलासं (ब्रह्म शापेन कृत्रिमतया मनसि प्रकटितं त्वयि द्वेषरूपं दौरात्म्यं) ऋतं (सत्य) अवयन्ति (जानन्ति ते) अबुधा: (मुर्खा एव)।।३७।।

यत्=जिस कारण, इदम्=यह विश्व, अग्रे=सृष्टि के पहले, न आस=नहीं था, निधनात् अनु न भविष्यत्=प्रलय के बाद भी नहीं रहेगा, अत:=अतएव, अन्तरा=मध्ये, एकरसे त्वयि=केवल आपमें, मृषा विभाति=मिथ्या रूप से भान होता है, अत: द्रविण जाति विकल्प पथै:=अतएव यह विश्व मृत्तिका लौहादि द्रव्य मात्र के घट कुण्डलादि भेद प्रकार के, उपमीयते=सदृश निरूपित होता है, ये वितथ मनोविलासम्=जो लोक वितथ मनोविलास मिथ्याभूत मनोविलास को सत्य मानता है।

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—शिशुपाल दन्तवक्र कृत दौरात्म्य वास्तव नहीं है, कारण यह दौरात्म्य जय विजय के देह की स्थिति काल में नहीं था, शिशुपाल दन्तवक्र के देह नाश के बाद भी नहीं रहेगा, केवल मध्य समय में मिथ्याभूत दोनों का दौरात्म्य एक रस आपमें प्रकाश प्राप्त होता है, यह सुस्पष्ट है, इसलिए सुवर्ण रौप्यादिका भेद प्रकार (अर्थात् कुण्डलवलयादि) द्वारा उपमा दी जा सकती है, शाल्व प्रभृति इस मिथ्याभूत मनोविलास को सत्य मानते हैं, वे सब अज्ञ हैं।।३७।।

प्रपञ्च उत्पत्तिशील है, चतुर्विंश श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तुति करते हैं, श्रुति—(१) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। (२) नेह नानास्ति किञ्चन यत्=कारण, इदम्=यह विश्व, अग्रे=सृष्टि के पहले, न आस=नहीं था। श्रुति—

(१) सदेव सौम्य इदम् अग्र आसीत् (२) आत्मा इदमु एक एव अग्र

आसीत्' निधनात् अनु=प्रलय के पश्चात्, न भविष्यत्=यह विश्व नहीं रहेगा।

श्रुति—(१) न असत् आसीत् न सत् आसीत् तदानीम् सृष्टि के पूर्व यह जगत् अखण्डैक रस जगत् का अधिष्ठान रूप स्वरूप भूत वास्तव पदार्थ में था। आत्मा का कार्यभूत नाम रूपात्मक जगत् नहीं था, प्रलयान्तर सृष्टि के पूर्व 'असत्' अर्थात् कारण भी नहीं था, 'सत्' अर्थात् कार्य भी था, अतः एक रस आपमें मिथ्या रूप से प्रतीत होता है। जिस प्रकार कारण मृदादि सत्य हैं, कार्य घटादि नामधेय मात्रता हैं, उस प्रकार आकाशादि की नाम मात्रता हैं, ब्रह्म ही सत्य हैं।

(१) यथा सौम्यैकेन मृत् पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। यथा एकेन लौहमणिना सर्वं लौहमयं विज्ञातं स्यात् यथा एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसम्।

स्वामिचरण के मत में—

मुकुट कुण्डल कङ्कण किङ्कणी परिणतं कनकं परमार्थतः।
महदहङ्कृति खप्रमुखम् तथा नृहरे न परं परमार्थतः॥

हे नृहरे! मुकुट कुण्डल कङ्कण किंकिणी में परिणत पदार्थ परमार्थत कनक है, उस प्रकार महत् अहङ्कृति आकाश प्रमुख पदार्थ जगत् नहीं है, किन्तु परमार्थ परब्रह्म ही है॥३७॥

श्रुतिरूपा आहुः—यत् श्रुत्यादि प्रसिद्धमिदमनुभवसिद्धम् इदम् भगवत् स्वरूपजातम् नारायणादि अङ्गे पूर्व प्रकृत्याविर्भावान्न आस, प्रकटं नासीत्, निधनात् प्रकृत्यन्तलयादनु च न भविष्यन्ति, प्रकटरूपेण न स्थास्यति अन्तरामध्येमितं प्रकटतया ज्ञातं प्रमाण ज्ञानेन महापूर्णं ब्रह्मानन्द घनतया यथा स्वानुभवात् सर्वं त्वयिविभाति, हृदि वहिर्वा भासमाने सति मृषामिथ्यैव भवति। त्वयि कथम्भूते? एको मुख्योरसो यस्य, एक एव रसो यस्येति वा, महासुखसाम्राज्य सिन्धुकोटि प्रतिपादन निस्यन्दि परममधुर पदारविन्दे त्वयि समनुभूयमानेऽन्यत्रसुख बुद्धयनुदयान्महासुखमयत्वेन ज्ञानस्य प्राक्तनस्य बाधात्। अतो द्रविण जातीनां

द्रव्यजातीनां ये विकल्पा विविध प्रकारास्त एव पन्थानो ज्ञानोपायास्तै र्भगवत्स्वरूपमपि तारतम्येनानुमीयते, यथा सुवर्णादेः कुण्डलाद्या विकल्पा बहवो भवन्ति, यथा वा रसानां विविधाः प्रकाराः यथा वा दुग्धादेर्विकृति र्भेदास्तारतम्येन रमणीयता चमत्कारं बिभ्रति। महाचमत्कारविकल्प विशेष चानुभूते पूर्वगृहीतरूपं मिथ्यैव भवति, सर्वोत्तमेन बाधितत्वात्। एवं भगवत्स्वरूपानन्दादि चमत्कारः परमतया पूर्वगृहीतोऽपित्वदानन्दादि चमत्कारानुभवेन बाधितो भवतीत्यर्थः। अबुधास्त्वद्रूपास्वादरहिता वितथं मिथ्यैव मनोविलासमात्रं सर्वोत्तमत्वेन ज्ञातं स्वरूपमित्यर्थः, ऋतं यथार्थमित्यवयन्ति सर्वोत्तमत्वेन जायमानां बुद्धिं यथार्थां मन्यन्त इति ॥३७॥

नित्य गोप्यस्तु—कृष्णे स्वाधीनतां राधायाश्चातिस्नेहं व्यञ्जयन्त्य आहुः, यदिदं तवान्यगोपीभिर्विहरणादि, तदग्रे राधापरिचयानन्तरं राधा सङ्गात् पूर्वंनास। राधारूपमाधुरी चमत्कारानुभवानन्तरं तुच्छ तुच्छवत् कृत्वा समस्त व्रजवरसुन्दरीणामुपसन्नानामपि दर्शनादित्यागात्। अतोऽनु, अतः पश्चादपि न भविष्यति। निधनं स्व भङ्गाभावेमरणं हष्ट्वापि नियतं धनं सर्वस्वभूतस्त्वं यस्य तादृश परमानुरागि गोपीजनं प्राप्यापि यच्चान्तरा मितं ज्ञातमस्माभिरन्यया विहरणं त्वयि तन्मृषा तितिक्षया अस्माक-मुपेक्षयैव। कथम्भूतेत्वयि ? एकं राधासङ्ग सुखमेव रसयति, अन्यत्रकृष्णः सुखबुद्धया न प्रवर्त्तते, किन्त्वनुरोधादेव। भवतु तावता किमित्युपेक्षित-मासीत्। अतः परमन्यया आलापोऽपि दृक्पातोऽपि कर्त्तुं न दातव्यः, सन्ततमस्मत् प्राणसखी सविध एव त्वं स्थापनीयः, मनागपि नास्यास्त्वद् विच्छेद दुःखं सोढ़ुं शक्नुमः इति भावः। अतो यतः श्रीराधायामेव तवाद्यासक्ति रन्यत्रासक्तयभिनयमात्रम् न वस्तुतः। ततो द्रविण जाति विकल्प पथैरुपमीयते, विकारो मिथ्या मृदाद्येवसत्यं यथा तथाऽन्यासक्ति मिथ्या राधासक्तिरेव वास्तवीति। अबुधा गोप्यो वितथं मनोविलास मात्रमृतमित्यवयन्ति, कृष्णस्य कपटप्रीत्यतिशयव्यञ्जनेन कृष्णोऽस्मा-स्वत्यासक्त इति यो मनोविलासो मनः कल्पनं तदेव सत्यमवयन्ति। इदानीमस्माभिरन्या प्रसङ्गोऽपि निषेध्यस्तदा तासां भ्रमो गमिष्यति कृष्णोऽस्मद् वशवर्त्तीति ॥३७॥

श्रुतिरूपा गोपी कहती—श्रुति में वर्णित है, वह अनुभव सिद्ध है। यह भगवत् स्वरूप जात श्रीनारायणादि प्रकृति आविर्भाव के पहले प्रकट नहीं थे। प्रकृति का आत्यन्तिकलय होने के बाद भी नहीं होगा प्रकट रूप में नहीं रहेंगे। अन्तरा मध्य में, प्रकट रूप में ज्ञात होते हैं, प्रमाण ज्ञान से महापूर्ण ब्रह्मानन्दघन से जो अनुभूत होते हैं, वे सब आपमें ही शोभित होते हैं। आप किस प्रकार होते हैं, जिसका मुख्यरस एक ही है, एक ही रस जिनका है, महासुख साम्राज्य सिन्धुकोटि प्रतिपादन निस्यन्दि परम मधुर पदारविन्द आपका है, आपकी अनुभूति सम्यक् रूप से होने पर अन्यत्र सुख बुद्धि का उदय होता ही नहीं, महासुखमय ज्ञान प्राक्तन ज्ञान का बाधक होता है।

अतएव द्रव्य जाति के जो विविध प्रकार होते हैं, वह ज्ञान प्राप्त करने का उपाय है, उससे ही भगवत् स्वरूप को भी तारतम्य से जान सकते हैं। उससे ही अनुमान होता है, जिस प्रकार सुवर्णादि के कुण्डल प्रभृति अनेक प्रकार होते हैं, जिस प्रकार रस के अनेक प्रकार होते हैं, जिस दुग्ध का विकार से अनेक पदार्थ बनते हैं, वे सब ही मूल से तरतमता से रमणीय एवं चमत्कार पूर्ण होते हैं। महा चमत्कार पूर्ण विकल्प विशेष का अनुभव से पूर्व गृहीत रूप मिथ्या होता है, सर्वोत्तम ज्ञान ही उसका बाधक बनता है। इस प्रकार भगवत् स्वरूपानन्दादि चमत्कार परम तो है, प्रथम उस प्रकार से गृहीत भी हुआ है, आपके आनन्दादि चमत्कारानुभव से वह ज्ञान बाधित होता है। अबुधगण आस्वादन करने में असमर्थ होते हैं, और आप सर्वोत्तम स्वरूप होने पर भी सब आपकी मिथ्या, मनोविलास मात्र मानते हैं, और सर्वोत्तम रूप सञ्जात बुद्धि को ऋत यथार्थ मानते हैं ॥३७॥

नित्यगोपी कहती हैं—श्रीकृष्ण में स्वाधीनता एवं श्रीराधा में अति स्नेहशीलता है, उसको वर्णन करती हुई कहती है, यह जो अन्य गोपियों के साथ तुम्हारे विहारादि हैं, वह सब राधा परिचय के पश्चात् ही हुआ है, राधा के साथ होने के पहले नहीं था, राधा रूप गुण माधुरी चमत्कार का अनुभव के अनन्तर उसको तुच्छ की भाँति मानकर समस्त व्रजसुन्दरी

गण स्वयं आकर सेवा के लिए उपस्थित होने पर भी उन सबका दर्शन करना भी कृष्ण ने छोड़ दिया था, अत: अनु, पश्चात् अन्य गोपी का सङ्ग होना सम्भव ही नहीं है। निधन—सङ्ग के अभाव से मरण होगा, जानकर भी नियत धन सर्वस्व भूत तुम हो, उस प्रकार परमानुरागि गोपीजन प्राप्त होने पर भी मैं सब जानती हूँ कि कृष्ण अपर गोपी के साथ सङ्ग करता है, यह मिथ्या है, कारण सहन शक्ति के द्वारा ही हम सब उपेक्षित रहती हूँ। तुम किस प्रकार हो ? एक राधा सङ्ग सुख के लिए ही राधा रस सुधानिधि में निमज्जित होकर रहते हो।

अन्यत्र कृष्ण, सुख बुद्धि से प्रवृत्त नहीं होते हैं, किन्तु अनुरोध से ही प्रवृत्त होते हैं। हो, उससे क्या होगा ? इस प्रकार उपेक्षित ही होती है। अतएव अन्य के साथ आलाप दृक्पात करने के लिए भी समय नहीं दिया जाता है। निरन्तर हमारी प्राण सखी के पास ही तुम्हें रखना है। हम सब ईषद् भी तुम दोनों का विच्छेद सहन कर नहीं पाती हैं। अत: जिस कारण से श्रीराधा में तुम्हारी आद्या आसक्ति है, अन्यत्र आसक्ति का अभिनय मात्र है। वस्तु नहीं है, अतएव जिस प्रकार मृत्तिका प्रभृति का विकार मिथ्या है, और मृत्तिका सत्य है, उस प्रकार अन्यासक्ति भी मिथ्या है, राधा आसक्ति ही वास्तविकी है, अविवेकी गोपीगण वितथ, मिथ्या मनोविलास मात्र ही जानती हैं, श्रीकृष्ण कपट प्रीति का प्रदर्शन अतिशय रूप से कराते हैं, उसको ही हमारे प्रति कृष्ण अति प्रीत हैं, इस प्रकार मानकर मनोविलास, मन: कल्पन को ही सत्य मान लेती है, इस समय हम लोकों ने अन्य सङ्ग छोड़कर आई हूँ। इस प्रकार गोपी हृदय में भ्रम उत्पन्न हो जाता है, और गोपीगण मानती है कि कृष्ण तुम्हारे वशवर्त्ति हैं ॥३७॥

स यदजयात्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्,
भजति सरूपतां तदनुमृत्युमपेत भगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो,
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥३८॥

सान्वयव्याख्या

स (जीवः) तु यत् (यस्मात्) अजया (मायया) अजां (अविद्यां) अनुशयीत (आलिङ्गेत, तस्मात्) गुणान् (देहेन्द्रियादीन्) तदनु (तत्पश्चात्) सरूपतां (तद्धर्म योगं) च जुषन् (सेवमानः) अपेतभगः (पिहितानन्दादि गुणः च सन्) मृत्युं (मरणधर्मि संसारं) भजति (प्राप्नोति) अहिः (सर्पः) त्वचं इव आत्तभगः (नित्यप्राप्तैश्वर्यः (त्वं उत (तु) तां (अजां) जहासि, (कुतः) अपरिमेयभगः (अपरिमितैश्वर्यः च त्वं) अष्ट गुणिते (अणिमाद्यष्ट विभूतिः भूतिः)महसि (परमैश्वर्ये) महीयसे (पूज्यते विराजसे इत्यर्थः ॥३८

श्रीसनातन सम्मता व्याख्या—(ननु भवतु तयोः संसारित्वस्य मिथ्यात्वं निद्रादिरूपं प्रापञ्चिक जीवावस्थां भजतो मे जीवनिर्विशेषत्वेन कथं संसारित्वाभाव इत्याशङ्क्य साधारण जीवस्येव दुःखभरस्य अविच्छेदं वर्णयन्त्यः श्रीभगवतो नित्यनिर्भर परमानन्दास्वादमाहुः) सः (जीव) तु यत् (यस्मात्) अजया अविद्यया अजां (अजाकार्यभूतां निद्रां) अनुशयीत (आलिङ्गेत, तस्मान) गुणाम् (निद्रासम्बन्धि विषयान्) स रूपतां सुरनर तिर्यक् समान रूपता च) जुषन् (भजन्) अपेत भगः सर्वथाविस्मृत निज (साध्यसाधनभावः सन्) तदनुमृत्युं (मृत्युतुल्या सुषुप्तिमपि) भजति, अहिः (सर्पः) त्वचं इव आत्तभगः (योगनिद्रायामपि प्रकटितपरमैश्वर्यः) त्वं उत (तु) तां (अजां) जहासि (दूरतः परिहरसि, जीववत् रजः कार्यभूता निद्रा नास्त्येव किन्तु विशेष विलासभूता निद्रा तवास्ति इत्यर्थः यतः)अष्टगुणिते (अष्टाभिः मुख्यभूताभिः प्रेयसीभिः गुणिते परिशीलिते महसि रासादि रूपे महोत्सवे) अपरिमेयभगः (युगपत् सर्वव्रजसुन्दरीगणपार्श्ववर्त्तित्वात् अप्रकटित पूर्वाणां सर्वगुणरूपमाधुरीविशेषाणां प्रावट्याच्च परमाद्भुत स्वरूपः सन् महीयसे विराजसे इत्यर्थः ॥३८॥

जीव मायामुग्धहोकर अविद्या को आलिङ्गन करता है, इसलिए देहान्द्रियादि का भजन कर भक्तियोग का आचरण नहीं करता है, आनन्दादि गुण को आच्छादित कर मरण धर्मि संसार को प्राप्तकर लेता है, किन्तु सर्प जिस प्रकार निज त्वक् को परित्याग करता है, उस प्रकार आप नित्य प्राप्त ऐश्वर्य हैं, आप उक्त अविद्या को परित्याग करते हैं। आप

माया परतन्त्र नहीं हैं। कारण अपरिमितैश्वर्यशाली आप अणिमादि अष्ट विशिष्ट परमैश्वर्य में विराजित हैं ॥३८॥

श्रीसनातन सम्मत व्याख्या—हे श्रुतिगण, तुम सबने शिशुपाल दन्तवक्र का संसारित्व होना मिथ्या कहा है, सत्य है, किन्तु निद्रादि रूप प्रापञ्चिक जीवावस्था भजन परायण मेरा जीवसाम्य हेतु संसारित्व का अभाव कैसे होगा कहो ? श्रीकृष्ण की वैसी आशङ्का मन में करके श्रुति गण साधारण जीव ही दुःखकर कर्मबद्ध हैं, इसको वर्णन कर श्रीभगवान् नित्य निर्भर परमानन्दास्वादनशील हैं, इस विषय की वर्णना करती हैं—जीव अविद्या मुग्ध होकर अविद्या कार्यभूत निद्रा को अवलम्बन करता है, इसलिए निद्रा सम्बन्धी विषय एवं सरूपता का भजन कर निज साध्य साधन भाव को भूल जाता है, और मृत्युतुल्य सुषुप्ति को प्राप्त करता है, किन्तु सर्प जिस प्रकार निज त्वक् को परित्याग करता है, उस प्रकार आप भी योगनिद्रा में भी ऐश्वर्य को प्रकट कर निद्रा को परित्याग करते हैं। अर्थात् जीव की भाँति रजोगुण युक्ता निद्रा आपमें नहीं है—कारण मुख्यभूत अष्ट प्रेयसी परिशीलित रासादि रूप महोत्सव में अपरिमेयभग (अर्थात् युगपत् सर्वव्रजसुन्दरीगण के समीप में अवस्थित होने के कारण एवं अप्रकटित पूर्व सर्वरूप गुण माधुरी विशेष को प्राकट्य के कारण परमाद्भुत स्वरूप) होकर विराजित हैं ॥३८॥

ईश्वर एवं जीव सर्वथा भिन्न भिन्न हैं, पञ्चविंश श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तुति करते हैं, भेद वाचक श्रुति, (१) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति।

(१) अजाम् एकाम् लोहित शुक्लकृष्णाम् ॥

स्वामिचरण के मत में—

नृत्यन्ती तव वीक्षणाङ्गनगता कालस्वभावादिभिः,
भावान् सत्य रजः तमोगुणमयान् उन्मीलयन्ती बहून्।
मामाक्रम्यपदा शिरस्यतिभरं संमर्दयन्त्यातुरं,
माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वमेव तां वारय ॥

हे नृहरे ! आपकी शरण ग्रहण किया, माया निवारण करो । आपकी ईक्षण शक्ति से सामर्थ्यवती होकर माया अनेकविध कार्य करती रहती है, काल स्वभावादि द्वारा शान्त और मूढ़ लक्षण गुणमय भाव प्रकाश करती है, वह माया पैर से मेरे मस्तक को आक्रमण कर अत्यन्त मर्दन कर रही है, आपकी माया है, आप इसको निवारण करो, अपर कोई भी व्यक्ति इसको निवारण नहीं कर सकता है ॥३८॥

श्रुतिरूपा आहुः—श्रीकृष्णस्य नारायणादुत्कर्षं श्रीकृष्णस्य च सर्वेवस्थातः श्रीराधारसाविष्टावस्थाया उत्कर्षं वर्णयन्त्य आहुः, स नारायणो यद् यस्मात् अजया स्व परशक्ति मायया अजां जड़त्रिगुण प्रकृति रूपा मनुशयीत आलिङ्गेत् ततो गुणान् समष्टि व्यष्टि देहान् स्वनिर्मितान् जुषन् सेवमान आहार्याभिमानं कुर्वन् सरूपतां भजति, प्राकृत कर्त्तृत्वादि रहितोऽपि तद् वानिव भवति । अपेतभग उपाधि संसर्ग दोषानभिव्यज्यमान निजमहैश्वर्यः । जीवा अथान्ये समष्टि व्यष्टि देहा अविद्याऽभिमानिनस्तदनु मृत्युं संसारं भजति, प्राकृत धर्मेण तद्वानिव भवति, इत्यर्थः त्वन्तु तामजां मायां जहासि, मायामधिष्ठाय सृष्ट्यादि न करोषि, सृष्टानां च परिपालनं निग्रहानुग्रहादि वैयग्र्य रूप संसार वानिव न भवसीति । अहिरिव त्वचं सापिमाया त्वदाश्रितैव, तथापि सख्यान्न तां त्वामधितिष्ठसि, किन्तु नारायण रूपेणेव आत्तं गृहीतमैश्वर्यं येन, ऐश्वर्याभिव्यक्तिस्तव सर्वोपाधिरहितस्य नास्तीति भावः । आत्तं स्वीकृतं श्रमं भजनमेव येन, नतु सृष्ट्यादि तथापि अष्टाभिर्नायिका भी राधा चन्द्रावली ललिता विशाखा श्यामा पद्मा भद्रा शैव्याभिर्गुणितेनऽप्रधानीकृते स्वायत्तीकृते महसि परम महोत्सव रूपे विलासे महीयसे विराजसे । महाज्योतिर्मय विग्रहे वा महामहोत्सवमये वृन्दावने वा । एवं महारससाम्राज्यसार महार्णवमग्नोऽपि त्वमपरिमेयभगः अपरिमितैश्वर्यनिधिः । त्वदैश्वर्यापेक्षया । त्वत् स्वरूपान्तरेषु त्वदवस्थान्तरेषु वा ऐश्वर्यं परिमितमेवेति भावः । यद्वा परितो मा शोभा मधुररससम्पत्ति र्वा यस्या. सर्वासु गोपसुन्दरीषु रमादिदिव्यरमणीवृन्दमृग्यनखमणीरामणीयकासु यस्या एव प्रेमरूपरस वैदग्ध्याद्यंशाः प्रसृताः सा श्रीराधैव पूर्ण महानुराग

हरविलासादिनिधिस्तस्या इः कामः तं याति प्राप्नोति भगं भजनीय गुण धामवपुर्यस्य,अपरिमेय श्रीरितिवा। अपरिमिता इः शोभा इः काम कृष्ण विषयो वा यस्यास्तां राधां याति भगं सर्वमैश्वर्यं यस्य राधाया हृत मित्यर्थः। इत्थं वा श्रुत्युक्तिः—स भगवान् अजया अजां निजशक्ति लक्ष्मीरुक्मिण्यादि रूपाम् अनुशयीत वर्त्तते, माययैव तद् गुणांश्च शब्दस्पर्श रूपादीन् जुषन् सेवमानो भवति,माययैव सरूपताश्च भजति,तद्वदत्यासक्तो भवतीत्यर्थः। (भा० १।१।४०) तं मेनिरेऽबला मौढ्यात् स्त्रैणं पार्श्वं गतं रहः ? (भा० १।११।३७) कुहकैर्नशेकुः इत्याद्युक्तेः। माययैवापेतैश्वर्य्यो भवतीति तदधीनो भवति। वस्तुतः सर्वात्म पर ब्रह्मानन्दानुभव मग्नस्या न्यासक्तत्वादिनां न सम्भवतीति। त्वं तु तां मायां जहासि, सान्द्रानन्द महारस साम्राज्यसाराकरविशुद्ध प्रेम शक्त्येक विलासितया स्वप्रेम शक्त्युपजीविनीं तां मायां फल्गुतया त्यजसि, तेन स्वाभाविक एव तव आसक्त्यादि रित्यर्थः। अष्ट नायिका गुणभूतीकृते महसि स्वरूपे महीयसे। आत्त विशिष्टैश्वर्य श्री कामादिः, तत्रापि विशेषमाह—परितो मा यस्याः सा राधा तद् विषयेण इना कामेन अत्युद्रिक्तेनाऽपरिमेय भगो निज महा महैश्वर्ये अपि अदृष्टिरित्यर्थः। ऐश्वर्यं निमिषार्द्धमपि राधा सङ्गति त्याग सामर्थ्यं तद्रहितः, अन्यासङ्गतिस्तु तदैव त्यक्तुं शक्यते; राधारसाकृष्टतया न विद्यते अन्या भजनं वा स्वारसिकं यस्य कामो वा अन्यस्यामिति ॥३८॥

नित्यगोप्यस्तु आहुः—यद् यो भवान् मायया अजां लज्जा भयादिकं क्षिपति, स्वयमेव कामोन्मत्ततां गच्छति, सबिध प्राप्नोति दैवाद् वनवीथ्यादौ निरन्तरं भ्रमन्ती जानाति च तमेव नान्यत् स्वदेहगेहादिकं किमपि, तां गोपाङ्गनानाम्, अजया मायया कपट प्रेम वेशेनानुवर्त्तते, तद् गुणांश्च शब्दस्पर्शादीन् सेवते, माययैव च तद्वद् तदासक्तो भवति। अपेत भगश्च तन्निधान त्यागासमर्थ इव च भवति, स एव त्वं मायां कपटं जहासि, अहिरिव त्वचम्, त्यक्तायामपि मायायां कदाचिदपि वर्त्तसे रस पोषार्थमेव, अन्यया मिलनविड़म्बनमात्रं कृत्वा न मया कदापि क्रीड़ित-मित्यादि मायां करोषि, श्रीराधाया वा मानादिकमुत्पादयितुं किंकर्त्तव्यमु ? मय्याबाल्यमत्यन्तानुरागिणीनां समाधानार्थं पित्रोः

प्राणवयस्यानां च मदेक जीवानानां निर्वृत्यै व्रजे गमनमपेक्षितम्। मम तत्र न मन: खेदनीयमत्यचिरेणागन्तव्य मित्याद्यपेक्षा भावेऽपि तदुपन्यास कपटं वा कदाचिदवलम्बसे इत्येव हृष्टाशय: अष्टाभिर्मुख्याभि र्गुणिते विहारादिभिरभ्यस्तेऽपि महसि तव वपुसि त्व परिमा राधा तत्र वाम नैव अभग: किमपि चेष्टितुमनीश्वर: अश्रीका वा निमिष विरहेण परमम्लान: अभमदीप्ति निजवपुर्गच्छतीति वा। आत्तभगोऽपि परमैश्वर्यं परम श्री सम्पन्नोऽपीति ॥३८॥

श्रुतिरूपागोपी कहती है—श्रीकृष्ण का नारायण से उत्कर्ष प्रति पादन करती है, एवं श्रीकृष्ण की निखिल अवस्था से भी श्री राधारसाविष्ट अवस्था का उत्कर्ष है, इसको विशद रूप से वर्णन करने के लिए कहती है, वह नारायण स्वपर शक्ति जड़त्रिगुण प्रकृति रूप को आलिङ्गन करके शयन करते हैं, तव गुण रूप समष्टि व्यष्टि देह समूह को निजनिर्म्मित होने पर भी कृत्रिम अभिमान को प्राप्त करते हैं, प्राकृत कर्त्तृत्वादि दोष रहित होने पर भी प्राकृत दोष युक्त के समान हो जाते हैं, अपेतभग, उपाधि संसर्ग दोष से आवृत हो जाताहै, निज महैश्वर्य, समष्टि देह युक्तको जीव कहा जाताहै, वह नारायण से भिन्न है, अविद्या से अभिमानी होकर संसार को प्राप्त कर लेता है, प्राकृत धर्म से ग्रस्त होकर उसके समान हो जाता हैं, तुम तो उस माया का परित्याग करते हो, माया को अवलम्बन कर सृष्ट्यादि नहीं करते हो, सृष्ट पदार्थोंका पालन अनुग्रह निग्रहादि रूप व्यग्रता युक्त व्यक्ति के समान नहीं होते हो, अहिरिवत्त्वच, सांपकीत्वक्की भाँत्ति मायाभी तुम्हारी आश्रित है। तथापि सख्य के लिए भी उसका सङ्गनहीं करते हो, किन्तु नारायण रूप से ही उस ऐश्वर्य को सफल करते हो, सर्वोपाधिमुक्त तुम हो, तुम्हारी ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति नहीं होता है, तुम तो भजन को ही स्वीकार करते हो, सृष्टयादि कार्य को नहीं। तथापि अष्ट नायिका राधा, चन्द्रावली, ललिता, विशाखा, श्यामा, पद्मा, भद्रा, शैव्या, के द्वारा वशीभूत होकर परम महोत्सव रूप विलास में विराजित होते हो, महाज्योतिर्मय विग्रह में अथवा महामहोत्सवमय श्रीवृन्दावन में विलास करते रहते हो। इस प्रकार महारस साम्राज्य सार महार्णव

में मग्न होकर भी तुम अपरिमित ऐश्वर्य निधि हो, तुम्हारे ऐश्वर्य की अपेक्षा तुम्हारे स्वरूपान्तर में तुम्हारे अवस्थान्तर में जो ऐश्वर्य है, वह ऐश्वर्य परिमित है, अथवा, परितो सर्व प्रकार से मा शोभा, मधुर सम्पत्ति जिसकी है, एवं सकल गोप सुन्दरी में रमादि दिव्य रमणीवृन्द अन्वेषणीय नखमणि की रमणीयता है जिसकी, ऐसी श्रीराधा है। उन से ही सर्वत्र प्रेम रूप रस वैदग्ध्यादि के अंश समूह प्रसृत होते रहते हैं, वह श्रीराधा ही पूर्णमहानुराग रूप विलासादि निधि हैं। उनका इः काम, को तुम प्राप्त करते हो, अतएव तुम्हारी वपु भजनीय गुण धामवपु है और अपरिमेय श्रीयुक्त भी है, अपरिमा अपरिमिता इः, शोभा इःकाम, प्रभृति सकल की कृष्ण सेवा में नियुक्त है, ऐसी राधा रूपा सम्पत्ति का उपभोग भी सम्पत्तिश्रीराधा तुमही करते हो॥

श्रुति—भी इस प्रकार ही कहती है, वह भगवान् अजया निज शक्ति लक्ष्मी रुक्मिणी को लेकर रहते हैं। माया द्वारा उसके गुण शब्द स्पर्श रूपादि का सेवन भी करते हैं, माया से सरूपता को प्राप्त करते हैं, उस के समान आसक्त भी होते हैं, (भा० १।११।४०) में वर्णित है, स्त्रीगण श्रीकृष्ण को स्त्रैण मानती थीं।(१।११।७७) में वर्णित है कि स्त्रीगण हाव भाव से भी श्रीकृष्ण को चञ्चल करने में समर्थ नहीं हुई। माया से आच्छादित ऐश्वर्य होकर उन सब के वशीभूत हो जाते हैं, वस्तुत, सर्वात्म परब्रह्मानन्दानुभव मग्न की अन्यत्र आसक्ति हो ही नहीं सकती है, तुम तो उस माया को परित्याग करते हो तुम तो सान्द्रानन्द महारस साम्राज्य सार का आकर रूप विशुद्ध प्रेम शक्ति में ही एकमात्र विलसित होते हो अतएव उस निज प्रेम शक्ति के अवलम्बन से ही जो जीवित रहतीं है, ऐसी माया को तुच्छ मानकर तुम परित्याग करते हो, इससे प्रतीत होता है, कि तुम्हारी आसक्ति भी स्वाभाविकी है, अष्ट नायिका को भी गौण करके निज परमानन्द राधारससुधानिधि में मग्न रहते हो, कारण उस में ही तुम्हें पर्याप्त विशिष्ट ऐश्वर्य कामादि सुख मिलता है।

जो उसमें भी विशेष है, उसको कहती है।—परितो सर्व प्रकार से, मा शोभा है, जिस कृष्ण की वह ही श्रीराधा है, उसकी इच्छा अतिशय

उद्रिक्त होकर तुम्हारे में रहती है, निज महामहैश्वर्य पूर्ण होने पर भी उस ऐश्वर्य के प्रति तुम्हारी दृष्टि नहीं है, ऐश्वर्य वह है, जिसका सङ्गका निमिषार्द्ध काल के लिए भी त्याग करना असम्भव हैं, ऐसी सङ्गति एकमात्र श्रीराधा सङ्गति है, अन्य की सङ्गति को तो उस समय में छोड़ सकते हो, राधारसाकृष्ट होनेके कारण अन्यका भजन प्रसङ्ग तुम्हारे पास आता ही नहीं है, अपर में स्वारसिकी इच्छा नहीं रहती है ।।३८।।

नित्यगोपी कहतीहै—आप तो माया से लज्जाभय प्रभृति को छोड़ देते हो, स्वयं ही कामोन्मत्तता को प्राप्त कर लेते हो,समीप को प्राप्त भी करलेते हो, यह भी दैव से ही होता है, वनवीथि प्रभृति में भ्रमण करनेवाली गोपी आपको प्राप्त कर लेती हैं, आप को ही वह जानती है, निज देह गृह आदि कुछ भी नहीं जानती है, गोपाङ्गना तो ऐसी है, आप तो कपट प्रेमावेश से ही उसका अनुवर्त्तन करते हो, माया से ही उस के समान आसक्ति का प्रकट करते हो, अपेतभग, उसके सन्निधि को छोड़ना आप के लिए असम्भव है, जिस प्रकार असमर्थ व्यक्ति किसी का सामीप्य त्याग करने में असमर्थ है, उस प्रकार आप स्वतन्त्र होकर भी सत्य ही पराधीन होते हो, ऐसा आप कपट को परित्याग करते हो, जिस प्रकार सर्प अपना कञ्चुक का परित्याग करता है। परित्यक्त माया के साथ भी कभी व्यवहार करते हो, वह भी केवल रस पोषण के लिए होता है। अपर के साथ मिलन विड़म्वन मात्र दिखाकर मैंने किसी के साथ रति क्रीड़ा नहीं की इस प्रकार माया करते हो, श्रीराधिका का मान उत्पन्न कराने के लिए ही वैसा करते हो, कारण क्या है ? मेरे प्रति आबाल्य अत्यन्त विशुद्ध अनुरागवतीयों की समस्या समाधान के लिए, पिता माता को सन्तोष प्रदान करने के लिए मैं जीवन सर्वस्व हूँ,वैसे प्राण वयस्यों को आनन्दित करने के लिए व्रज को जाना आपेक्षिक है, उस समय "मेरे लिए चिन्ता न करो, मैं सत्वर ही आऊँगा" इस प्रकार कहने की आवश्यकता न होने पर भी कहते हो, कदाचित् कपट का भी सहारा लेते ही हो, इस प्रकार अभिप्राय देखने में आया है। मुख्य आठ महिषीयों से विहार एव आयास को प्राप्त करके भी महत्त्वपूर्ण विग्रह में अवस्थित होकर भी परिमा राधा

की सङ्गति के लिए व्यग्र सदा ही रहते हो, और अष्ट महिषीयों के साथ कुछ भी व्यवहार नहीं कर पाते हो, निमेष मात्र विरह से परमम्लान ह्वे जाते हो, शरीर ही छुट जाय वैसी ही अवस्था होकर रहती है, आप आत्त भगो हो परमैश्वर्य परम श्रीसम्पन्न होकर भी श्रीराधा की स्मृति विभोर हो जाते हो ॥३८॥

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृत कण्ठमणिः ।
असुतृप योगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव
न्ननपगतान्तकादनधिरूढ़ पदाद् भवतः ॥३६॥

सान्वयव्याख्या

भगवन् यतयः यदि हृदि (हृदये स्थिताः) कामजटाः (कामस्यजटाः मूलानि वासनाः इत्यर्थः) न समुद्धरन्ति (नोत्पाटयन्ति न परिहरन्ति इत्यर्थः तदा) अस्मृतकण्ठमणिः अस्मृतः यः कण्ठमणिः तत्तुल्यः यथा कण्ठे वर्त्तमानोऽपि मणिः अस्मृत श्चेत् तदा अप्राप्त इव भवति तद्वदित्यर्थः, त्वं असतां (एतेषां अपकव योगीनां) हृदिगतः (स्थितः सन् अपि) दुरधिगमः (दुष्प्राप्यः भवसि) (किञ्च) असुतृपयोगिनां (इन्द्रिय तर्पण पराणां छद्म योगीनां) अनप गतान्तकान् (अनपगतः यः अन्तकः लोकाराधनादि क्लेशः धनार्ज्जनादि क्लेशःभोग वैभव प्राकट्य भय रूपः मृत्युरित्यर्थः, तस्मात् तथा अनधिरूढ़ पदाद् भवतः (त्वत स्वरूप प्राप्त्यभावात् अविद्या विषयत्वेन प्राप्त निज धर्मातिक्रम निबन्धन दण्ड रूप नरक प्राप्तेः त्वत्तः इत्यर्थः) उभयतः (इह अमुत्र) अपि (च) असुख (दुःखं भवेत्) ॥३६॥

श्रीसनातनसम्मता व्याख्या—(साधारण्येनाविद्याभाजः दुःख मुक्त्वा तत्रैव दाम्भिकानां गतिं आहुः)—यतयः (परित्यक्तदारादिकाः जना अपि) यदि कामजटाः (कामस्य मन्मथस्य जटाः दुःसंस्कारान्) न समुद्धरन्ति (गोकुल लीला श्रवण कीर्त्तन रूपया न तद् भक्त्या निरस्यन्ति;तदा अस्मृत कण्ठ मणिः (अस्मृतः यः कण्ठ मणिः तत्तुल्य इत्यर्थः त्वं) असतां(एतेषां असाधूनां) हृदि गतः (स्थितः सन् अपि) दुरधिगमः (दुर्बोधः भवसि)

किञ्च भगवन् ! असृतृप योगिनां (जिह्वातर्पणार्थ प्रकटित दम्भयोगानां इत्यर्थः) अनपगतान्तकात् (उपस्थित कृतान्तात् तथा) अनधिरूढ़ पदात् (अज्ञातदुःख स्वरूपात्) भवतः (संसारात्) उभयतः (इह परत्र) अपि (च) असुखं (दुःखं भवेत्) ॥३६॥

हे भगवन् ! यतिगण यदि हृदयस्थित काम वासना को परित्याग नहीं करते हैं तब मणि कण्ठदेश में रहने पर भी विस्मृत होनेपर वह अप्राप्त वत् होती है, तद्रूप आप उक्त अपक्व यतिगण के हृदय स्थित होकर भी दुष्प्राप्य होते हैं, और इन्द्रिय तर्पण परायण छद्मयोगि गण को इस जगत में अनिवृत्त अन्तक, अर्थात् लोकाराधानादि क्लेश, धनार्जनादिक्लेश, भोग वैभव प्राकट्यमय रूप मृत्यु से दुःख उत्पन्न होता है, एवं इस निमित्त परलोक में भी अविद्या विषयत्व हेतु कर्त्तव्य निज धर्मातिक्रम निबन्धन दण्ड रूप नरक भी लाभ होता है, यह सब आप से ही मिलते हैं ॥३६

श्रीसनातनसम्मतव्याख्या—साधारण रूप से मायामुग्ध जीव के दुःख को कहकर श्रुतिगण दाम्भिकों के परिणाम का वर्णन करते हैं—जनगण पुत्रकलत्रादि को परित्याग करके यति होकर भी यदि कामदुःसंस्कार को गोकुल लीला श्रवण कीर्त्तन रूप भक्ति द्वारा विदूरित नही कर सकते हैं, तब विस्मृत कण्ठमणि के समान आप उस असतों के हृदय में आत्मरूप में स्थित होने पर भी उसके लिए दुर्बोध ही होते हैं, और भगवन् ! रसना तर्पणार्थ प्रकटित दम्भयुक्त व्यक्तिगण को इस जगत में मृत्यु से दुःख मिलता है, एवं पर काल में अज्ञात दुःखरूप संसार से दुःख मिलता है ॥३६

छद्मवेशी सन्न्यासी का उभयत्र ही दुःख है, षड्विंश श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तुति करती हैं। उपरोक्त साधन कदम्ब द्वारा जो जन भगवान् का भजन करता है, वह मृत्यु रूप संसार को पार कर लेता है, भक्ति विमुख व्यक्तिगण संसरण करते हैं, सम्प्रति जो लोक विषयसङ्ग को त्यागकर भजन मार्ग में प्रवृत्त होता है, और काम भोग करता रहता है, उसको भगवत् प्राप्ति नहीं होती है, इस जगत् में सुखी नहीं होता है, और कुयोनि प्राप्त होता है।

श्रुतिः—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिः जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्त कामस्य कृतात्मनः तु इह एव सर्वे प्रविलीयन्त कामः ॥

दृष्टादृष्ट विषय की जो इच्छा करता है, कामगुण की चिन्ता से वह काम के साथ जन्म ग्रहण करता है। काम जिस जिस विषय को प्राप्त करने के लिए पुरुष को नियुक्त करता है, उस उस इष्ट विषयक काम द्वारा वेष्टित होकर पुरुष जन्मलाभ करता है। प्राप्तात्म तत्व के सब काम यहाँपर ही लय हो जाते हैं, कारण परमार्थ तत्व विज्ञान हेतु वह पर्याप्त काम होता है। गीतोपनिषत् का संवाद यह है।—

(२)आपूर्यमानमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

नाना नदनदी द्वारा परिपूर्यमान, अनतिक्रान्त मर्यादा समुद्र में जिस प्रकार चतुर्दिक से आकर जलराशि में प्रविष्ट होते हैं किन्तु उससे समुद्र का विकार उत्पन्न नहीं होता है। उस प्रकार समस्त काम प्रविष्ट होने पर भी मुनि का हृदय विकार ग्रस्त नहीं होता है, कामकामी वह मुनि शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता है।

(३) आत्मानञ्चेत् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

सच्चिदानन्द परमात्मा देहादि से अतिरिक्त हैं, उनको जिन्होंने जान लिया है वह व्यक्ति आत्मा व्यतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को इच्छाकर आत्मा व्यतिरिक्त वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न परायण होने पर वह व्यक्ति शरीर उपाधि कृत सुख राग दुःख द्वेष भय मान अपमानादि के द्वारा संतप्त ही होगा अर्थात् भ्रष्ट होगा। अतएव लोकाराधन धनाज्र्जनादिक्लेश, एवं भोग वैभव प्राकट्य के भय से कुयोगी इहलोक परलोक में दुःखी होता है। स्वामिचरण कहते हैं—

दम्भन्यासमिषेण वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं
सम्मुह्यन्तमहर्निशं विरचितोद् योगक्लमैराकुलम् ।
आज्ञालङ्घिनमज्ञजनतासम्माननासम्मदं
दीनानाथ दयानिधान परमानन्द प्रभो ! पाहि माम् ॥

(१) दम्भपूर्वकसन्न्यास के छल से लोक वञ्चना कर रहा हूँ। (२) भोग के लिए ही चिन्तातुर हूँ। (३) निरन्तर दिन रात सम्मोह को प्राप्त कर रहा हूँ। (४) मठादि निमाण हेतु धनाहरण परिश्रम से अवश हूँ। (५) अतएव मैं अतिअज्ञ हूँ। (६) अतएव आप की आज्ञा का लङ्घन कर ही सन्न्यास ग्रहण किया है एवं सन्न्यास धर्म को छोड़कर भोग के लिए व्याकुल हूँ, इसलिए ही आज्ञा का लङ्घन कर रहा हूँ। (७) अज्ञ जनता प्रदत्त सम्मान प्राप्त मद से मत्त हूँ। हे दीनजन प्राप्य ! दयानिधि ! परमानन्द प्रभो ! मेरी रक्षा करो ॥३६॥

श्रुतिरूपा आहुः—यतयो भगवच्चरणारविन्द प्राप्तय एव यत्नपरा अपि यदि हृदि स्थितानि कामजटाः कामस्य मूलानि सम्यगुद्धरन्ति उत्पाटयन्ति तदा तेषामसतामनुत्कृष्ट भक्तानां हृदिगतोऽपि आपाततः शास्त्र श्रवणेन भाव विकार चमत्कार दर्शनेन च हृद्यायाते अपि दूरधिगमो दुष्प्रापः, सम्यगननुभव एवाप्राप्तिः, अस्मृत कण्ठगतमणिवदज्ञानामेकस्मिन्नभिमतार्थे प्राप्त एव चित्त विश्रामात् कामनिवृत्तिः परम सुख विचारकाणां तु ब्रह्म सुख प्राप्तयापि तत उत्कर्षः लोचने भगवत् सुखे कामो जायते, तत्रापि स्वरूप विशेषे चमत्कार विशेषालोचनात्तत्र कामो भवति, सुखचमत्कार परमावधि चित्तविश्रामे पुनः सुखान्तर कामानुदय, ततश्च विचार्य विचार्य यतमानाः परमविचारेण परम चमत्कार सर्वस्व रूपोत्तम सुखैक परमाशाबन्धेन सुखान्तर काम विच्छेदं यदि न कुर्वन्ति, तदा त्वं तेषामुत्कृष्ट विचारादि रहितामुत्कृष्टतमस्त्वत् सुखाभिमान निवेशाभावाच्छुद्धमहाभावाभावेन दुष्प्राप एव त्वम् । सुष्ठु तृप्यन्ति श्रीराधा रति लम्पट विशुद्धमहाप्रेमसुखेन परम सुखिनो भवन्ति न ये येषां योगिनां

भाव योगिनां उभयतोऽसुखं सुखाभावः। भवतोऽनपगता कदापि न वियुक्ता या श्रीराधा तामन्तयति बन्धयति महास्नेह रज्जुभिर्यस्तदेकान्त-प्रियसखीजनः राधा बन्धको वा यः स्नेहानुबन्ध सखीनां ततः भवतो वा। अनधिरूढ़ मन्यै विशुद्ध महाप्रेमवद्भिरपि न प्राप्तं यत् स्वरूपं श्रीराधा सहित मधुरमधुरान्मदमदन केलि विलासभक्तम् ततश्च न सुखमिति ॥

नित्यगोप्यस्तु आहुः—यतयो भवत् सङ्गार्थं प्रयत्नवत्यो गोप्या, यदि हृदिस्थिताः कामजटाः काम वासना न समुद्धरन्ति श्रीकृष्णसङ्गा-भिलाषं न दूरीकुर्वन्तीत्यर्थः तदा तासामसतां न विद्यते सत् उत्कृष्टं राधैकान्तसख्येन आनुषङ्गिकेणापि स्व तत् सङ्ग प्रसङ्गेन रहितेन शुद्ध प्रेम वस्तु यासां तासाम् हृदि वक्षसि गतोऽपि दुरधिगमः सम्यगनुभवगोचरो न भवसि, यथा कश्चित् स्व कण्ठगतमपि मणि महार्हं बहुगुणवत्त्वेन श्रुतं न स्मरन्तः सम्यग् यथा नानु भवन्ति गुण स्मृत्यैव हि सुखं विशेषोदयः राधासङ्गे सुरतरङ्ग तरङ्गिणं सकल सौन्दर्यादिगुण परम चमत्कारवन्तं श्रुत्वापि विस्मृत्य स्व सङ्गतमेव रोचयन्त्यः सम्यक् तं नानुभवन्ति। असुतृपः स्वेन्द्रियतृप्तिपरा योगिनः संसर्गिणो यासां कृष्णसङ्ग कामुकीनां सङ्गभाजामित्यर्थः। समासान्तानित्यत्वान्न क भावः गोपी जनानां वा सुष्ठु तृप्यन्ति सुतृपा राधा सुखेनैव तृप्यन्त अताहृशा स्वाङ्ग सङ्गेऽपि लुब्धा इत्यर्थः। ताश्च योगिन इवाचरन्तीति योगिनः, आचार क्विबन्तत्वात् पुनः क्विपि सन्तत कृष्णसमाधय इत्यर्थः। तासामपि उभयतो राधाकृष्णतस्तदुभय विलास दर्शनात् सुखाभावः। यद्वा, तासामपगता स्वप्नेऽपि हृदयान्तगता या राधा तयासह अन्तः प्रेम बन्धस्तस्माद्धेतोः कं सुखं यस्य एवम्भूतं यं तव अन्य गोपीभिरप्राप्त पद स्वरूपं तस्मादन-पगतोऽन्त र्वहिश्च न वियुक्तो बन्धकः प्रीति पाशेन पितृमातृ सुहृद् भावा-नुरक्तगोप्यादिस्तस्माद्धेतोर्भवतोऽपि अनधिरूढ़मप्राप्त यत पदं राधायास्तस्मादिति यदा सर्वमपि महाप्रीति मण्डलीत्यक्त्वा सर्वात्मना आसक्तस्तदेव कृष्णोऽपि राधापदं लब्धवानिति ॥३६॥

श्रुतिरूपागोपी कहती है—यतयो, यतिगण भगवत् चरणारविन्द प्राप्ति के लिए यत्नपरायण होकर भी यदि हृदयस्थित काम की जड़ को

यदि सम्यक् प्रकारसे उत्पाटन नहीं करते हैं, तब अनुत्कृष्ट भक्तगण के हृदय में आपाततः शास्त्र श्रवण से भाव विचार चमत्कार दर्शन से श्रीहरि का आगमन अनुमित होने पर भी दूरधिगम दुष्प्राप्य ही होते हैं। सम्यक् अनुभव न होना ही अप्राप्ति है, विस्मृत कण्ठमणि के समान ही अज्ञ-व्यक्तिगण किसी एक अभिमत पदार्थ को प्राप्तकर उसमें ही चित्तविश्राम हो जाने पर काम की निवृत्ति मान लेते हैं। परम सुख विचारक के मत में तो ब्रह्मसुख की प्राप्ति हो जाने पर भी उससे उत्कर्ष का आलोचन हृदय में उपस्थित हो जाता है, और भगवत् सुखानुभव प्राप्ति के लिए कामना हो जाती है, उसमें स्वरूप विशेष की आलोचना से और चमत्कार विशेष की आलोचना से ही उक्त भगवत् स्वरूप के प्रति काम होता है। सुख चमत्कार परमावधि में चित्त का विश्राम हो जाने पर पुनर्बार किसी भी स्वरूप के लिए अभिलाष नहीं होता है। इससे यदि पुनः पुनः विचार कर सुख प्राप्ति के लिए यत्न परायण व्यक्तिगण परम विचार से प्राप्त परम चमत्कार सर्व स्वरूप उत्तम सुख की एक मात्र आशा बन्ध के द्वारा यदि सुखान्तर कामना का विच्छेद नहीं करते हैं, तब उन उत्कृष्ट विचार हीन व्यक्तिगण, उत्कृष्टतम पदार्थ जो शुद्धमहाभाव है, उसमें आपका अभिमान एवं अभिनेवेश एकमात्र है, उसका अधिकारी नहीं होते हैं, अतएव आप उनसब के लिए दुष्प्राप्य हैं, जो लोक श्रीराधारति लम्पट विशुद्ध महाप्रेम सुख से परम सुखी नहीं होते हैं, वैसे भाव योगीयों में उभयत्र ही सुख का अभाव रहता है। जो श्रीराधा कदापि आपसे वियुक्ता नहीं होती है, उनको जो प्रेमरज्जु से आबद्ध करती है, वह है, उनके परिजन, सखीगण एवं श्रीराधा का जो स्नेहानुबन्ध, सखी जन के प्रति एवं आपके प्रति है, इन दोनों से भी वे लोक सुखी नहीं होंगे। विशुद्ध महाप्रेमानुबन्ध में स्थित व्यक्तिगण भी जिसको प्राप्त करने में असमर्थ हैं, एसा जो स्वरूप है, वह श्रीराधा सहित मधुर मधुर उन्मद मदन केलि विलास में आसक्त है, वह ही आप का एकमात्र स्वरूप है, उससे वे लोक सुखी नहीं होते हैं।

नित्यगोपी कहती है—यतय: आप के सङ्ग के लिए प्रयत्नशील गोपीगण, यदि हृदय में स्थित काम वासनामूल को उत्पाटन नहीं करती हैं, श्रीकृष्ण सङ्गाभिलाष को मनसे नहीं हटाती हैं, तो वे लोक असत होते हैं। कारण श्रीराधा सख्य ही उत्कृष्ट रस है, इससे आनुसङ्गिक से भी स्वत: सङ्गेच्छा नहीं होती है, इस प्रकार शुद्ध प्रेम वस्तु का अभाव उन सब में विद्यमान है। हृदय में आप होने पर भी सम्यक् रूप से आपका अनुभव नहीं होगा, जिस प्रकार किसी महामणि की महिमा सुनकर महा मूल्य अति सुन्दर जान कर प्राप्त होने की लालसा भी जगी, किन्तु कण्ठ में रहते हुए यदि उसका स्मरण ही नहीं होता तो उस का अनुभव नहीं होगा। गुण स्मृति से ही सुख विशेष का उदय होता है, राधासङ्ग में सुरत सङ्ग तरङ्ग में सकल सौन्दर्यादि गुण का परम चमत्कार आस्वादन निमग्न का विवरण सुनकर भी भूलकर निजसङ्ग प्राप्ति में जब रुचि हो जाती है तो आपका सम्यक् अनुभव उन सबका नहीं होता है, निज इन्द्रिय तृप्ति परायण कृष्ण कामुकी का सङ्ग ही होता है। समासान्तविधि अनित्य होने के कारण ही 'क' प्रत्यय हुआ है, जो लोक राधा सुख से ही सुखी होते हैं, ऐसे जो राधा परिजन हैं, उनके सङ्ग प्राप्त करके भी निज सङ्गेच्छा में लुब्ध हैं, वे सब योगी, संयोगी की भाँति चलती रहती हैं, निरन्तर कृष्ण समाधि में लीन होती हैं, वे सब गोपी राधा कृष्ण दोनों के विलास को देखकर भी सुखी नहीं होती हैं। यद्वा जिस लोकों के अन्त: करण से श्रीराधा की विस्मृति स्वप्न में भी कभी नहीं हुई, राधा के साथ ही अन्तरङ्ग प्रेमानुबन्ध है, उससे ही जो परम सुख उत्पन्न होता है, उसका अधिकारी अन्य गोपीगण नहीं होती हैं, उस स्नेह पाश से आबद्ध होकर ही आपका स्वरूप रहता है, और कभी भी अन्तर बाहर से वियुक्त नहीं होता है, अपर गोपीगण पितृ मातृ सुहृद् भाव से अनुरक्त होकर उन सब के प्रीति पाश से आबद्ध होकर रहते हैं, इसलिए आपके चरण प्राप्ति उन सब की नहीं होती है, और राधा के श्रीचरण प्राप्ति भी नहीं होती है, कारण श्रीकृष्ण भी जब सकल प्रीति मण्डली को छोड़कर एकान्त भावसे अन्तर के साथ श्रीराधा में आसक्त हुए तब ही श्रीराधा चरण प्राप्त करने में समर्थ हुए थे ॥३९॥

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो
र्गुण विगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ॥
अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया
श्रवणभृतो यत स्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४०॥

सान्वयव्याख्या

हे सगुण ! (हे षड् गुणैश्वर्ययुक्त !) त्वदवगमी (त्वजज्ञानवान् पुरुषः भवदुत्थशुभाशुभयोः) (भवतः कर्मफल दातुः ईश्वरात् उत्थयोः आविर्भूतयोः शुभाशुभयोः प्राचीन पुण्य पापयोः फलभूताम्) गुण विगुणान्वयान् (सुख दुःख सम्बन्धान्) न वेत्ति (अनुसन्धत्ते) तर्हि (तदानीम्)देह भृतां (देहाभिमानिनां) गिरः प्रवृत्तिनिवृत्ति करीः विधि-निषेधलक्षणाः वाचः च (अपि न वेत्ति) यत मनुजैः अनुयुग (प्रतियुगं) गीत परम्परया (उपदेश सन्ततया) अन्वहं (अनुदिनं)श्रवणभृतः (श्रवणेन चेतसि धृतः) त्वं अपवर्गगतिः (तेषामपि अपवर्ग रूपागति भवसि) ॥४०॥

श्रीसनातनसम्मताव्याख्या—(अभक्तान् आक्षिप्य भक्तानां वर्णनं श्रीभगवत स्तुतौ पर्यवसानात् सिद्धान् साधकान् वर्णयन्ति त्वदगवमी (त्वां श्रेष्ठं जानन् प्रेम भरेण त्वयि निविष्ट चित्तः इत्यर्थः भवदुत्थ शुभाशुभयोः (भवदाविर्भूत पाप पुण्ययोः फलभूतान्) गुण विगुणान्वयान् (सुख दुःख सम्बन्धान्) न वेत्ति (नानुसन्धत्ते) तदा (भजन समये) देहभृतां (कर्मपराणां देहिनां इत्यर्थः) गिरः (भो इदं कर्म कुरु "भो इदं माकृथाः" इत्यादि लक्षणाः वाचः) च (अपि न वेत्ति) (किञ्च) अनुयुगं सगुणगीत परम्परया (सगुणा सौन्दर्य माधुर्य भक्त वात्सल्य वैदग्ध्यादि सहिता या गीत परम्परा गानावली तया) मनुजैः (भक्तैः प्राणिभिरित्यर्थः) अन्वहं श्रवणभृतः (श्रवणेषु भृतः त्वं) अपवर्गगतिः मोक्षस्य प्रभुरपि सन् धृतः (हृदि बद्ध इत्यर्थः) ॥४०॥

हे षड् गुणैश्वर्य युक्त ! जिसने आपको जाना है, वह कर्म फल दाता ईश्वर आप हैं। आप से आविर्भूत पूर्व जन्मार्जित पुण्य पाप का फल

स्वरूप सुख दुःख सम्बन्ध का अनुसन्धान नहीं करता है एवं देहाभिमानियों के प्रवृत्ति निवृत्ति कर विधिनिषेध लक्षण वाक्य का भी अनुसन्धान नहीं करता है। कारण जो मनुष्य प्रति युग के उपदेशसन्तति में अनुदिन आप की चरित कथा को श्रवण कर आप को हृदय में स्थापन किया है,आप उस के लिए अपवर्ग गति प्रदाता होते हैं, अर्थात् जो लोक तत्त्वज्ञानी हैं, उनका कर्माधिकार नहीं होता है एवं जो लोक आपकी कथा श्रवणनिष्ठ हैं, उनको भी विधिनिषेध ग्रस्त नहीं होना पड़ता है, और जो लोक कपट योग अवलम्बन से इन्द्रिय लालसापरायण होता है, उसका यह लोक परलोक में दुःख होता है। ४०॥

श्रीसनातनसम्मता व्याख्या—अभक्तगण को तिरस्कार कर भक्तगण की वर्णना श्रीभगवान् में पर्यवसित होती है, अतः सिद्धसाधक भक्तगण की वर्णना करते हैं, जो लोक आप को श्रेष्ठ मानकर प्रेमातिशय्य से चित्त को आप में अभिनिविष्ट कर दिया है, वह आप से आविर्भूत पुण्य पाप का फल स्वरूप सुख दुःख का अनुसन्धान नहीं करता है एवं भजन के समय में कर्म पर देहिगण के लिए "यह कर्म करो, यह कर्म न करो" इस प्रकार वाक्य प्रयोग होता है। उसका अनुसन्धान भी नहीं करता है, और आप मोक्ष प्रदाता होने पर भी आप को वह व्यक्ति युग युग में भक्तगण द्वारा कीर्त्तन भवदीय सौन्दर्य माधुर्य भक्त वात्सल्य, वैदग्ध्यादि गुण युक्त गानावली को श्रवण कर हृदय में बद्ध किया है ॥४०॥

तत्त्व ज्ञानी को विधि निषेधक नियन्त्रण में रहना नहीं पड़ेगा, सप्तविंश श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तुति करते हैं। यति के लिए काम्य कृत्य निर्दिष्ट नहीं हुआ है, विषयोपभोग के द्वारा प्रारब्ध कर्म का विनाश साधन वह करे, वृथा पाप कर्म की आवश्यकताही क्या है? इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में श्रुति कहती है। (१) एषः नित्यः महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते कनीयान् तस्य एव स्यात्। पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन। नैनं पापमातरति। सर्वं पाप्मानं तरति। न एनं पापमातपति। सर्वं पाप्मानं तपति विपापः विरजः विचिकित्सः ब्राह्मणः भवति। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति की महिमा नित्य शुभ कर्म द्वारा बढ़ती

नहीं है, अशुभ कर्म द्वारा घटती भी नहीं स्वरूप वित् व्यक्ति यह जानकर शुभाशुभ ज्ञानाज्ञानकृत कर्म द्वारा लिप्त नहीं होता है, इस ब्राह्मण को पाप अतिक्रम नहीं कर सकता है, ब्राह्मण भूत भविष्य वर्त्तमान काल के सकल पापों को अतिक्रम करता है, पाप उस को सन्ताप प्रदान नहीं कर सकता, वह सर्व पाप को भस्म करदेता है' ब्राह्मण विगत पाप का विगत क्लेश का होता है। स्वामिचरण के मत में—

आगमं तव मे दिश माधव स्फुरित यत् न सुखामुख सङ्गमः
श्रवण वर्णन भावमथापि वा नहि भवामि यथा विधिकिङ्करः ॥

हे माधव ! आपका ज्ञान अथवा श्रवणजा भक्ति प्रदान मुझे करो। जिससे मैं प्रवृत्ति मार्गानुयायी नहीं बनूँगा। ४०॥

श्रुतिरूपा आहुः—हे सगुण ! सदा गुणैः सह वर्त्तमान ! ब्रह्मात्मानुसन्धान एव गुण स्फुर्त्तित स्तव शुद्ध प्रेमकरसमग्नस्य नास्ति; गुणयन्ति सदा महाप्रेमानुशीलयन्ति ये प्रियजनास्तैः सदा वर्त्तमान ! गुणयन्ति मन्त्रयन्ति त्वया सह नव नव कुञ्ज विलासमभ्यस्यन्ति वा त्वद गुणरूप शीलाद्येव सदा तत् सहित ! गुणमुपकारं कुर्वन्ति राधया सह मिलनेन गुणा सख्यस्तत् सहित ! प्रशस्त बहुतर गुणवती राधिका तत् सहित ! त्वदवगमी त्वदनुभवी तव प्रीतिर्येन, स्वेष्ट भावानुसारी भजनेन तत्रैव गमोऽवबोधो यस्यास्ति त्वयि अव प्रीतिरनुरागः तत्रैव गमी ज्ञानवान् भवदुत्थ शुभाशुभयो त्वयैव वेद रूपेण प्रतिपादितं तच्छुभं कर्म अशुभञ्च, पुरुषार्थ साधकमनर्थं च तयोर्गुण विज्ञानान्वयात् उपकारानुपकार-सम्बन्धात् वेदः विहितेऽपि नोपकारबुद्धि, निषिद्धेऽपि नापकार बुद्धि स्वेष्ट भावानुकूल मात्रे प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमानश्च, तत् प्रतिकूल मात्रात् नित्य भावानां स्वाभाविक कृष्णविषय चेष्टित समचेष्टितनिष्ठामेव तादृशभाव-समुज्जृम्भण परमसाधनं निश्चिन्वन् इत्यर्थः। तर्हि तदा विशुद्धायां भावनिष्ठायामेव भावविरोधि कर्मादित्यागेनाधिकार सम्पत्तौ देहभृतां सर्वेषामेव लोकोत्तर धर्म पाण्डित्यादिना त्रिश्वकृतार्थी करणेन सफल देहधारिणां महाभक्ति निष्ठया पार्षद देह धारिणां वा, परमैकान्तभावेन

भगवच्छ्रीविग्रह धारिणां वा,सर्व पुरुषार्थ प्रदा ईहा यस्य तस्य भगवतो वा धारकाणाम्। दैप धातु शोधने। भाव शोधनेन ईहयति भावानुरूप चेष्टां प्रेमतत्त्ववश्येन कारयति यो भगवान् कृष्णस्तस्य धारकाणामपि शिरो मिश्रभाव विषयाः शुद्धभावान्तरविषया वा गिरो न वेत्ति, श्रवणज ज्ञानेनापि न विषयीकरोति इत्यर्थः अनुयुग युगं राधाकृष्णाख्य पूर्णविशुद्ध महारसमय नागरद्वय लक्ष्मीकृत्य या गीत परम्परा तदुभय विलास विशिष्ट गीतश्रेणी तथा, यतो हेतो स्त्वं। श्रवणेन चेतसि धृतः, मनुजै र्मननशीला राधा कृष्ण विलासानेव भावेन नित्यमनुसन्दधाना स्तस्मात् तत् सङ्ग प्रभावाज्जातै र्भवैः। कथम्भूत स्त्वम् ? अपकृष्ट वर्गा धर्मार्थकाममोक्षाख्या येषां तेषामेकान्तभक्तानामेव गति र्गम्यः कथञ्चिद् बोधयोग्यः। यद्वा, अनुगताः अहिंसाद्यैः गुणैस्तादृश गुण वद्भिर्गीतानामुपदेश वाक्यानां परम्परयेत्यर्थः, अहङ्कारं स्यति ब्रह्मात्म बोधेन, पश्चाद् भगवद्रतौ हन्त्य-ज्ञान तत्कार्ये, वाक्योत्थचरमधी वृत्त्यारूढ़ो हंसः शुद्ध ब्रह्मात्मा, सोऽपि नास्ति येषां त्यक्त ब्रह्मात्मानुसन्धाना इत्यर्थः। पश्चाच्च महाविशुद्ध रतिमदतिवश्यतां भगवत आलोच्याहं सम्यग् भवद्वशकर्त्ता महारत्या इत्यभिमानमपिस्यन्ति राधाचरणैकान्तसख्यदशेन कृष्णरति निष्ठा यैः यैः गुणै स्तादृशैरपि अनुगतास्तदुपदेशश्रेण्य इति। अनक्षणमन्य गोपीनां "वयं श्रीकृष्णस्य परमप्रेयस्यः इत्यहङ्कार रूप गुण माधुर्य्याद्यहन्तां वा स्यन्ति ये राधायाः गुणाः क्षणे क्षणेऽन्योन्य मधुरतत चमत्कारवन्त तद्दान परम्परया वा॥

नित्यगोप्यस्तु आहुः—त्वद् विषयेऽवगमिरवगमनं सम्यक् रसानुभवो यस्याः सा त्वदवगमी। इक् कृष्यादे स्ततो ङीप् त्वदवगमिनी ईङ्ज्ञानं यस्यास्ततो ङीपि वा त्वत्प्रेम वा जानाति राधा तादात्म्य भावेन चरमोत्कर्षं प्राप्तं तथा भवतोरुत्थानेन शुभं भद्रं यस्याः सेवा रसादि लाभेन तादृशी। शुभयोः परम शोभनयो र्भवतोर्गुणै र्विगुणा विगतोपकारा अन्वयाननुवृत्तीः सेवा न वेद, तर्हि तदा युष्मद्रूप माधुर्यातिशयेनेवाति कर्त्तव्यता मौढ्ये सति, परम महानन्द रसप्रदा ईहा लीला ययोस्ता एव विभ्रति पुष्णन्ति तत्तद् वैदग्ध्य प्रवर्त्तित स्मर रस विलास विशेषैर्या

ललिताद्या मुख्यसख्य स्तासां गिरोऽपि न वेद,अतयाविष्ठानन्तः करणत्वात्।
यतस्त्वं मनुजै र्भावैः श्रवणेन चेतसि भृतः, अनुयुगं राधाकृष्णाख्य महारसिक मिथुनं लक्ष्मीकृत्य अन्वहं स गुणानां राधाकृष्णगुणानां स्वकृतगीतपरम्परया श्रवणेन च महाविदग्ध मुख्यसखीतो गुण स्वरूप चमत्कारादि श्रवणेन चेतसि भृतः ॥४०॥

श्रुतिरूपा कहती है—हे सगुण ! सदा गुण समूह के साथ वर्त्तमान हो, ब्रह्मात्मानुसन्धान में गुण की स्फूर्ति, तुम्हारे शुद्ध प्रेम निमग्न व्यक्ति की नहीं होती है। गुणयन्ति, जो लोक सर्वदा महाप्रेम का अनुशीलन परायण प्रियजन हैं, उनके साथ ही आप रहते हैं। गुणयन्ति मन्त्रयन्ति निरन्तर नव नव कुञ्ज विलास का अभ्यास एव गुण रूप शीलादि का अनुशीलन करते हैं, उस समये वहाँपर स्थित होकर सदा प्रेमपरायण हो! गुणशब्द का उपकार अर्थ है, श्रीराधाके मिलन कार्य का सम्पादन कारिणो सखीवृन्द ही गुणवती हैं, उन सब के साथ प्रेम परायण हो। प्रशस्त बहुतर गुणवती आराधिका राधिका हैं, उनके साथ प्रेम परायण हो। त्वदवगमी,त्वदनुभवी, तुम्हारी प्रीति का अनुभव जिन्होंने किया है, स्वेष्ट भावानुसारि भजन के द्वारा उस विषय में जिसका उत्तमत्व ज्ञान भी हुआ है, वह तुम्हारे प्रति ही अनुराग प्रीति करता है, आप से प्राप्त शुभ अशुभ को वह प्रीति से ही सम्यक् जान लेता है। वेदरूप से आपने जो कुछ प्रतिपादन किया है, वह शुभ कर्म अशुभ कर्म पुरुषार्थ साधक अनर्थ भी होते हैं, उनसब में जो उपकार सम्बन्ध है, उसको नहीं जानता है, विहित में भी उपकार वृद्धि नहीं होती, और निषिद्ध में भी अपकार वृद्धि नहीं होती है, केवल निज इष्ट भावानुकूल मात्र में प्रवृत्त होना, एवं उसके प्रतिकूल मात्र से निवृत्त होना, एवं नित्य भावों की जो स्वाभाविकी चेष्टा, वह कृष्ण विषयक चेष्टा ही है, उसकी समचेष्टा करने वाले परिकर में जिस भाव की निष्ठा होती है, उस प्रकार भाव की परम अवधि प्राप्त करना ही परम साधन है. इस प्रकार ही निश्चय होता है। तर्हि तदा, विशुद्ध भाव में विशेष निष्ठा होने पर ही विरोध कर्म का त्याग होता हैं, अनन्तर उस त्याग से भक्ति में प्रवेशाधिकार होता है। इस

प्रकार भक्ति सम्पत्ति होने पर वह व्यक्ति देहभृतां, लोकोत्तर धर्माचरण पाण्डित्य प्रकटन प्रभृति के द्वारा विश्ववासियों को उपकृत करके जिन्होंने शरीर धारण को सफल किया है, अथवा महाभक्ति निष्ठा द्वारा जिन्होंने पार्षद देह को प्राप्त किया है, परमैकान्तिक भाव से जिन्होंने भगवत् श्रीविग्रह को अपना सर्वस्व माना है,सब पुरुषार्थ प्रदा वाणी, "श्रीभगवान् की एवं उनमें निष्ठारखने वाले की" उक्त सब प्रेरणा उक्त भक्तिमान जन के कार्य में प्रवृत्त कराने में समर्थ नहीं होती है, भक्ति आविर्भूत होने के कारण वह निरभिमानी होता है। दँप् धातु शोधनार्थक है, भाव शोधन से ही चेष्टा करता है, प्रेमविवशता से ही भावानुरूपचेष्टा करता है, भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनमें निष्ठा रखने वाले की वाणी वह मिश्रभाव विषय हो अथवा, शुद्ध भावान्तर विषय ही हो, उसको वह नहीं जानता है, श्रवण करने की इच्छा भी नहीं करता है। अनुयुगं निरन्तर युगलायित विग्रह श्रीराधाकृष्ण नामक पूर्ण विशुद्ध महारसमय नागरद्वय को अवलम्बन कर जो गीत परम्परा है, उन दोनों के विलास युक्त गीत समूह हैं, उससे ही तृप्त होता है। कारण श्रवण के समकाल ही आप हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं, श्रीराधाकृष्ण के विलास समूह को भाव के द्वारा नित्य अनुसन्धान कर हृदय में धारण करने पर उससे ही भाव उत्पन्न होताहै। और उस से श्रीकृष्ण वशीभूत होते हैं। आप किस प्रकार हो? जिन के समीप में धर्म अर्थ काम मोक्ष भी अपकृष्ट पदार्थ है, इस प्रकार भक्त गम्य हैं, बोध गम्य होते हैं। अथवा अहिंसादि गुण युक्त व्यक्तिगण अहिंसादि गुण के द्वारा ही जो उपदेश प्रदान किए हैं, उस उपदेश परम्परा से अहङ्कार को विनष्ट कर ब्रह्मात्मबोध को प्राप्त होते हैं, पश्चात् श्रीभगवत् प्रीति होती है, अनन्तर अज्ञान नष्ट होता है, उसका कार्य भी नष्ट होता है,महावाक्यार्थ ज्ञानावधारण की चरमस्थिति होने पर हंस, ब्रह्मात्मा संज्ञा होती है, जिनके पास वह भी नहीं हैं, ब्रह्मानुसन्धान को जिन्होंने छोड़ ही दिया है। पश्चात् श्रीभगवान् की एकान्त भक्ति वश्य ही जानकर मैं उस प्रकार भक्ति के द्वारा भगवान् को वश करूँगा, इस प्रकार अभिमान भी जिस से चला जाता है वह श्रीराधा चरणानुगत्य से ही श्रीकृष्ण रति में निष्ठा है, जिस जिस गुणगण

के अनुशीलन से उक्तनिष्ठा होती है, उन निष्ठाशील व्यक्ति के आनुगत्य से उस उस उपदेश श्रेणी के श्रवण करते रहते हैं। अनुक्षण अन्य गोपीयों के "हम सब श्रीकृष्ण के परम प्रेयसी हैं" इस प्रकार अहङ्कार को विनष्ट करने वाले गुणगण श्रीराधा के ही हैं, उन सब गुण परम्परा को अन्योऽन्य परम्पर मधुरतर चमत्कार पूर्ण चित्त वृत्ति से आस्वादन करते रहते हैं, अथवा उस दान परम्परा से अपने को कृतकृतार्थ करते रहते हैं।

नित्यगोपी कहती है—आप के विषय में सम्यक् रूप से जिसका रसानुभव है, उस को त्वदवगमी कहा जाता है, इक् कृष्यादे स्ततोऽपि इससे त्वदवगमी पद होता है, "ई" का ज्ञान अर्थ होता है, इस प्रकार भी जिससे ही होता है ङीप् करने पर उक्त पद होता है, अथवा आपका प्रेम को सम्यक रूप से जो जानता है, और राधा तादात्म्य प्राप्त होने पर ही उसका चरमोत्कर्ष भी होता है इस को भी जो जानता है, तथा आपका उत्थान होने पर ही शुभ होता है, अर्थात् सेवारस लाभ होता है, इस प्रकार बुद्धि वाले को त्वदवगमी कहाजाता है। शुभयो: परम शोभन आप दोनों हैं, आप दोनों के प्रतिकूल ही ऐसा आचरण को विगुण, विगतोपकार, आनुगत्य का अभाव रूप सेवा को नहीं जानते हैं, तर्हि, तदा, उस अवस्था म ही आप दोनों के रूप माधुर्य का अतिशय आस्वादन होता है, इससे विभोर होने पर ही परम महानन्द रसप्रदा लीला आप दोनों की होती है, और सखीगण उसका संयोजन कर पुष्ट करती हैं, लीला पाण्डित्य से परिपूर्ण ललितादि सखीगण हैं, उनसे प्रवर्त्तित स्मर रस विलास की वार्त्ता को ललितादि मुख्य सखी की वाणी को भी उस समय कर्ण कुहर में प्रविष्ट होने देती है, कारण अत्याविष्ट अन्त: करण के ही वे सब होते हैं। कारण आपको तो मनुष्योचित स्वाभाविक भाव से ही हृदय में आबद्ध किया गया है। अनुयुग, राधाकृष्णनामक महारसिक युगल को लक्ष्य कर प्रतिदिन गीतावली का श्रवण करते हैं, निजकृत राधा कृष्ण गुणगण वर्णन परम्परा से श्रवण को परिपूर्ण करते हैं, महाविदग्ध सखीगण के मुख से श्रीराधाकृष्ण के गुण स्वरूप चमत्-कारिता को सुन कर हृदय को परिपूर्ण करते रहते हैं ॥४०॥

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥४१॥

सान्वयव्याख्या

ननु ! (भो भगवन् !)द्युपतयः(स्वर्गादि लोक पतयः श्री ब्रह्मादयः) एव (अपि) ते (तव) अन्तं न ययुः (न प्रापुः) त्वं अपि अनन्ततया(अन्ता भावेन, आत्मना अन्तं न यासि इत्यर्थः, कुतः अनन्तत्वमित्यत आह) यदन्तरा (यस्य तव अन्तरा मध्ये) सावरणाः (उत्तरोत्तरं दशगुण सप्तावरण युक्ताः) अण्ड निचयाः (ब्रह्माण्ड समूहाः) सह (एकदैव) वयसा (कालचक्रेण) खे(आकाशे)रजांसि इव वान्ति (परिभ्रमन्ति) हि (यस्मात् एवं अत) भवन् निधनाः (भवति त्वयि निधनं समाप्ति र्यासां तथाभूताः) श्रुतयः (अस्मदाद्याः अतन्निरसनेन (तद् भिन्न नियमनेन) त्वयि फलन्ति (तात्पर्यवृत्त्या पर्य्यवस्यन्ति)॥४१॥

श्रीसनातनसम्मता व्याख्य —(भक्तानामेवम्भूतोऽपि श्रीभगवान् ब्रह्मलोकाद्यधीश्वराणामविज्ञात पारः इति श्रीभगवन्महिम वर्णनेन उप संहरन्ति) द्युपतयः (श्रीब्रह्मादयः) एव (अपि) अन्तं न ययुः(वत्सपालादि हरणाद्यवसरे रासक्रीड़ाद्युत्सवे च तव वैभवान्तं न प्रापुः) अनन्ततया (तासां तन्मूर्त्तीनां पार्श्वे युगपद् ब्रह्माण्ड कोटिदर्शनात् तथा कोटि संख्य व्रज सुन्दरीणां पार्श्ववर्त्तित्वेन त्वद्वैभवस्य अन्ताभावेन) त्वं अपि (आत्म वैभवान्तं न लब्धबान् इत्यर्थः) यदन्तरा (यस्य तव अन्तरात्लोम विवराणां मध्ये)सावराणाः अण्ड निचयाः वयसा (द्विपरार्द्ध कालचक्रेण) सह खे (आकाशे) रजांसि इव वान्ति (परिभ्रमन्ति) हि (यतः एवम् अतः) श्रुतयः (ज्ञानकाण्ड श्रुतयः अतन्निरसेन त्वयि फलन्ति (लक्षणया पर्यवस्यन्ति,वयन्तु) भवन्निधनाः (प्रेमनिष्टत्वात् भवदेक परायणतया तन्मात्रमग्नात्मानः, त्वां विना अन्यत् न जानीम् तस्मात् प्रार्थयामहे अस्मासु कृपां विधेहि इतिभावः ॥४१॥

भो भगवन् ! स्वर्गादि लोकाधिपति श्रीब्रह्मा प्रभृति भी परिपूर्ण से आपको नहीं जान पाते हैं, अनन्त होने के कारण आप स्वयं भी अपना अन्त पर्यन्त को अवगत होने में समर्थ नहीं होते हैं। कारण आप में उत्तरोत्तर दशगुण सप्तावरण युक्त ब्रह्माण्ड समूह युगपत कालचक्र के द्वारा आकाश में जिस प्रकार रजः कण समूह परिभ्रमण करते रहते हैं उस प्रकार परिभ्रमण करते रहते हैं, इस कारण, आप में समाप्ति प्राप्त हम सब श्रुति अतन्निरसन प्रकार के द्वारा आप में पर्यवसित हो रही हूँ ।।४१।।

श्रीसनातनसम्मत व्याख्या—भक्तगण के सम्बन्ध में परम कृपालु श्रीभगवान् की महिमा को श्रीब्रह्म लोकादि के अधीश्वरगण अवगत होने में समर्थ नहीं है, इस प्रकार श्रीभगवान् की महिमा वर्णन पूर्वक उपसंहार कर रहे हैं—भो भगवन् ! श्रीब्रह्मादि भी वत्स पालादि हरण के समय रासक्रीड़ा उत्सव में आपके वैभव का अन्त को अवगत होने में समर्थ नहीं हुए, एवं उस मूर्त्ति सकल के समीप के युगपत ब्रह्माण्ड कोटि दर्शन हेतु एवं कोटि संख्यक व्रज सुन्दरीगण के पार्श्ववर्त्तित्व हेतु आपके वैभव का अन्त न होने के कारण आप भी स्वयं अन्त तक जानने में समर्थ नहीं होते हैं। कारण आपके लोम विवर में उत्तरोत्तर दशगुण सप्तावरण ब्रह्माण्ड समूह द्विपरार्द्ध काल चक्र के साथ आकाश में जिस प्रकार रजः कणः समूह परिभ्रमण करते हैं, उस प्रकार परिभ्रमण करते रहते है, इस हेतु ज्ञान काण्ड श्रुति समूह अतन्निरसन पद्धति से आप में पर्यवसित हो रही हैं। किन्तु हम सब प्रेम निष्ठत्व हेतु भवदेक परायणता प्रयुक्त आप में निमग्नमनाः हो गई हैं। अर्थात् आप को छोड़कर हम सब अपर कुछ भी नहीं जानती हूँ। अवशेष में प्रार्थना यह है कि हमारे प्रति आप कृपावर्षण करें ।।४१।।

पुरुषोत्तम परम ब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र में ही निखिल श्रुतियों का समन्वय है, अष्टाविंशति श्रुत्यभिमानिनी देवता स्तुति करते हैं, श्रीहरि को जो जानता है, वह सुख दुःख को नहीं जानता है, विधि निषेध को जानता है, दुर्ज्ञेय श्रीहरि को कैसे जाना जा सकता है ? उनकी अपरिमित महिमा है, श्रुति कहती है—

(१)स होवाच,यदूर्द्धं्वगार्गि ! यत् अर्वाक् पृथिव्या,यत् अन्तरा द्यावा पृथिवी इमे, यद् भूतं भवत् च, इति आचक्षते, आकाशे तदोतं प्रोतं च। याज्ञवल्क,—हे गार्गि ! जो अन्तरीक्ष के ऊपर, जो पृथिवी के मध्य में अन्तरीक्ष व पृथिवी, जो पृथिवी के अधोदेश में जो अतीत वर्त्तमान, भविष्यत् है जो सूत्र नाम से प्रसिद्ध है, वह सूत्र आकाश में ओत प्रोत है। ईश्वर में सर्वज्ञता सर्वशक्तिता का सम्भव कैसे होगा ? आप अनन्त हैं, शशविषाण का अज्ञान सार्वज्ञ शक्ति वा वैभव नाशक नहीं है, विद्यमान वस्तु का अज्ञान ही सर्वज्ञता का नाशक है, अविद्यमान वस्तु होने पर सर्वज्ञता की हानि नहीं होती है।

(२)यस्मिन् आकाशे सर्वं ओत प्रोतं स कस्मिन् नु खलु आकाश ओतः प्रोतः च सह उवाच। एतत् वैतत् अक्षरं परमं गार्गि ब्राह्मण अभि दन्ति अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम् अदीर्घम् अलोहितम् अस्नेहम् अलाञ्छम् अतमः अवायु अनाकाशम् असङ्गम् अरसम् अगन्धम् अचक्षुष्कम् अश्रोत्रम् अवाक अमनः अतेजष्कम् अप्राणम् असुखम् अमात्रम अनन्तरम् अवाह्यं न तत् अश्नाति किञ्चन न तत् अश्नाति कश्चन गार्गि। जिस आकाश में समस्त ओत प्रोत है, वह आकाश किस में ओत प्रोत है ?

याज्ञवल्क,—हे गार्गि ! मैंने कहा कि-ब्राह्मणगण जिन को अक्षर कहते हैं, आप स्थूल नहीं हैं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं है, अग्नि का गुण जैसे लोहित है, जल का स्नेह, अग्नि भी जल से पृथक् हैं, अर्थात् आप अनिर्देश्य हैं, आप अलाञ्छ हैं, अर्थात छाया रहित हैं, आप तमः नहीं हैं, वायु नहीं हैं, आकाश भी नहीं हैं, आप असङ्ग, अरस, अगन्ध, अचक्षु, अश्रोत्र, अवाक्, अप्राण, अदूर, अरूप हैं। छिद्रके समान उन में अन्तर नहीं है, आप अवाह्य हैं, वह अक्षर किसी वस्तु का उपभोग नहीं करते हैं कोई पुरुष उनको अनुभव नहीं कर सकता हैं, ब्राह्मणगण उन अक्षर पुरुष को तत्त्वमसि के द्वारा प्रतिपादन करते हैं।

(३)यो वा एतत् अक्षरं गार्गि ! अविदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति स कृपणः। अथ च एतत् अक्षरं विदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः। हे गार्गि ! जो जन इस अक्षर को न जानकर इस लोकसे प्रयाण करता

हैं, वह कृपण है, जो लोक उनको जानकर इस लोक से प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण होता है। निषेध के द्वारा तो शून्य का बोध होता है ? नहीं "यतो भवन्निधना:" आपमें सब की समाप्ति, निरवधि का निषेध सम्भव नहीं है, आप अवधिभूत हैं, आप में सब पर्यवसित होते हैं, अर्थात् आप को प्रतिपादन करते हैं। समस्त विशेष का निषेध होने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं होता है ऐसा नहीं है, कारण निरवधि निषेध नहीं होता है, निषेध करते करते ऐसा स्थान उपस्थित होता है, जिस का निषेध ही नहीं होता है। विभाग होने का अयोग्य जिस प्रकार परमाणु है, उस प्रकार जो निषेध का अयोग्य है, वह ही आत्मा है, घटपटादि अपनीत होने पर आकाश जिस प्रकार अवशिष्ट रहता है, उस प्रकार समस्त बाधित होने पर ब्रह्म ही साक्षीरूप में अवशिष्ट रहते हैं। स्वामीचरण का कथन है—

द्युपतयो विदुरन्तमनन्त ते न च भवान्न गिरः श्रुति मौलयः
त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जयजयेति भजे तव तत् पदम् ॥

हे अनन्त ! स्वर्गलोक वासिगण आपको जान नहीं सकते हैं, आप स्वयं ही अनन्त हैं, श्रुनिगण भी आपको जानने में असमर्थ हैं, किन्तु वे सब नमः जय जय कहकर निभृत्त होते हैं, अतएव मैं उस पद का भजन नमः जय जय कहकर ही करता हूँ ॥४१॥

श्रुतिरूपा राधाकृष्णनिभृतपरिजनभावस्यातिदौर्लभ्यमाहुः— द्युपतयः स्वर्गादि लोक पतयः दिवः पर ब्रह्मपदस्य वा पतयः स्व सङ्कल्पमात्रेण यस्य कस्यापि हृदयाविर्भावने समर्थाः दिवि द्योतमानयाः समस्त पुरुषार्थ जिगीषो र्वा भगवद् भक्तेः पतयस्तद्दान समर्थास्ते सर्वेऽपि तव राधा सहित नित्याति प्रोन्मद विचित्र वृन्दावन कुञ्जविहारस्यान्तं समीपं राधा सखी भावेन, अन्यस्य तत्रायोग्यत्वात्, न ययुरेव, प्रापुरेव, त्वमपि न सामीप्य प्राप, यदन्तरा अण्डनिचयास्तद्रूपो नारायणात्मकमपि न ययावित्यर्थः। तत्र हेतुः अनन्तं ब्रह्म, अनन्तत्वेन स्वस्य तव चाज्ञातत्वात्, अतस्त्वं शुद्ध गोपाल विग्रहादहं मानी, शुद्ध महाप्रेमैक शक्ति विलासी

कथं ब्रह्म दर्शिनां गोचरः स्यादिति । ननु भोः सावरणा अपि, अः श्रीहरि स्तत सहिता लक्ष्मीः सा तद्रूपावरणाः, श्रीकृष्णचन्द्रं त्वामेव वरयन्तीति ता गोप्यो विमिश्र भावा इत्यर्थः, ता अपि न ययुः । त्वत् सङ्गं वरयन्ते या शुद्धभावा अपि गोप्य स्ताश्च न समीप प्रापुः किन्तु खे आकाशे रजांसीव वान्ति ते, यथा रजसां ख स्पर्शो नास्ति, तथा तेषां सर्वेषां त्वत् स्पर्श इत्यर्थः । वयसा सह कालेऽपि त्वत् सम्बन्धं न प्रापेत्यर्थः । यद् यत्र त्वयि श्रुतयः मादृश्योऽतन्निरसनेन फलन्ति निष्पद्यन्ते न त्वद्यापि निष्पन्ना स्तत्त्व ज्ञान संस्कारस्य सर्वात्मनानाश एव तन्निष्पत्तेरिति भावः ॥

नित्यगोप्यस्तु आहुः—दीव्यन्तः सह क्रीड़न्तः पतयो यासां तास्ते, तव अन्तं बन्धक परमैकान्तिक प्रेम न ययुः । द्यौ सुखरूपो दिव्यन् त्वं पतिर्यासां तास्त्वत् सङ्ग रङ्गिण्यो नापुरिति वा, त्वमपि अनन्तस्ते क्रीड़ा यस्याः (देवृ देवने विवपि) तथा राधया सह बन्धं निविड़ प्रेम बन्धं नापुः । कुतः ? यस्य तवान्त हृदि अण्डाऽण्डाद्भवाः पक्षिनिचया अपि आवृण्वन्ति ये श्रीदामादय स्तत् सहिताः अन्तर्वहिः सदा श्रीराधामात्र गोचरवृत्त्यभावान्न दृढ़ः प्रेमबन्ध इति भावः । ननु शपथ पूर्वकं ब्रवीमि, यदि मम राधां विना अन्यत्रासक्तिगन्धोऽप्यस्तीति चेत् ? सत्यमित्याह वयसा कालेन कालं प्राप्य खे रजांसिव सहैव वान्ति गच्छन्ति सङ्गस्तेन नास्तीति भावः । तथापि श्रुतयः सर्वत्र श्रूयमाणास्त श्रीराधाविषय महा प्रगाढ़ प्रेमबन्धा अतन्निरसनेनैव फलन्ति निष्पद्यन्ते, वहिरपि अन्य संसर्ग श्चेन्न भवति, तदानुराग प्रसिद्धिः सत्येति ज्ञायत इति भावः । भवान्नियतघनो यैरनुरागैः प्राण सर्वस्य भूत राधिका सङ्गरूप धनं यै नियतमावश्यकं भवतीत्यर्थः अतन्निरसने सतिफलन्तीति वा, त भवतो न प्राप्नुवतः प्रियवस्तु सङ्ग निधनं मरणमेव यैरित्यर्थः ॥४१॥

श्रीराधाकृष्ण निभृत परिजन भाव का अति दौर्लभ्य को श्रुतिरूपा कहती है—द्यु पतयः, स्वर्गादि लोक पतिगण, स्वर्गोत्तरस्थित ब्रह्मादि लोक पतिगण निज सङ्कल्पमात्र से ही जिस किसी के हृदय में आविर्भाव होने में समर्थ हैं, प्रकाश शील समस्त पुरुषार्थ को करतलगत करने वाली भगवद् भक्ति है, उन के स्वामिगण उस भक्ति को भी प्रदान

करने में समर्थ व्यक्तिगण, भी आपका श्रीराधाके साथ नित्य प्रोन्मद विचित्र वृन्दावन कुञ्ज विहार का अन्त सामीप्य को भी प्राप्त करने में असमर्थ हैं, राधासखी भाव से भी प्राप्त नहीं किए अन्य भावसे तो प्राप्त करने की सम्भवना ही नहीं है, आप भी उनसब के सामीप्य में नहीं आते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड में अवस्थित नारायण स्वरूप होकर भी सामीप्य प्राप्त नहीं होते हैं, उसमें हेतु है कि अनन्त ब्रह्म, अनन्त रूप से ही अपना और आपका भी परिज्ञान होता है, अतएव आप शुद्ध गोपाल विग्रह होने के कारण उसमें ही अहं अभिमानी है। शुद्ध महाप्रेम रूप शक्ति के साथ विलास परायण होने के कारण ब्रह्म साक्षात्कारियों के समीप में कसे दिखाई देंगे। अच्छा, आप सावरण होकर भी अः श्रीहरि, उनके साथ लक्ष्मी, अनुरूप को वरण करती है, आप कृष्णचन्द्र को ही वरण करती है, वे सब मिश्र भाव युक्त गोपगण हैं, वे सब भी आप के सामीप्य प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं, आपके सङ्ग को वरण करके भी शुद्ध भावाक्रान्त होकर भी गोपीगण आपके सामीप्य प्राप्त करने मे असफल हैं, किन्तु आकाश में जिस प्रकार धूलीकण रहते हैं, जिस प्रकार आकाश के साथ रजः कण का स्पर्श नहीं होता है, उस प्रकार ही आपके साथ उन सबका स्पर्श होता है। काल भी आपका सम्बन्ध प्राप्त करने मे असमर्थ है। जहाँ पर आपमें हम सब श्रुतिगण अतत् निरसन के द्वारा ही सेवा कार्य निष्पादन करते हैं, किन्तु आज तक भी वह निष्पन्न नही हुआ है, तत्त्वज्ञान संस्कार वा मूलतः सब प्रकार से नाश होना ही उसकी निष्पत्ति है॥

नित्यगोपी कहती है—दीव्यन्त, जो सब पति वनितागण के साथ क्रीड़ा करते रहते हैं, वे सब ललना भी आपका परम ऐकान्तिक प्रेम को नहीं जानती है, द्यौः सुखरूप क्रीड़ा परायण पति हो, ऐसी सङ्ग सङ्गिणी वनितागण भी आपके साथ में रहते हुए भी उस प्रेम को नहीं जान पाती हैं। आप भी अनन्त हैं, और आपकी क्रीड़ा भी अनन्त हैं, ऐसी क्रीड़ा परायणा राधा के साथ निविड़ बन्धन को नहीं जानती हैं, कैसे? आप के अन्तर हृदय में उपस्थित होते हैं, जो पक्षिसमूह उसको भी आवृत करते हैं, श्रीदाम प्रभृति, उन सब के साथ रहते हो, अनन्तर बाहर सदा

श्रीराधा मात्र गोचर न होने के कारण दृढ़ प्रेम बन्धन नहीं होता है। अच्छा तो, मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ, राधा को छोड़कर मेरी आसक्ति का लेश भी अन्यत्र नहीं है? सत्य है, वयसा, कालक्रम से जो सब रज कण वायु के साथ ही चलते रहते हैं, उसके साथ सङ्ग आकाश का नहीं है। तथापि श्रुतिगण सर्वत्र श्रीराधा विषय महाप्रगाढ़ महाप्रेमबन्ध को जानकर अतन्निरसन के द्वारा ही अनुगत होते हैं, वाहर भी यदि अन्य संसर्ग नहीं होता है, तब ही अनुभव सम्भव होगा। उस समय ही जाना जाता है, कि अनुराग प्रसिद्ध सत्य है। आप ही जिस अनुराग का एकमात्र नियत धव हैं, श्रीराधा का सङ्ग वह प्राण सर्वस्व भूत है, उसकी प्राप्ति ही आवश्यक है। अतत् निरसन होने पर ही होता हैं, आपको प्राप्त न होने पर प्रियवस्तु का सङ्ग ही मरण प्रद होता है ॥४१॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनोगतिम् ॥४२॥

सान्वयव्याख्या

श्रीभगवानुवाच—अत (अनन्तरं) एते ब्रह्मणः पुत्राः (श्रीसनकादयः) इति (एवं श्रुत्युक्तं) आत्मानुशासनं (ब्रह्मसम्बन्ध्युपदेशं) आश्रुत्य (आसम्यक् श्रुत्वा) आत्मनः (ब्रह्मणः) गतिं (स्वरूपं) ज्ञात्वा सिद्धाः (सफल मनोरथाः सन्तः सनन्दनं आनर्चुः (समार्चितवन्तः) ॥४२॥

आत्मानुशासन ही वेदस्तुति है,—श्रीभगवान् बोले-अनन्तर ब्रह्म पुत्र श्रीसनक प्रभृति ऋषिगण श्रुत्युक्त उक्त प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश को सम्यक् रूप से श्रवण कर ब्रह्म स्वरूप को अवगत होनेसे सफल मनोरथ होकर श्रीसनन्दन की अर्चना किये थे ॥४२॥

इत्यशेषसमाम्नाय पुराणोपनिषद्रसः
समुद्धृतः पूर्वजातै र्व्योमयानै र्महात्मभिः ॥४३॥

सान्वयव्याख्या

पूर्वजातैः (सर्वज्येष्ठैः) व्योमयानैः (व्योम आकाशं तेन यानं गमनं येषां ते, सर्वत्र अनासक्त्या आकाशचारिभिरित्यर्थः) महात्मभिः (उदार मतिभिः श्रीसनकादिभिः गुरुकृताभ्यः ताभ्यः एव श्रुतिभ्यः) इति (अयं) अशेष समाम्नाय पुराणोपनिषद्रसः (अशेषाणां समाम्नायानां वेदानां पुराणानां उपनिषदां रसः तात्पर्यं) समुद्धृतः (सम्यक् गृहीतः इत्यर्थः)॥४३॥

सर्वपूज्य, सर्वत्र अनासक्ति प्रयुक्त आकाशचारी एवं उदार मति श्रीसनक प्रभृति ऋषिगण, श्रुतिसकल के निकट से समस्त वेद पुराण एवं उपनिषद् का तात्पर्य सम्यक् रूप से ग्रहण किये थे अतएव वेदस्तुति सकल श्रुति पुराणों का रहस्य तात्पर्य है।

आत्मा श्रीकृष्णः सोऽनुशिष्यते अनुरूपतया निरूप्यते यत्र वचसि, अन्यत्र यथा श्रीकृष्णस्य तत्त्वं तदनुरूपं निरूपणं नास्ति, अनुगततया प्रेम पारवश्येन श्रीराधानु वर्त्तितया शासनमिति वा, अनुक्षणं शासनं नियमनं राधयेति वा, "आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः" इत्युक्तेः। समस्तान्य स्वरूपा श्रयत्वात् समस्तान्यप्रेमरसमयावस्थाश्रयत्वाद्वा आततः, राधारस मग्नावस्थास्वरूपमेव धर्मि, अन्ये धर्माः मिमीते परिमित करोत्यन्यत् स्वरूपं स्वगुण रस शक्त्याद्यपेक्षया मातृत्वादुत्तम वस्तु ज्ञातृत्वाद्वा, शुद्ध महाप्रेम रसमय शक्ति विलासा एव सर्वमेवोत्तमाः परमानन्द महासाम्राज्यसाराकरत्वात् तज् ज्ञाता श्रीराधानुरागमग्न रूप एव श्रीकृष्णः। यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।

यच्चास्य सन्ततो भाव स्तस्मादात्मेति गीयते। इत्यस्य चार्थः श्रीराधाप्रिय एव विषयान् यत् प्राप्नोति शब्द स्पर्शादीन् सदा प्राप्नोति, तदेका सक्तत्वात् राधाया कृष्ण विषयस्पर्शादेव विच्छेदेन रसमयस्य करणात्, गृह्णाति च कृष्णोऽपि तानेव, नान्यन्निज पारमैश्वर्यादिकम्, भुङ्क्ते च तानेव, न त्वानन्दान्तरम्। सन्ततो भावः, अविच्छिन्नो राधायामेव प्रेमा। आत्मनो गतिमात्मनः श्रीकृष्णस्यापि गतिं प्राप्यां राधाम् ॥४२—४३॥

आत्मा श्रीकृष्ण ही है, जिस वाणी से वह कृष्ण यथावत् निरूपित होते हैं, अन्यत्र श्रीकृष्ण का तत्त्व जिस प्रकार है, उस प्रकार निरूपण नहीं है, अनुगत रूप से प्रेम पारवश्य से श्रीराधाको अनुवर्त्तन करने कारण ही अनुशासन कहा जाता है। अनुक्षण शासन नियमन श्रीराधा के द्वारा ही होता है, आतत व्यापक एवं मातृत्वात् पोषक गुण सम्पन्नता के कारण हरि को परम आत्मा कहा जाता है, समस्त अन्य स्वरूप का आश्रय होने से, समस्त अन्य प्रेम रसमय अवस्था का आश्रय होने से ही "अतत:" कहा जाता है। राधारस मग्ना वस्थास्वरूप ही धर्मि है अन्य सब ही धर्म है, अन्य स्वरूप को परिमित करने के कारण एवं निजगुण रस शक्त्यादि की अपेक्षा से उत्तमरूप से परिमित करने से, उत्तमवस्तु का ज्ञाता होने के कारण ही श्रीहरि आत्मा कहे जाते हैं, समस्त पदार्थों में शुद्ध महा प्रेम रसमय शक्ति विलास ही सर्वोत्तम है, वह ही परमानन्द महा साम्राज्य सारका आकर है, उसका ज्ञाता भी श्रीराधानुराग मग्न रूप ही श्रीकृष्ण हैं। विषय समूह के प्राप्त ग्रहण, भोग, करने के कारण ही नित्य भाव युक्तको आत्मा कहा जाता है। इसका अर्थ इस प्रकार है, श्रीराधाप्रिय होकर ही शब्दस्पर्शादि विषय को निरन्तर प्राप्त करते हैं, एकमात्र श्रीराधासक्त होने के कारण कृष्ण विषयस्पर्श से ही विच्छेद आविर्भूत होकर श्रीराधा को रसमग्न कर देता है। कृष्ण भी उस विषय समूह को ही ग्रहण करते हैं। निज पारमैश्वर्य्यादि को ग्रहण नहीं करते हैं। भोग भी उसी को करते हैं, आनन्दान्तरको नहीं, अविच्छिन्न श्रीराधा में प्रेम को ही सन्तत भाव कहा जाता है, आत्मा की गति शब्द से, आत्मा श्रीकृष्ण हैं, उनकी भी गति प्राप्य श्रीराधा हैं ।।४२—४३।।

त्वं चैतद् ब्रह्मदायाद श्रद्धयात्मानुशासनम्

धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ।।४४।।

श्रीशुक उवाच—

एवं स ऋषिणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ।

पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ।।४५।।

सान्वयव्याख्या

ब्रह्मदायाद ! (हे ब्रह्म पुत्र नारद !) त्वं च नृणां (मनुष्याणां कामानां भर्जनं वर्जनमिति वा पाठः (निवारणं) एतत् आत्मानुशासनम् श्रद्धया धारयन् कामं (यथेच्छ) गां (पृथ्वीं) पर (परिभ्रम) ॥४४॥

श्रीशुकः उवाच—राजन् आत्मवान् (श्रीभगवन्निष्ठ चित्त इत्यर्थः) पूर्णः (कृत कृत्यः) श्रुतधरः (श्रुतमर्थं मनसि धारयन्) वीरव्रत(नैष्ठिकः) सः मुनिः (श्रीनारदः) एवं ऋषिणा (स्व गुरुणा श्रीनारायणेन मुनिना) आदिष्टं श्रद्धया गृहीत्वा आह (वक्ष्यमाण उवाचेत्यर्थः) ॥४५॥

हे ब्रह्म पुत्र नारद ! मनुष्यगण की काम वासना निवारक यह आत्मानु शासन जीव हितोपदेश सर्वमूल स्वरूप स्वय भगवत् सम्बन्धि उपदेश को श्रद्धा के साथ मुख एवं हृदय में धारण कर यथेच्छ रूप से पृथिवी में परिभ्रमण करो ॥४४॥

श्रीशुकदेव ने कहा—हे राजन ! श्रीभगवन्निष्ठ चित्त कृत कृत्य श्रुतधर नैष्ठिक मुनि श्रीनारद स्व गुरु श्रीनारायण ऋषि के उक्त प्रकार आदेश को श्रद्धा के साथ ग्रहण कर वक्ष्यमाण वाक्य कहे थे ॥४५॥

कामानां भर्जनं श्रीकृष्ण सङ्गादि कामनानां भर्जनं राधैकान्तिक सख्य रस एव निर्भरत्वात् कामानां श्रीकृष्णे भावान्तर कामनानाम् वर्जनमिति पाठान्तरेऽर्थः स एव ॥४४—४५॥

वेद स्तुति काम वासना विनाशक है, काम समूह का भर्जन करती है' श्रीकृष्ण सङ्ग के लिए जो कामना उठती रहती उसको बिनष्ट कर देती है, श्रीराधा के साथ एकान्त सख्य रस ही काम विनाशक है, वह ही निर्भर शील है, श्रीकृष्ण के प्रति भावान्तर की कामना को भी नष्ट करती हैं, 'वर्जन' पाठ से उक्त प्रकार ही अर्थ होता है ॥४४—४५॥

श्रीनारद उवाच—

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामल कीर्त्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥४६॥

सान्वयव्याख्या

श्रीनारदः उवाच-श्रीकृष्णावतारतया श्रीनारायणं नमस्यति-यः सर्व भूतानां अभवाय (संसार निवृत्तये) उशतीः (कमनीयाः यद्वा जगन्मङ्गलाः कलाः (शक्तिः) धत्तेतस्मै अमल कीर्त्तये (अमला सर्वमल विशोधिनी कीर्त्तिः कृपालुत्व पर्यवसायिनी ख्यातिः यस्य तथा भूताय) भगवते (साक्षात् परमेश्वराय कृष्णाय (अशेषैश्वर्य प्रकटनेन सर्व चित्ताकर्षकाय श्रीनन्दनन्दनाय नमः) ॥४६॥

श्रीनारदमुनि कहे थे— जो समस्त प्राणीयों के संसार की निवृत्ति के निमित्त कमनीय शक्ति धारण किए हैं, वह सर्व मल विशोधन कृपालुत्व पर्यवसायिख्यातिविशिष्ट, साक्षात् परमेश्वर, अशेषैश्वर्य प्रकटन द्वारा सर्वचित्ताकर्षक श्रीनन्दनन्दन को नमस्कार करता हूँ। सकल श्रुति श्रीकृष्ण की स्तुति की है, यह जानकर प्रेम के साथ श्रीनारायण को श्रीकृष्णावतार जानकर श्रीनारद मुनि उनको प्रणाम करते हैं, अमल कीर्त्त सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्णरूप का प्रणाम ॥४६॥

नारदः श्रीराधानागरं समस्त भगवत् स्वरूपतया नमति—तस्मै भगवते परम पूर्णतम-भगवत्त्वाय कृष्णाय समस्त भगवत् स्वरूपोत्कृष्ट परमानन्द विग्रहाय श्रृङ्गार रसाधिष्टातृत्वेन श्यामवर्णाय व्रज कामिनी चित्ताकर्षकाय श्रीराधया स्वगुणैराकृष्यमाणाय अमलां विशुद्ध प्रेमरस स्तन्मयी कीर्त्तिर्यस्य, कृष्णो राधया इत्थं विहरतीत्याद्या। य एष सर्व-भूतानामभवाय, न विद्यते कुतोऽपि भयं यस्तादृश विशुद्ध स्व प्रेम विशेषाय उशतीः कमनीयाः कला अवस्था वात्सल्य सख्यादिरसमयी धत्ते कलयति, ता अपि अवस्थान्तरं मिश्र प्रेम रसमयं धारयन्ति, ता अपि स्वरूपान्तराणीत्येवम्। एतेन नारायणोऽपि महा परम्परया कृष्णान्तर्भूत इति ॥४३॥

श्रीनारद,श्रीराधानागर श्रीकृष्ण को समस्त भगवत् स्वरूप जानकर नमस्कार करते हैं। उन भगवान् को प्रणाम, जो परम परिपूर्ण भगवत्त्व युक्त श्रीकृष्ण हैं। वह समस्त भगवत् स्वरूपोत्कृष्ट परमानन्द विग्रह रूप हैं। श्रृङ्गार रस का अधिष्ठाता होने के कारण श्यामवर्ण हैं, व्रज कामिनी के चित्ताकर्षक हैं. श्रीराधा को निज गुणों से आकर्षण करनेवाले को

प्रणाम, उनकी ही अमल, विशुद्ध प्रेम रसमयी कीर्त्ति हैं। श्रीकृष्ण श्रीराधा के साथ इस प्रकार विहार करते हैं। जो सकल प्राणीयों को अभय प्रदान के लिए लीला करते हैं, जिससे सर्वथा भय विदूरित हो जाता है, वह विशुद्ध प्रेम विशेष है, उसको कमनीय कला के द्वारा मानव को शिखाने के लिए ही वात्सल्य सख्यादि रसमयी अवस्था को स्वीकार करते हैं, वे सब भी मिश्र प्रेममय अवस्थान्तर को धारण करती हैं, वे सब भी स्वरूपान्तर ही हैं। इस से नारायण भी महा परम्परा से श्रीकृष्णान्तर्भूत ही हैं ॥४६॥

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥४७॥

(श्रीनारदः) इति (अनेन श्लोकेन) आद्यं ऋषिं श्रीनारायणं) आनम्य महात्मानः तत् शिष्यान् च (अपि आनम्य इत्यर्थः) तत् (श्रीनारायणाश्रमात्) मे (मम) साक्षात् पितुः द्वैपायनस्य आश्रमं अगात् (गतवान्) ॥४७॥

श्रीनारायण ऋषि श्रीकृष्ण का ही अवतार हैं, सुतरां श्रीकृष्ण की स्तुति से श्रीनारायण ऋषि की स्तुति होती है, यह शोचकर श्रीनारद उक्त श्लोक के द्वारा आद्य ऋषि श्रीनारायण को नमस्कार करके उनके शिष्य महात्मागण को नमस्कार करते हैं। पश्चात् आप श्रीनारायणाश्रम से मेरा साक्षात् पिता श्रीव्यास देव के आश्रम को गये थे। 'साक्षात् पिता' शब्द की व्याख्या में श्रीधर स्वामी कहते हैं, अग्निमन्थन करते समय श्रीव्यास देव की वीर्य अरणि में गिरा था, उस को मन्थन करने पर उस से ही श्रीशुक देव का जन्म हुआ, अनेक व्यक्ति ऐसा कहते हैं, किन्तु श्रीब्रह्मवैवर्त्त पुराण में श्रीशुकदेव की जन्म कथा इस प्रकार लिखित है, श्रीशुकदेव श्रीव्यास पत्नी के उदर में बहु वत्सर थे, व्यासदेव उदरस्थ शिशु को बारम्बार प्रार्थना करने पर भी वह गर्भ से भूमिष्ठ नहीं हुआ, परन्तु व्यास देव को कहा, में क्यों बाहर निकलूँगा? निष्क्रमणके साथ ही श्रीभगवद् माया मुझे ग्रास करेगी, यह सुनकर उस के उपदेश से श्रीव्यासदेव द्वारका से श्रीकृष्ण को ले आए। श्रीकृष्ण आकर उसको कहेथे, तुम क्यों मा को

दुःख दे रहे हो : भूमिष्ठ क्यों नहीं होते हो ? यह शुनकर शुकदेव ने कहा यदि आप माया को विदूरित कर दें तब मैं गर्भ से निकल पड़ूंगा, श्रीकृष्ण उसके कथन से सम्मत होने पर शुकदेव गर्भ से निष्क्रान्त होकर प्रव्रज्या अवलम्बन किए थे ।

इत्येवं प्रकारेण आद्यऋषि नारायणमानम्य ॥४७—४८॥

उपरोक्त प्रकार से आद्यऋषि श्रीनारायण को प्रणाम कर श्रीनारद जी श्रीव्यासजी के आश्रम को गये थे ॥४७—४८॥

समाजितो भगवता कृतासन परिग्रहः ।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥४८॥

सान्वयव्याख्या

श्रीनारद भगवता (श्रीव्यासेन) समाजितः (सत्कृतः) कृतासन परिग्रहः (कृतः आसनस्य परिग्रहं येन तथोक्तं च सन्) नारायण मुखात् श्रुतं तत् आत्मानुशासनं तस्मै श्रीव्यासाय वर्णयामास ॥४८॥

श्रीनारद भगवान् श्रीव्यासदेव द्वारा सम्मान प्राप्त कर आसन में उपवेशन किए, अनन्तर श्रीनारायण ऋषि के मुख से श्रुत आत्मानुशासन श्रीव्यास जी को कहे थे ॥४८॥

इत्येतद् वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मन श्चरेत् ॥४९॥

सान्वयव्याख्या

राजन् ! यथा (येन प्रकारेण) चरन्तीभिः (श्रुतिभिः) निर्गुणे अनिर्देश्ये ब्रह्मणि मनः अपि चरेत् प्रविशेत् किमुत श्रुतयः इत्यर्थः) इति एतत् वर्णितं, त्वया यत् (यः) प्रश्नः नः (अस्मान्प्रति) कृतः ॥४९॥

हे राजन् ! जिस प्रकार चरण शील श्रुतियों को अवलम्बन कर मन भी निर्गुण अनिर्देश्य परम ब्रह्म में प्रवेश कर सकता है, उसका वर्णन हुआ है, श्रुतिगण परतत्त्व में प्रविष्ट होने में सर्वथा समर्थ हैं, इस से परिस्फुट हुआ है । आपने जो कुछ पूछा था, उसका उत्तर समाप्त हुआ ॥४९॥

विशुद्ध महाप्रेमास्पदतया श्रीकृष्ण मननं मनो बोधः, चैतन्यं तज्जनो राधासखीजन श्चरेत्,तद्विषये आलिङ्गन दर्शन स्पर्शनादिचेष्टां कुर्यादिति ।।४६।।

श्रीराधासखी जनगण श्रीकृष्ण को विशुद्धमहा प्रेमास्पद मानते हैं, और परिचर्या भी करते हैं। परिचर्या विषय में श्रीकृष्ण को उल्लसित करने के लिए आलिङ्गन दर्शन प्रभृति चेष्टा भी करते रहते हैं ।।४६।।

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेद मनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्ययोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ।।५०।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्द्धे श्रीनारद-नारायण सम्वादे श्रुति स्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।।८७।।

सान्वयव्याख्या

समस्त स्तुत्यर्थं संगृह्य अनुस्मारयति,—यः अस्य (विश्वस्य) आदि-मध्यनिधने (सृष्टिस्थितिलय कर्मसु) उत्प्रेक्षकः यः अव्यक्त जीवेश्वरः (अव्यक्त जीवयोः प्रकृति पुरुषयोः ईश्वरः,) यः इदं (विश्वं) सृष्ट्वा ऋषिणा (जीवेन सह) अनुप्रविश्य पुरः (शरीराणि, तस्य भोगायतनानि इत्यर्थः) चक्रे (निर्मितवान् पुनः) ताः (पुरः) शास्ति (तस्य भोगं दत्त्वा परिपालयति) सुप्तः कुलायं (शरीरं यथा (इव) यं सम्पद्य (प्राप्य) अनुशायी (अनुचरणमूले शेते इति तादृशः, जीवः) अजां (अविद्यां जहाति (त्यजति) कैवल्य निरस्त योनिं (कैवल्येन अप्रच्युत स्वरूपावस्थानेन निरस्ता तिरस्कृता योनिः मूल कारणं माया येन तथोक्तं अभयं (भवभय निवर्त्तकं) तं हरिं अजस्रं (सदा) ध्यायेत् ।।५०।।

श्रीशुकदेव समस्त श्रुतिस्तुत्यर्थं को संक्षिप्त रूप से राजा श्रीपरीक्षित को श्रवण करारहे हैं, जो इस विश्व के सृष्टि, स्तिति, प्रलय कर्म का आलोचक हैं, जो प्रकृति पुरुष का ईश्वर हैं, जो विश्व को निम्र्माण कर

उस में जीव के साथ अनुप्रविष्ट होते हैं, शरीर निर्माण के अनन्तर जीवको भोग प्रदान द्वारा पालन करते हैं एवं सुप्त व्यक्ति जिस प्रकार निज शरीर का अभिमान त्याग करता है, उस प्रकार जिनको प्राप्त कर श्रीचरण मूलाश्रयी जीव अविद्या को परित्याग करता है, अखण्ड स्वरूपध्यान द्वारा माया सम्बन्ध रहित भवभय निवर्त्तक श्रीहरि का नित ध्यान करना आवश्यक है ॥५०॥

भगवदिच्छा पूर्वक सृष्टि विषय में प्रमाण श्रुति—

(१) स ऐक्षत "आपने आलोचना की, आलोचकत्व कहने से निमित्त कारण का निर्देश हुआ, आदिमध्य निधने" जन्म पालन अन्त रूप कर्म में जो वर्त्तमान है, इस कथन से उपादान कारण का निर्देश हुआ, अतएव अभिन्न निमित्त उपादान जानना होगा। प्रकृति पुरुष में निमित्त उपादान प्रसिद्ध है ? "यः" अव्यक्त जीवेश्वर, प्रकृति पुरुष उनसे उत्पन्न हैं, अतएव मूल कारण आप हैं, जो अव्यक्त एवं जीवका ईश्वर हैं, अनुप्रवेश एवं नियमन का प्रदर्शन करते हैं, "यः सृष्ट्वा इदम्" पूर्वोक्त प्रकार से सृजन कर, जिस के लिए सृजन किया "ऋषिणा" उस जीव के साथ 'अनुप्रविश्य' अनुप्रविष्ट होकर 'पुर' जीविका भोगायतन शरीर को 'चक्रे' निर्माण किया एवं शास्ति भोग प्रदान से पालन भी किया, उपासक को कैवल्य दान करते हैं, जो जीव उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम करता है, वह माया को परित्याग करने में समर्थ होता है।

(१) नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्,तम् ईश्वराणाम् परमं महेश्वरं तद् दैवतानां परमम् तु दैवतं, तम् आत्मस्थं येतु पश्यन्ति धीराः, तेषां शान्तिः शाश्वती: नेतरेषाम् जो नित्य का नित्य चेतन का चेतन, अनेक के मध्य में एक, सर्व कामप्रद, ईश्वरों का महेश्वर,परमदैवत हैं,जो सब धीरव्यक्ति उनको निजबुद्धि में देखते हैं, वे सब चिरशान्ति का अधिकारी होते हैं, अपर नहीं ॥

जीवरूप अनुप्रविष्ट होने की श्रुति—आत्मा एव इदं अग्र आसीत् पुरुष विधः सः अनुवीक्ष्य अन्यत् आत्मन, अपश्यत्, सः अहम् अस्मि इति अग्रे व्याहरत् ततोऽहम् नाम अभवत्, तस्मात् अपि एषहि आमन्त्रितोऽहम् अयम्

इति एव अग्र उक्त्वा अथ अन्यत् नाम प्रब्रूत। सृष्टि वा प्रथम कार्य पुरुषाकार जीवात्मा, अनन्तर चारों ओर अपने को देखकर मैं यह कहता हूँ, इसलिए अहं नाम हुआ, इस लिए कोई पूछने पर पहले मैं, कहकर दूसरा कुछ कहता हूँ, तुम कौन हो ? उत्तर 'अहम् अमुकः अस्मि' मैं अमुक हूँ।

जीवन्मुक्त व्यक्ति निज शरीर को नहीं देखता है, श्रुति (१) प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद न अन्तरम् एव अयं पुरुष प्राज्ञेन आत्मना संपरिष्वक्त न वाह्यं किञ्चन वेद न अन्तरम्॥

सम्भोग के समय प्रिय कामिनी के साथ आलिङ्गित होने पर जिस प्रकार वाहर का अन्तर का ज्ञान नहीं रहता है, उस प्रकार पुरुष जब सुषुप्ति साक्षी आत्मा के साथ एकीभूत होता है, तब वाह्य अन्तर ज्ञान नहीं रहता है, स्वामिचरण कहते हैं—

सर्वश्रुति शिरोरत्न नीराजित पदाम्बुजम्
भोग योगप्रदं वन्दे माधवं कर्मिनम्रयोः॥

सकल श्रुति के मुकुटस्थित रत्न प्रदीप द्वारा जिनके चरण कमल विराजित है, कर्मियों को भोगप्रद, भक्तों को योगप्रद उन माधव की वन्दना करता हूँ॥

श्रुतिभिः स्तुतं गोपीभिश्च नित्याभिः केवल रसमयत्वेन वर्णितं श्रीकृष्णं सर्वस्य परमोत्कृष्ट तत् प्रेम सुखार्थिनो ध्येयत्वोपन्यस्यति श्रीशुकः य इति। तं हरिं ध्यायेत्, मनोहरं समस्त शास्त्र मर्यादा हारिण वा, योऽस्य विश्वस्य आदौ सृष्टेः पूर्वं मध्ये सृष्ट्यनन्तरं निधने प्रलये सति उत एव स्व प्रेम भावः प्रेक्षकः कस्य प्रेमाविर्भूतम्, कस्य वा कियदाविर्भूतम् इत्येवं य एव व्यक्तानां स्वीय जीवानामीश्वरः, नतु नारायणस्य तत्रे शितृत्वम्, य एव इदं स्वभाव विशिष्टं शरीर जातं सृष्ट्वा ऋषिणा स्वरस तत्त्वज्ञेन रूपेण तत् प्रविश्य ताः पुरोऽव्यक्त भावानि शरीराणि शास्ति शिक्षयति निज भावमित्यर्थः। यं च राधारसाविष्ट स्वरूपं हरिं सम्पद्य सम्यक् प्राप्य जहात्यजां निरविद्यो भवति, निर्मायो वा। अनुशयी तद रसैक वासनावान् सन्। यथा सुषुप्तः कुलायं शरीरं त्यजति, तदभिमान

रहितो भवति, तथा मायिक पाञ्चभौतिकदेहे अभिमानंत्यक्त्वा तद्धर्मानभिभूत: श्रीराधानुचरीभूत शरीराहंमानेनैव महाप्रेमबन्धन श्चरतीत्यर्थ:। हरिं कथम्भूतम्? कैवल्येन सा स्तान्यरसत्यागेन केवल राधासङ्गकरसाविष्टत्वेनेत्यर्थ:। निरस्ता योनिरभिव्यक्ति स्थानान्तर येन, राधा रसावेशाद् विषयान्तरादर्शनेन प्रियान्तरङ्ग कारणाभावादिति ॥५८

श्रीकृष्णरसरहस्यं परमं मे बुभूत्सते
ते मत्कृतां श्रुतिस्तुतिमधुव्याख्यां विलोकन्ताम् ॥

इति श्रीराधारससुधानिध्यादिग्रन्थरचनपरायण श्रीमत परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमदन गोपाल पदारविन्दमधुप श्रीश्रील प्रबोधानन्द सरस्वती गोस्वामी पाद विरचिता श्री श्रुतिस्तुति व्याख्या सम्पूर्णा ॥

श्रुतियां ने जिन की, स्तुति की और नित्य गोपियों ने भी उन का ही केवल रसमय से ही वर्णन किया है, श्रीशुकदेव ने सर्वोत्कृष्ठ रस कृष्ण प्रेम सुख प्राप्ति के लिए उन श्रीकृष्ण का भजन विधान ही किया है, विशेष रूप से श्रीशुकोक्ति द्वारा उस का प्रदर्शन करते हैं—य इति, उन श्रीहरि का ध्यान करे, हरि परम मनोहर हैं, और समस्त शास्त्र मर्यादा को हरण कर ममत्व से हृदय को भर देते हैं, जो हरि, इस विश्व के आदि में सृष्टि के पहले, मध्य में निधन में प्रलय में सृष्टि के अनन्तर प्रलय होने पर जो लोक उनके प्रति प्रेम करता है, उसका प्रेक्षक हैं, किसका प्रेम आविर्भूत हुआ है, किस का प्रेम आविर्भूत नहीं हुआ है, किसका किस परिमाण प्रेम का आविर्भाव हुआ है, इस प्रकार समीक्षा करते हैं, जो व्यक्त समस्त जीवों का ईश्वर हैं। नारायण का कर्त्तृत्व उन पर नहीं हैं, जो उस प्रकार स्वभाव विशिष्ट शरीरको सृजन करनेके पश्चात् स्वरसतत्त्वज्ञ रूप से उस में प्रवेश कर अव्यक्त भावों की शिक्षा प्रदान करते हैं, निज भाव विषयक शिक्षा प्रदान करते हैं, जिस राधा रसाविष्ट हरि को सम्यक् रूप से प्राप्त कर अविद्या शून्य, ममता शून्य जीव हो जाता है, कारण वह अनुशयी होता है, श्रीकृष्ण सुखैक वासनावान वह हो जाता हैं। जिस प्रकार प्रतिदिन सुषुप्ति में जीव, शरीर को त्याग

करता है, अभिमान रहित होता है, उस प्रकार ही, मायिक पाञ्चभौतिक देह का अभिमान को छोड़कर शरीर धर्म से अभिभूत न होकर श्रीराधानुचरीभूत शरीर का अभिमान प्राप्तकर उससे महाप्रेम बन्धन का व्यवहार करता है। हरि किस प्रकार हैं? कैवल्य रूप हैं, समस्त अन्य रसको छोड़कर केवल राधासङ्ग रस में सदा आविष्ट हैं। उस से ही अन्यत्र अभिव्यक्त होने की इच्छा भी विदूरित हो जाती है, श्रीराधा रसावेश से विषयान्तर का दर्शन होता ही नहीं है, अतएव प्रियान्तर का प्रसङ्गके लिए कारण की विद्यमानता सदा नहीं रहती है ।।५०।।

जो लोक श्रीकृष्ण परमरस रहस्यको पुनः पुनः अवगत होने के इच्छुक हैं, वह व्यक्ति मेरी श्रुतिस्तुति मधु व्याख्या को अवलोकन करे ।

इति श्रीराधारससुधानिध्यादिग्रन्थप्रणयनप्रवीण श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्रीमदनगोपालपादारविन्द मधुपश्रीश्रील प्रबोधानन्द सरस्वती गोस्वामि पाद विरचित श्रीश्रुतिस्तुति व्याख्या सम्पूर्णा ।।

चन्द्ररन्ध्रग्रहेरामे शाके शुभेहरेर्दिने
वैशाखे विमले पक्षे चतुर्दश्यां भृगोर्दिने
गान्धर्वादास्यलुब्धेन हरिदासेन शास्त्रिणा
श्रुतिस्तुतिमिताव्याख्या विनोदेन कृतामया ।।

❋ श्रीकृष्णायनमः ❋

श्रीवृन्दावन कालियदह निवासी श्रीहरिदासशास्त्रीकृतश्रीमद्भागवतस्थ सप्ताशीतितमाध्याय की सान्वय भाषाविवृति समाप्ता ।।
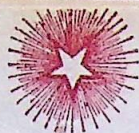
श्रीहरिदासशास्त्री सम्पादिता ग्रन्थावली

१। वेदान्तदर्शनम् "भागवतभाष्योपेतम्"	६०,००
२। श्रीनृसिंह चतुर्दशी,	२.००
३। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	४.००
४। श्रीगौरगोविन्दार्चन पद्धति	३.५०
५। श्रीराधाकृष्णार्चन द्वीपिका	२.००
६-७-८। श्रीगोविन्दलीलामृतम्	८०.५०
९। ऐश्वर्यकादम्बिनी,	५.००
१०। संकल्पकल्पद्रुम	५.००
११। चतुःश्लोकी भाष्यम् १२। श्रीकृष्णभजनामृत	५.००
१३। श्रीप्रेमसम्पुट,	५.००
१४। भगवद्भक्तिसार समुच्चय	५.००
१५। व्रजरीतिचिन्तामणि,	५.००
१६। श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	१.५०
१७। श्रीराधारससुधानिधि (मूल,)	१.००
१८। ,, (सानुवाद)	५४.००
१९। श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश,	६.००
२०। हरिभक्तिसारसंग्रह	१५.००
२१। श्रुतिस्तुति व्याख्या,	२०.००
२२। श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र	१.००
२३। धर्मसंग्रह,	४.००
२४। श्रीचैतन्य सूक्तिसुधाकर	४.००
२५। सनत्कुमार संहिता,	२.५०
२६। श्रीनामामृतसमुद्र	०.५०
२७। रासप्रबन्ध,	५.००

प्रकाशित ग्रन्थसंख्या —६३